अद्वितीय अपूर्व अद्भुत ग्रंथरत्न

वैराग्य मार्तण्ड



वीतराग परमहंस परिव्राजक
स्वामी आत्मानंद जी महाराज



[अद्वितीय अपूर्व अद्‌भुत ग्रन्थरत्न]

वैराग्य-मार्तण्ड

लेखक

वीतराग परमहंस परिव्राजक
श्री स्वामी आत्मानन्दजी महाराज

प्रकाशिका—

श्रीमती गुलाबो देवी

[धर्मपत्नी श्री छोटनराय]

ग्राम–तमलपूरा

पो० आ०–मुहम्मदाबाद-यूसुफपुर

जनपद–गाजीपुर

उत्तर-प्रदेश (भारत)

सं० २०३० प्रथम संस्करण ४२००

मूल्य : १२ रुपया

पुस्तक मिलने का पता—

श्री सुधाकर चतुर्वेदी (सहायक अध्यापक)

उच्चतर माध्यमिक विद्यालय-मुहम्मदाबाद

पो० आ०–मुहम्मदाबाद-यूसुफपुर

जनपद–गाजीपुर

उत्तर-प्रदेश (भारत)

मुद्रक—

हरि प्रसाद

श्री हरि प्रेस

सी० ६/७३ बागबरियार सिंह,

वाराणसी ।

॥ ॐ तत्सद्गुरवेनमः ॥

यस्य पादप्रभाध्यस्तः प्रपञ्चोभाति भासुरः ।
तमहं सद्गुरुं वन्दे स्वतंत्रानन्दरूपिणम् ॥



• प्रातः स्मरणीय •

श्रोत्रिय ब्रह्मविद्वरिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य
अनन्त श्री विभूषित स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

ॐ

॥ समर्पण ॥

जिनकी सत्तास्फूर्ति से अविद्याजनित जगज्जीवेश्वरादि समस्त विश्वप्रपञ्च मृगजलवत् रज्जुसर्पवत् शुक्तिरजतवत् भासित हो रहा है उन सर्वाधिष्ठान-भूत सर्वान्तर सर्वात्मा सर्वसुहृद सर्वस्वरूप महाविराटी सर्वसाक्षी स्वात्मा-राम स्वात्मक्रीड स्वात्ममिथुन स्वात्मतुष्ट स्वात्मतृप्त स्वात्मनिष्ठ स्वात्म-प्रतिष्ठ नित्यशुद्धबुद्धमुक्त माया के कलङ्कलेश से शून्य निष्कलङ्क निरञ्जन निष्क्रिय निर्विकार निराकार निर्विशेष निःस्पृह निरपेक्ष निष्किञ्चन निर्विकल्प सम शान्त आप्तकाम पूर्णकाम अनिर्वचनीया स्वसंवेद्या सर्वाश्चर्यमयी शोकमोहातीता ब्रह्मभूता ब्राह्मीअवस्थारूप स्वमहिमा से महिमान्वित सगुणनिर्गुण उभयरूप सगुणनिर्गुण उभयातीत नित्योदित स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाश सर्वतन्त्र-स्वतंत्र ब्रह्ममूर्ति स्वतंत्रानन्दस्वरूप सद्गुरु-देव के युगलपादपद्मों में श्रुतिस्मृति-पुराणेतिहासादि शास्त्रवाटिका से इतस्ततः संकलित यह वैराग्य-मार्तण्ड रूप दिव्य शब्द-पुष्पाञ्जलि सादरसप्रेम सर्वतः प्रणिपातपूर्वक समर्पित



ॐ गुरुपरमात्मने नमः

विद्यावारिधि स्वामी सर्वदानन्द
[वेदान्ताचार्य, पी-एच० डी०]

श्री सच्चिदानन्द आश्रम,
जे० १/५६, प्रकाशवीर मन्दिर,
दारानगर, वाराणसी

॥ अथ वैराग्यमार्तण्डसम्मतिः ॥

ॐ श्रीसद्गुरवे नित्यं नमो नमो हि भूरिशः ।
ग्रन्थो वैराग्यमार्तण्डो दृष्टो मया विचारतः ॥ १ ॥
आत्मानन्दः स्वरूपेण नाम्ना चापि यथा तथा ।
रचयितास्य विख्यातो ज्ञाननिष्ठो यतीश्वरः ॥ २ ॥
अस्मिन् विभिन्नशास्त्राणां वैराग्यवाक्यसङ्ग्रहः ।
पुनरुक्तेर्न दोषोस्ति यतो दाढर्याय सङ्कलः ॥ ६ ॥
आत्मनिष्ठाविरुद्धस्तु देहाध्यासः प्रधानतः ।
देहाध्यासे निवृत्ते हि सर्वेऽध्यासा विनिर्गताः ॥ ४ ॥
यावद् बुद्धिरहं देहे यावच्च मम भावना ।
भोक्तृत्वभावना तावत् संभाव्यते प्रमातरि ॥ ५ ॥
दारवित्तादिलोकानां जायते तत एषणा ।
देहाध्यासः प्रधानेन निवार्यस्तेन यत्नतः ॥ ६ ॥
देहाध्यासनिवृत्तेस्तु वर्णनं प्रथमं कृतम् ।
वित्तैषणानिवृत्तिस्तु देहाध्यासनिवृत्तये ॥ ७ ॥
दारैषणानिवृत्तिश्च हेया लोकैषणा तथा ।
हेतोरस्यान्न संदेहः कर्तव्यः क्रमवर्णने ॥ ८ ॥
देहाध्यासनिवृत्त्यर्थं सर्वैषणाविवर्जनम् ।

साध्यसाधनभावेन क्रमोऽयमत्र दर्शितः ॥ ९ ॥
दारैषणानिवृत्त्यर्थं नारीनिन्दा प्रदर्शिता ।
शास्त्रेष्विति न सिद्धान्तः केषाञ्चिच्च सुसम्मतः ॥१०॥
शङ्केयं नैव कर्तव्या भिन्नाधिकारिभेदतः ।
संन्यासिनां विरक्तानां सर्वमेतद्धि भूषणम् ॥११॥
'तपसा ब्रह्मचर्येण विद्ययाऽमृतमश्नुते' ।
श्रुतेरयं समुद्घोषः सर्वथैवं समर्थकः ॥१२॥
अथवा नैव निन्दितुर्निन्दैवाभिमता क्वचित् ।
स्वपक्षे दृढतैवेष्टा सर्वेषां नात्र संशयः ॥१३॥
माता भोजनदात्री तु पौष्टिकं न ददाति सा ।
रुग्णाय शिशवे क्वाऽपि तदग्रे तं च निन्दति ॥१४॥
तत्र नैव तु निन्दा हि तस्या अस्ति प्रयोजनम् ।
तथात्रापि च निन्द्यानां निन्दा नैव प्रयोजनम् ॥१५॥
अतो देहादिनिन्दाया आत्मनिष्ठा प्रयोजनम् ।
सम्पाद्या सैव सर्वत्र सद्यो मुक्तिफलप्रदा ॥१६॥
नाहं देहो न मे देहो ब्रह्मैवाहं हि केवलः ।
श्रुतिशास्त्रपुराणेषु निष्ठोक्तेयं च मुक्तिदा ॥१७॥
आत्मज्ञानं सदा ज्ञेयं साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति'श्च 'नान्यः पन्था' इति श्रुतेः ॥१८॥
अथवा सर्वशास्त्रेषु रूपकोऽयं प्रदर्शितः ।
पुरुषः सच्चिदानन्दो नारी प्रकृतिरुच्यते ॥१९॥
प्रकृतिः कल्पिता ज्ञेया निपुणा सर्वमोहने ।
प्रकृतिवशगो जीवः कोहं कथं च विस्मृतः ॥२०॥
आत्मज्ञानप्रभावेण जीवः सन् प्रकृतेः परः ।
प्रकृतिबन्धनं हित्वा मुक्तो जीवो न संशयः ॥२१॥
जीवस्य बन्धने हेतुः प्रकृतिरेव केवला ।
प्रकृतिर्निन्दिता तेन नारी शब्देन सर्वथा ॥२२॥
पारमार्थिकदृष्ट्या च सर्वं ब्रह्मस्वरूपतः ।

नैव स्त्री न पुमानेष प्रकृतिर्नैव मोहिका ॥२३॥
नैव स्तुतिर्न निन्दैव ग्रहणं नैव हेयता ।
सर्वदा सच्चिदानन्दो बद्धता त च मुक्तिता ॥२४॥
'सर्वं खल्विद'मित्याह श्रीमद्भगवती श्रुतिः ।
'नेह नानास्ति' शब्देन ब्रह्मभिन्नं निवारितम् ॥२५॥
व्यावहारिकदृष्टचा तु ब्रह्मज्ञानोपलब्धये ।
विवेकादिसुसम्पन्नो जिज्ञासुर्गुरुसेवकः ॥२६॥
श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठश्च सद्गुरुः परमेश्वरः ।
सेव्यो मुमुक्षुणा नित्यं ब्रह्मज्ञानं यतस्ततः ॥२७॥
इदं ज्ञानं यदा लब्धं सर्वोहं ब्रह्म केवलः ।
सच्चिदानन्दस्वरूपश्च मतो भिन्नो न कश्चन ॥२८॥
घटाकाशो मठाकाशो महाकाशस्तथैव च ।
आकाश एव सर्वत्र नामभेदउपाधितः ॥२९॥
जीव ईशस्तथा माया बन्धो मोक्षोभिन्नता ।
अस्ति भाति प्रियं सर्वं ब्रह्मैव सचराचरम् ॥३०॥
सुखदुःखात्मकस्यापि भासकोहं सर्वदा ।
सर्वत्र सर्वरूपेण सच्चिदानन्दलक्षणः ॥३१॥

१४–१–७४ स्वामी सर्वदानन्दः

दो शब्द

लेखनी श्री स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न 'वैराग्य-मार्तण्ड' पर दो शब्द लिखकर धन्य हो गई। इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़कर नेत्र कृतकृत्य हो गए। इस ग्रन्थसागर में सीपी की खोज में एक गोताखोर की भाँति डुबकी लगाया, परन्तु इस अथाह ग्रन्थसागर में मुझ-जैसे पामर के लिए पार पाना अति कठिन जान पड़ा। फिर भी अपनी अल्प बुद्धि से जो कुछ भी पाया, वह अपनी समझ से बहुमूल्य ही है। इस ग्रन्थ में लेखक ने चार प्रकरण तथा अठारह अध्याय में ग्रन्थ का विभाजन करके जो चित्र खींचा है, वह इस कामिनी और काञ्चन के दीवाने संसार के लिए निश्चय ही पथप्रदर्शक बनेगा। यह ग्रन्थ मुमुक्षुओं के लिए तो संजीवनी बूटी की भाँति उपयोगी होगा ही, साथ ही साथ आज के युग के कामिनी और कांचन के भक्तों की आँख भी खोलने में समर्थ होगा। आज देश में जो अनाचार, अत्याचार और भ्रष्टाचार फैला हुआ है, उसे भी कम करने में इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिलेगी। प्रत्येक प्रकरण के पूर्व ग्रन्थकार ने अपने भाव व्यक्त कर प्रकरण में प्रवेश का द्वार मुक्त कर दिया है। देहाध्यास, दारैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—इन चारों दोषों के निवृत्ति प्रकरण के माध्यम से जो सरस, सजीव और मनोमोहक चित्र खींचा गया है उसके बार-बार चिन्तन, मनन और स्वाध्याय से मुमुक्षुओं को अपने अज्ञान-आवरण को हटाने में पर्याप्त सहयोग मिलेगा। इस ग्रन्थ के पढ़ने पर अज्ञान-आवरण हट जाता है, जन्म-जन्मान्तर की पड़ी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं और यह स्पष्ट ज्ञात होने लगता है कि वास्तविक सुख इस मल-मूत्र और हड्डी-मांस से युक्त घृणित शरीर में नहीं है, बल्कि उस सच्चिदानन्द परमात्मा के चिन्तन-मनन में है। इस ग्रन्थ रत्न में–

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'
'असद्रूपो यथा स्वप्न'
'सत हरिभजन जगत् सब सपना'

का भाव उसी प्रकार पिरोया गया है जैसे एक कुशल माली माले में फूल पिरोता है।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने देहाध्यास, वित्तैषणा एवं लोकैषणा आदि का निष्पक्ष, हृदयस्पर्शी तथा मार्मिक चित्रण किया है। साथ ही वैराग्यार्थ दारैषणा-

दोष निवृत्तिप्रकरण में तुलसी, वृन्दा, मदालसा, उमा, दुर्गा, मोहिनी, पंच-चूडा, अहिल्या आदि अनेक माताओं तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ईश्वरों, राम, कृष्ण आदि अवतारों और अनेकानेक त्रिकालज्ञ ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न ऋषि-महर्षियों की अद्भुत वाणियों को प्रमाणार्थ रखकर अपनी निष्पक्षता को बार-बार सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया है। मैं और अधिक क्या लिखूँ, भावों की गहराई और शब्दों की गरिमा का अनुमान तो स्वयं पाठक ही लगाएँगे। इस ग्रन्थ के बारे में और अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाना होगा।

श्री स्वामीजी के प्रति शुद्ध सात्त्विक श्रद्धा एवं निष्ठा से सम्पन्न अति भावुक तथा धार्मिक प्रवृत्तिवाले [जनपद-गाजीपुर, तहसील-मुहम्मदाबाद, ग्राम-तमलपूरा, निवासी] श्री छोटनराय की धर्मपत्नी श्रीमती गुलाबीदेवी धन्य हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के पूर्ण होते ही भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा विशेष से सहर्ष इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार वहन किया। धन्य हैं वे माता-पिता, धन्य है वह नगरी, जहाँ ऐसे धर्मनिष्ठ भावुक एवं श्रीभूषण पैदा हुए। धन्यातिधन्य तो है वह माता, जिसके स्वच्छ हृदय छितिज में श्रद्धा-भक्ति का अरुणिम सूर्य जनकल्याण की भावना से उदित हो, मुमुक्षुरूपी आकाश को प्रकाशमान कर सका। इस 'वैराग्य-मार्तण्ड' के प्रकाशन से प्रकाशित होता रहे इस परम पुनीत माता का हृदय, जिससे गार्हस्थ्य-जीवनरूपी चमन महक उठे।

श्री गिरिजाशंकर राय 'गिरिजेश' [ग्राम–उधरनपुर, डेढ़गाँवा, गाजीपुर] साहित्य-सम्पादक [दैनिक गाण्डीव, वाराणसी] को भी मैं बार-बार धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थरत्न को अपनी संरक्षता में रखकर अपने निकटतम सम्पर्कीय प्रेस से उचित मूल्य पर सहर्ष निकलवाने का स्तुत्य प्रयास किया।

इन शब्दों के साथ मैं श्री ठाकुर प्रसाद उपाध्याय (अहिरौली), श्री रवीन्द्रनाथ राय, श्री सुधाकर चतुर्वेदी, श्री मोतीचन्द राय, श्री फतेहनारायण राय, (तमलपूरा) तथा अन्य भावुक एवं श्रद्धावान् भक्तों का आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय एवं श्रम इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ दिया।

विनीत–

उदयनारायण राय 'दीवाना'

ग्राम–तमलपूरा, पो०–मुहम्मदाबाद-यूसुफपुर
जनपद–गाजीपुर (उत्तर-प्रदेश)

॥ ॐ श्रीगणेशायनमः ॥

भूमिका

नमामि गोविन्दमनन्तमूर्तिं शक्रादिदेवार्चितपादपद्मम् ।
योगेश्वरं योगविदां शरण्यं योगप्रदं योगिभिरर्चनीयम् ॥

विश्व के समस्त प्राणी अपनी समस्त चेष्टाओं के द्वारा जिस नित्य सुख-शान्ति की प्रबल जिज्ञासा से इन बाह्य असत् मृगजलवत् प्रतीयमान विषयभोगों में अहर्निश श्रम कर रहे हैं उनसे उनकी अभिलषित सुख-शान्ति की पिपासा कभी भी शान्त नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे मिथ्या मरुमरीचिका के पीछे उसे वास्तविक जल मानकर स्वपिपासा की शान्ति के लिए दौड़ने वाले प्यास से अतिव्याकुल मृगों को शान्ति नहीं प्राप्त हो पाती। इतना ही नहीं कि जलाभाव में शान्ति नहीं मिल पाती, अपितु वह उनके सर्वनाश का कारण भी बन जाता है, वैसे ही

"मूर्खो देहाद्यहं बुद्धिः"

जो देहाभिमानी मूढ़ पुरुष अपने अज्ञानजनित आध्यासिक सम्बन्ध से देह में तादात्म्यभाव को प्राप्त हो, इन मायिक स्वप्नतुल्य आभासिक नाम-रूपात्मक दृश्यप्रपञ्च को सत्य मानकर इन तुच्छ अस्तित्वशून्य विषयों के पीछे पागल होकर बड़ी तेजी से दौड़ रहे हैं ये मृगतृष्णा की भाँति आभासमात्र मोहक विषय कभी भी किसी को वास्तविक सुख-शान्ति नहीं प्रदान कर सकते, क्योंकि वस्तुतः इनकी सत्ता ही नहीं है। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में स्वाप्निक आभासमात्र विषय स्वप्नद्रस्टा के लिए अनुभूत होने पर भी, वज्रवत् सत्य प्रतीत होने पर भी, व्यवहारक्षम होने पर भी, जाग्रत् काल में सर्वथा अस्तित्वशून्य हो बाधित हो जाता है तथा यह अति आश्चर्य है कि नाना प्रकार के चहल-पहल एवं कोलाहल से पूर्ण अति विस्तृत स्वप्न का महान् संसार पलक खोलते-खोलते क्षणमात्र में ही कहाँ चला जाता, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए वे अस्तित्वशून्य स्वप्नकाल के प्रतीयमान मिथ्या विषय भला किसको सुखी कर सकते हैं ? क्योंकि जो स्वयं है ही नहीं, उससे सुखी कौन हो सकता है ? वैसे ही यह

"अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन्"

प्रौढ़ व्यवहार का विषयभूत सर्वानुभूत विषय भी अज्ञान से जाग्रत् काल में सत्यप्रतीत होने पर भी ज्ञान से बाधित हो जाता है। इसलिए—

"असद्रूपो यथा स्वप्न"

स्वप्नवत् असत् इस जगत् से कभी भी किसी को कदापि शान्ति नहीं मिल सकती। तब भला,

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'

जो विषयों के पीछे अशान्त हैं उनको,

'यो वै भूमा तत्सुखम्'

"सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वाऽऽनन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्"

सच्चिदानन्दस्वरूप भूमा आत्मसुख कैसे प्राप्त हो सकता है? इस मिथ्या संसार के सत्यत्वभास में हेतु केवल देह में अहं-मम का मिथ्या अध्यास ही है और यह अहंममात्मक आध्यासिक बुद्धि भी स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण है। यद्यपि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों में अहं के अर्थरूप से सर्वदा वर्तमान आत्मा ही सबका अपना पारमार्थिक स्वरूप हैं, परन्तु अज्ञान-शक्ति से उसकी विस्मृति हो जाने के कारण अविद्या के कार्यभूत इस अनात्म पाञ्चभौतिक हड्डी, मांस, मल, मूत्र के भाण्डरूप शरीर में "यह मैं हूँ तथा इसके सम्बन्धी स्त्री, पुत्रादि मेरे हैं"—इस भावना से वन्धन को प्राप्त होता है। श्रुति भी कहती है कि—

"मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः"
"पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः"
"आपादमस्तकमहंमातापितृविनिर्मितः ।
"इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासद्विलोकनात् ॥"

माता-पिता के रज-वीर्य रूप मल से सृष्ट आपादमस्तकपर्यन्त पाणिपादादि वाला मल-मांसमय "यह देह ही मैं हूँ" इस विपरीत भ्रान्त निश्चय से जीव बंधन को प्राप्त होता है। इस अविद्यात्मक देहात्मबुद्धि के कारण ही मनुष्य

'खादते मोदते नित्यं शुनकः सूकरः खरः ।
तेषामेषां विशेषः को वृत्तिर्येषां तु तैः समाः ॥

श्वान, सूकर एवं गधे की भाँति क्षणिक विषयभोगों में ही अपने को सुखी मानता है, क्योंकि

"आहार निद्रा भय मैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।"

आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कियाओं की मानव एवं पशु दोनों में एकता ही देखने में आती है। इसलिए केवल इन विषयों में ही अपने को सुखी मानने वाला मानव निरा पशु ही है। पशुओं से इसमें विलक्षणता केवल इतनी ही है कि यह बिना सींग-पूँछ का दो पैर वाला पशु है; क्योंकि बुद्धि-शून्य पशुओं की भाँति मानव भी केवल इन्द्रियों के इन क्षणिक विनश्वर अनित्य शब्द आदि विषयों में ही सुख मानता है।

अपने नित्य आत्मस्वरूप के बोध के अभाव में जीव इन मिथ्या मृगजलवत् प्रतीयमान विषयभोगरूप अथाह समुद्र में डूब कर त्रैतापों से निरन्तर संतप्त होता रहता है। जब तक विवेक के द्वारा अपने अविवेक-जनित मिथ्या अहंममात्मक अध्यास का पूर्णतः निरसन नहीं हो जाता, तब तक सुख-शान्ति का मूलाधिष्ठानभूत अपना स्वरूपभूत आनन्दस्वरूप आत्मा अनुभूत नहीं होता। इस अनुभूति के अभाव में,

"अहो दुरत्यया माया लोकस्यार्थप्रणाशिनी ।
यया विमोहितं सर्वं जगद्भ्रमति नित्यशः ॥"

समस्त श्रेयोविनाशिनी दुरत्यया माया से समस्त जगत् विमोहित हो स्वकर्मानुसार शुभाशुभ योनियों में नित्य स्वप्नवत् भ्रमता रहता है, यह

"धर्माद् देवत्वमेति व्रजति पुनरधः
पातकैः स्थावरादीन्,
देहान्प्राप्य प्रणश्यन्क्वचिदपि लभते
मानुषत्वं च ताभ्याम् ।
कर्मज्ञानोभयेन व्रजति विधिपदं
मुच्यते कोऽपि तस्मिन् ,
रागी प्रत्येति भूयो जनिमिति विषमं
भ्रंभ्रमन्तीह लोकः ॥"

अपने धर्मानुष्ठान से देवत्व को प्राप्त होता है तथा शास्त्रविहित अनुष्ठानों के अभाव में पाप कर्मों के फलस्वरूप नारकीय यातनाओं का उपभोग करते हुए स्थावरादिको की योनि में बारम्बार जन्म-मरणादि का अनुभव करता हुआ कभी दैववश पापपुण्यात्मक युगपत् कर्मों के योग से मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है और कभी कर्म तथा उपासना—इन दोनों के योग से हिर-

ण्यगर्भ के स्थान सत्यलोक में पहुंच जाता है। उस लोक में भी कोई विरक्त ब्रह्मा के साथ महाप्रलय काल में मुक्त हो जाता है और वहाँ पहुंच कर भी भोग की इच्छा वाला प्राणी ब्रह्म लोक से भ्रष्ट होकर वारम्बार जन्म पाता रहता है। इस प्रकार प्राणी बड़े ही दुःख के साथ निरन्तर परिवर्तनशील संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है, क्षणमात्र भी विश्रान्ति-सुख का अनुभव नहीं कर पाता। इस असार संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए प्राणी को सर्वत्र केवल दुःख की ही प्राप्ति होती है, वह भ्रमणशील प्राणी,

"दुःखं स्वर्गात् प्रपाते बहुविधनरके गर्भवासेऽतिदुःखम् ,
निःस्वातन्त्र्याशनायग्रहगदरुदितैः शैशवे दुःखमेव ।
तारुण्येऽमर्षलोभव्यसनपरिभवोद्वेग दारिद्र्यदुःखम्,
वार्धक्येशोकमोहेन्द्रियविलयगदैर्दुःखमन्तेति दुःखम् ।।"

अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त होकर, पुनः जव पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से भ्रष्ट होता है तव पतन के समय वहाँ के सुख से सहसा वियुक्त होने के कारण उसको महान् कष्ट का अनुभव होता है तदनन्तर अनेक प्रकार के नरकों में पापों के फलस्वरूप नारकीय असह्य दुःखों को भोगना पड़ता है पुनः मानव-शरीर में जन्म प्राप्त होने पर गर्भ में दुःख भोगना पड़ता है तदनन्तर बाल्यावस्था में मच्छरों के उड़ाने की भी स्वतन्त्रता न होने के कारण, भोजन की इच्छा से, बालग्रहों के पीड़ित करने के कारण, रोग और रोदन के कारण दुःख ही मिलता है फिर युवावस्था में क्रोध, धन में राग की अधिकता, स्त्री में आसक्ति, शत्रु आदि के उपद्रव से घबराहट और प्रारब्ध-वश धन का अभाव होने पर केवल दुःख ही भोगना पड़ता है तथा बुढ़ापे में भी इष्ट जनों के वियोग के अन्तर्दाह से, अविवेक से, इन्द्रियों के नाश से और रोग से दुःख ही मिलता है और अन्त में मृत्यु की अवस्था में तो व्यापक गन्ने के रस के सदृश चारों ओर से प्राणों के निकलने में तो असह्य घोर दुःख होता है। इस प्रकार

"इत्थं यः कर्मबद्धो भ्रमति परवशः प्राणभृज्जन्मसंघै-
र्दुखस्यान्तं न वेत्ति स्मरति न च जनिव्रातमज्ञानयोगात् ।
तं सर्वानर्थमूलप्रशमनविधिना स्वात्मराज्येभिषेक्तुम्,
तात्पर्येण प्रवृत्ताः श्रुतिशिखरगिरः सूत्रभाष्यादयश्च ।।"

जा जीव अपने अज्ञानजनित देहाभिमान के कारण कर्मवन्धन से बद्ध हो अनन्त जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है और अपने दुःख के अन्त को नहीं जान पाता तथा बीते हुए अपने अनेक जन्मों को भी स्मरण नहीं कर पाता, उसको वेदान्त के वाक्य, शारीरक सूत्र तथा उसके भाष्यादिक सद्ग्रन्थ परमानन्दस्वरूप स्वात्मराज्य में अभिषिक्त करने के लिये अज्ञाननिवर्तक शुद्ध आत्माकारवोधप्रदानार्थ प्रवृत्त होते हैं। तव इनके द्वारा विवेक, वैराग्य एवं शमदम आदि से सम्पन्न हो स्वात्मलाभ कर कृतकृत्य हो जाता है। इस आत्मलाभ से वढ़कर,

"आत्मलाभो परोलाभ इति शास्त्रोपपत्तयः''

"आत्मलाभान्न परं विद्यते''

"यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः''

अन्य कोई लाभ नहीं है, यहाँ तक कि,

"अपिभूपरमाणुभूरिसंख्ये-
स्वपयातेषु चतुर्मुखेष्वलब्धात्।
अपदुःखनिरन्तरसौख्यसिन्धो-
र्न च लाभोऽस्तिपरो निजात्मलाभात्॥"

पृथ्वी के परमाणुओं से भी अधिक संख्या वाले हिरण्यगर्भों के वीत जाने पर भी दुःखरहित अनन्त समुद्ररूप स्वात्मलाभ से अधिक और कुछ लाभ नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस अनादि स्वप्नतुल्य संसार में असंख्यबार परम दुर्लभ चतुरानन ब्रह्मा की पदवी प्राप्त भले ही हो जाए, परन्तु अनन्त आनन्द के सिन्धुरूप इस आत्मलाभ का प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है, फिर अन्य क्षुद्र जन्म पाने वालों की बात ही क्या है ? इसलिये समस्त सांसारिक दुःखों के निवर्तक एवं परमानन्दप्रदायक स्वात्मलाभ के लिए ही मनुष्य को पूर्ण प्रयास करना चाहिए। परन्तु जो स्वात्मप्राप्ति के साधनों को छोड़कर बहिर्मुख इन्द्रियलम्पट हो, मृत्यु के पाशरूप इन मिथ्या विषयों में जितनी ही तेजी से दौड़ लगायेगा उतनी ही वह भयंकर विषाग्नि से तप्त अग्निवर्ण शोक की कीलों से निरन्तर विद्ध हो मूर्च्छा को प्राप्त होता रहेगा। इसलिए आत्यन्तिक कल्याणकामियों को चाहिए कि वे आत्यन्तिक सुख-शान्ति स्वरूप स्वरूपभूत आत्मसुख की प्राप्ति के लिए समस्त अनात्म जागतिक मरुमरीचिकातुल्य विश्वप्रपंच से मुख मोड़ कर, बहिर्मुखता से मुक्त हो देहाभिमान का भी त्याग

कर आन्तर प्रत्ययों का भी निरसन करते हुए, अनन्त आनन्द के सिन्धुभूत स्वात्मा का ही सजातीय ब्रह्माकार ज्ञानमयीवृत्ति से प्रगाढ़ स्वात्मरूपेण अलिगन-अनुभव कर चिरकाल से संसारमार्ग में मोहरूप श्रम से प्राप्त त्रैतापों से सन्तप्त अपने अन्तःकरण को सुशीतल करें। इस स्वरूपभूत आत्यन्तिक स्वात्मसुख की प्राप्ति के लिए ही शरीर, स्त्री, पुत्र और धन आदि अनात्म विषयों में अविद्याजनित अहंममात्मक मिथ्या अध्यास की निवृत्ति अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि इस अध्यास के कारण ही उसका स्वरूप सुस्पष्ट भासित नहीं होता। ये शरीर, स्त्री, पुत्र एवं धन आदि सभी अनात्म विषय

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"

आत्मा के लिए ही प्रिय हैं। क्योंकि

"तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोवित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा"

यह अन्तरतम आत्मा पुत्र, वित्तादि सभी से सर्वाधिक प्रिय है, अतः स्वभावतः सर्वाधिकप्रिय आत्मा की अनुभूति के लिए आत्मभिन्न अनात्म अध्यासों का ही दृढ़ता से निरास ही करना चाहिए; क्योंकि शैवाल से जल की भांति इन अनात्म तत्त्वों से स्वरूपभूत आत्मा ढका हुआ है इसलिए शैवाल की निवृत्ति से जल-दर्शन की भाँति अनात्म आवरणों के अभाव पर ही निरावृत सर्वव्यापी भूमा स्वरूपभूत आत्मा दिव्य ज्ञान-चक्षु से अनुभव का विषय होता है।

अतः भावुक जिज्ञासु मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ आत्यान्तिक सुख-शान्ति-स्वरूप स्वरूपभूत स्वात्मा की अपरोक्षानुभूति के निकटतम साधनभूत उत्तम वैराग्य की प्राप्ति के लिए इस "वैराग्यमार्तण्ड" नामक दिव्य ग्रन्थरत्न में समस्त श्रुति स्मृति पुराण, इतिहास आदि अनेक धर्मशास्त्रों से इतस्ततः संकलित वैराग्य के प्रभावशाली उत्तमोत्तम स्थल अठारह सौ चौवालीस [१८४४] श्लोकों में संग्रहीत हैं। बारम्बार इस ग्रन्थ का मननपूर्वक स्वाध्याय करने पर सुनिश्चितरूप से पुण्यात्मा भावुक पाठकों के अन्तःकरण में परम दुर्लभ वैराग्य का सुमनोहर अङ्कुर उत्पन्न होगा, जो पुनः-पुनः अभ्यास के अनन्तर प्रौढ़ होकर इस मायामय स्वप्नतुल्य असत् सुदृढ़ संसार की मोहक आसक्ति से मुक्त कर इसे समूल नष्ट करने में पूर्ण समर्थ होगा, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ चारप्रकरणों में विभक्त हैं, इसमें प्रथम देहाध्यास-दोष निवृत्ति-प्रकरण है। इसके अध्ययन एवं मनन से अविद्याजनित देहाध्यास की

निवृत्ति होगी। यह देहाभिमान ही समस्त अनर्थों का मूल कारण है। इसी देहाभिमानरूप अनात्माध्यास से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावों को प्राप्त हो जीव को जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि का शिकार होना पड़ता है। यह देहाभिमानी जीव,—

"यामेव रात्रिं प्रथमां गर्भे विशति मातरम्।
तामेव रात्रिं प्रस्वाप्य मरणाय विवर्तकः॥"

जिस प्रथम रात्रि में माता के उदर में गर्भ में प्रवेश करता है उसी रात्रि में उस गर्भ को मारने के लिए उस गर्भ को प्रस्वाप में डालकर यमराज भी प्रवेश करता है। तथा

"आसन्नतरतां याति मृत्युः पुंसो दिने दिने।
आघातं नीयमानस्य बध्यस्येव पदे पदे॥"

जिस प्रकार बध-स्थान पर पहुँचाए जाने वाले बध्य पुरुष के समीप प्रत्येक कदम में मृत्यु पहुंचती रहती है उसी प्रकार मनुष्य के जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं वैसे-वैसे मृत्यु भी समीप आती रहती है। चूंकि सूर्योदय एवं सूर्यास्त के द्वारा जीवों की आयु नष्ट होती चली जा रही है, परन्तु जीव इस पर ध्यान नहीं देते, अपितु सूर्योदय एवं सूर्यास्त को देखकर उनका अभिनन्दन करते रहते हैं।

"नन्दन्त्युदितं आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥"

सूर्य को उदय होते देखकर मनुष्य आनन्द मनाते हैं तथा कहते हैं कि अब धन कमाने का समय उपस्थित हो गया है अतः धनार्जन में जुट जाना चाहिए। सूर्य को अस्त होते हुए देखकर भी मनुष्य आनन्द मनाते हैं तथा कहते हैं कि अब कामोपभोग करने का समय उपस्थित हो गया है। अर्थ और काम के सिवा मनुष्य को दूसरा पुरुषार्थ सूझता ही नहीं। ये अर्थकामान्ध मनुष्य यह नहीं समझ पाते कि नवच्छिद्र वाले इस शरीररूपी घट से प्रतिक्षण आयुरूपी जल चूता रहता है। इन अर्थकामान्ध मनुष्यों को अभी संभलने का अवसर ही नहीं मिलता कि तब तक अतृप्तावस्था में ही सहसा काल इनको यहाँ से वैसे ही उठा ले जाता है जैसे भेंड़िया सहसा भेंड़ को लेकर चल देता है। तथा

स्रंसन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः॥"

"निमेषमात्रमपि हि योऽधिगच्छन्न तिष्ठति ।
शरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥"

जैसे नदियों का प्रवाह आगे की ओर ही बढ़ता जाता है पीछे की और नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्यों की आयु का अपहरण करते हुए एक-एक करके बीतते चले जा रहे हैं । इस प्रकार आयु निरन्तर बीती जा रही है, वह पल भर भी विश्राम नहीं लेती । अतः जब अपना शरीर ही अनित्य है तब इस संसार की किस वस्तु को नित्य समझा जाय ? इस अनित्य क्षणभङ्गुर शरीर को प्राप्त कर प्रत्येक प्राणी को,

"प्रातर्मूत्रपुरीषाभ्यां मध्याह्ने क्षुत्पिपासया ।
तृप्ताः कामेन बाध्यन्ते प्राणिनो निशि निद्रया ॥"

प्रातः काल मूत्र और पुरीष के द्वारा मध्याह्न में क्षुधा और पिपासा के द्वारा तथा तृप्त होने पर पूर्व रात्रि में काम से एवं उत्तर रात्रि में निद्रा से क्लेश भोगना पड़ता है । फिर भी महान् आश्चर्य है कि मानव,

"रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥"

"सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥"

बाह्याभ्यन्तर रक्त-मांस से परिपूर्ण, सर्व अशुचि पदार्थों का भण्डार, अरम्य, विनश्वर इस अधम शरीर के लिए ही पाप करते रहते हैं । इस शरीर से बढ़कर क्या दूसरा कोई क्रूर-कृतघ्न इस संसार में मिल सकता है ? क्योंकि यह दुष्ट शरीर नाना प्रकार की अपनी सेवा करा कर इस जीव को बीच ही में सहसा किसी भी दिन क्षण भर में ही छोड़ देता है । फिर भी जो मूर्ख मनुष्य,

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥

माँस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियों के समुदायभूत इस तुच्छ शरीर से ही प्रेम करता है तो उसे नरक से भी अवश्य प्रेम होगा । क्योंकि वहाँ भी इन्हीं दूषित वस्तुओं के कुण्डों में जीवों को अपने दूषित कर्मों के फलस्वरूप भयंकर नारकीय यातनाएं भोगनी पड़ती हैं । दूषित वस्तुओं के आधारभूत

"यदन्तरस्य देहस्य तदेव स्याद् बहिर्यदि ।
दण्डमुद्यम्य लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इस शरीर के अन्दर जो-जो मांस आदि तुच्छ पदार्थ हैं यदि वे पदार्थ बाहर रक्खे गए होते तो यह प्राणी जगत् दण्ड उठाकर कुत्तों और काकों को हटाते-हटाते ही परेशान रहता । वैराग्यार्थ इस शरीर को, अन्न, जल और वस्त्र को कैसा समझना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि—

"शरीरं व्रणवत् पश्येदन्नं तु व्रणलेपवत् ।
व्रणसेचनवत् पानं वस्त्रं तु व्रणपट्टवत् ॥"

शरीर को व्रण के समान, अन्न को व्रण में लगाए जाने वाले मलहम के समान, जलपान को व्रण को सींचने के समान तथा वस्त्र को व्रण में बाँधी जाने वाली पट्टी के समान ही समझना चाहिए । यह शरीर वास्तव में व्रणों से परिपूर्ण है तथा मानो चलता-फिरता मुर्दा है और यह अत्यन्त दुःखमय एवं अत्यन्त ही जुगुप्सनीय है । इसका जीवन बिजली के समान चंचल है । यह मर्त्यशील मानव-प्राणी गर्भ में पहुँचने भी नहीं पाया कि मरण की तैयारी हो जाती हैं । इसीकारण कितने ही लोग गर्भ में ही मर जाते हैं तथा कितने लोग जन्मते ही मर जाते हैं कितने ही लोग बाल्यावस्था में खेलते-कूदते काल-कवलित हो जाते हैं तथा कितने ही लोग यौवन की मस्ती में झूमते हुये ही सहसा ठण्डे हो जाते हैं । ऐसे कालग्रस्त प्राणी को,

न धनानि न मित्राणि न सुखानि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं कालेनाऽऽकलितं जनम् ॥

न तो धन, न मित्र, न विषयसुख और न बान्धव—कोई भी रक्षा नहीं कर सकते । फिर भी आश्चर्य है कि ऐसे घृणित क्षण विध्वंसी शरीर के अभिमान सम्पन्न पामर मानव उन्मत्त होकर,

'असारेऽस्मिंश्च संसारे मूढामज्जन्ति पामराः'
'संनिमज्ज जगदिदं विषये कामसागरे ।'
जन्ममृत्युजराग्राहं न कश्चिदवबुध्यते ॥

इस असार संसार में विषय-भोगरूप अथाह समुद्र में डूब कर जन्म, मृत्यु, जरारूपग्राह का ग्रास बन रहा है फिर भी कोई चेत नहीं करता ।

अहोबलवतीमाया मोहयत्यखिलं जगत् ।
पुत्रमित्रकलत्रार्थं सर्वं दुःखेन योजयेत् ॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ।

अहो ! यह माया बड़ी ही प्रबल है जो समस्त जगत् को मोह में डाल देती है तभी तो लोग पुत्र, मित्र एवं स्त्री के लिए सबको दुःखी करते रहते हैं तथा मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मेरी यह वस्तु-- इस प्रकार की ममता भी प्राणियों को व्यर्थ ही पीड़ा देती रहती है जिसके फलस्वरूप जीव अपने आत्यन्तिक कल्याण के साधनों से सर्वथा वञ्चित हो, संसार में इतस्ततः भ्रमण करता रहता है। समस्त सांसारिक विपत्तियों के कारणभूत इस शरीर की आसक्ति से मुक्त होने के लिए प्रथम पूर्व के पाँच अध्यायों में छः सौ उनचास [६४९] श्लोकों द्वारा, जिसके लिए स्त्री, पुत्र, धन आदि मायिक अनात्म वस्तुएँ प्रिय हैं, उस तुच्छ शरीर के दोषों का बड़ा ही विशद सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस देहाध्यास-दोष निवृत्ति-प्रकरण के बाद दारैषणा-दोष निवृत्ति के लिए स्त्रियों के स्वरूप एवं स्वाभाविक दोषों का भी व्यापक हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक चित्रण किया गया है। यहाँ

परिव्राट् कामुक शुनामेकस्यां प्रमदा तनौ ।
कुणपं कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः ॥"

ज्ञानी संन्यासी, कामी पुरुष और कुत्ते एक ही स्त्री-शरीर को देखकर क्रम से शव, कामिनी और खाने योग्य पदार्थ समझते हैं। इस प्रकार एक ही स्त्री-शरीर के प्रति तीन प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं। इन तीनों में ज्ञानी की ही दृष्टि उत्तम मानी जा सकती है, क्योंकि अशुचि पदार्थों से परिपूर्ण इस घृणित शरीर को अशुचि शव ही समझना चाहिए। इस हड्डी मांस, रक्त, मल, मूत्र के भाण्डरूप नारी के मायिक तुच्छ शरीर में सुन्दरता, सुकुमारता एवं कमनीयता आदि पुष्पोचित गुणों की व्यर्थ ही कल्पना कर अपने अविवेक के द्वारा कामी पुरुष व्यर्थ ही ठगे जा कर उसे आनन्द की वस्तु समझकर कामोन्मत्त हो, उसके आलिङ्गनजनित सुखानुभूति के लिए प्राणों से भी प्रिय धन एवं जीवन की भी आहुति देकर अपने सर्वनाश में ही आनन्द मानते हैं। धिक्कार है ऐसी लम्पटता को; धिक्कार है ऐसे दुस्साहस को। आश्चर्य है कि यहाँ पर तुलसी, वृन्दा, मदालसा, अहल्या, उमा, दुर्गा, मोहिनी, शची, पंचचूडा, पद्मा, चन्द्रकला आदि माताओं ने जिज्ञासु मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ नारीरूप सर्प के दंशनजनित दोषों से बचने के लिए स्त्री-शरीर के स्वाभाविक दोषों का बड़ा ही सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है जिससे संसार-बन्धन से मुक्ति चाहने वाले

मुमुक्षु, अपने स्मरण एवं दर्शन आदि से ही उन्मत्त करने वाली नारी की मोहक आपातरमणीयता की असक्ति से मुक्त स्वरूपस्थ होने में समर्थ हो, सांसारिक आवागमन से मुक्त हो सकें। उन धन्य माताओं के हार्दिक उद्गारों को यत्किंचित् कुछ शब्दों में यहाँ व्यक्त किया जाता है।

"श्रुतौ पुराणे यासांश्च चरित्रमतिदूषितम्।
तासु को विश्वसेत् प्राज्ञः ह्यप्राज्ञ इव सर्वदा॥"

तुलसीदेवी

तपोमार्गार्गलां शश्वन्मुक्तिद्वारकपाटिकाम्।
हरेर्भक्तिव्यवहितां सर्वमायाकरण्डिकाम्॥
संसारकारागारे च शश्वन्निगडरूपिणीम्।
इन्द्रजालस्वरूपां च मिथ्या च स्वप्नरूपिणीम्॥
मायारूपं मायिनां च विधिना निर्मितं पुरा।
विषरूपां मुमुक्षूणामदृश्यां चैव सर्वदा॥"

श्रुति एवं पुराणों में जिनके अतिदूषित चरित्रों का वर्णन किया गया है उन स्त्रियों पर कौन प्राज्ञ पुरुष सर्वदा मूर्ख की भाँति विश्वास करेगा? तपोमार्ग के लिए अर्गलारूपा, मुक्तिद्वार के लिए कपाटिकारूपा, हरिभक्ति के लिए विघ्नरूपा, समस्त मायाओं की पिटारीरूपा, संसाररूप कारागार में बाँधने के लिए बेड़ी रूपा तथा इन्द्रजाल एवं स्वप्न के समान मिथ्यारूपा मायामयी नारी की रचना ब्रह्मा ने मायावियों के लिए ही किया है। यह मुमुक्षुओं के लिए विषरूपा है यानी मुमुक्षुओं के लिये यह विषवत् काम करती है, इसलिए कल्याणकामी मुमुक्षुओं के लिए यह स्त्री सर्वदा ही अदर्शनीय है।

"किं तस्य ज्ञानतपसाजपहोमप्रपूजनैः।
किं विद्यया वा यशसा स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम्॥"

जिसका मन स्त्री ने अपहृत कर लिया है यानी जो स्त्री में अत्यन्त आसक्त है उसके ज्ञान, तप, जप, होम, पूजन, विद्या और यश से क्या? यानी उस स्त्रैण पुरुष के ये सभी व्यर्थ—निष्फल हैं।

"मुखं च रुचिरं स्त्रीणां श्रोणियुग्मं स्तनौ तथा।

वृन्दा देवी

कामाधारं नाशबीजमधर्मस्थलमेव च॥
भगं नरककुण्डं च लालामूत्रसमन्वितम्।
दुर्गन्धियुक्तं पापं च यमदण्डस्यकारणम्॥"

स्त्रियों का मुख, दोनों नितम्ब तथा स्तनयुगल—ये कामवासना के आधार, विनाश के कारण और अधर्म के स्थान हैं। जो लार एवं मूत्र से संयुक्त है, जिसमें से दुर्गन्ध निकलती रहती है और जो पाप तथा यमदण्ड का कारण है स्त्रियों का वह भगस्थान साक्षात् नरककुण्ड के सदृश है।

"किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन तीर्थेन स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम्॥
स्त्रीरूपं निर्मितं सृष्टौ मोहाय कामिनां मनः।
अन्यथा न भवेत् सृष्टिः स्रष्ट्रा तेन पुरा ध्रुवा॥"

अहल्या देवी

जिसका मन स्त्री द्वारा अपहृत किया गया है उसके उस जप, तप, मौन, व्रत, देवार्चन तथा तीर्थ-सेवन आदि से क्या लाभ ? यानी सब व्यर्थ—निष्फल हैं। पूर्व में जगत् की रचना करते समय सृष्टिकर्ता के द्वारा कामियों के मन को मोहित करने के लिए ही स्त्री का रूप बनाया गया है अन्यथा इसकी सृष्टि ही न हुई होती।

नरस्य बन्धनार्थाय शृंखला स्त्री प्रकीर्तिता।
लोहबद्धोऽपि मुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते।
किमिच्छसि च मन्दात्मन् मूत्रागारस्य सेवनम्॥"

भगवती दुर्गा

स्त्री पुरुष को बाँधने के लिए शृंखला के समान कही गई है। लोहे की शृंखला से बद्ध पुरुष तो छूट जाता है परन्तु स्त्रीरूप शृंखला से बद्ध पुरुष कभी भी नहीं छूटता। ऐ दुरात्मन ! तुम स्त्रियों के मूत्रागार का सेवन क्यों करना चाहते हो ?

युवतीनां सदा चित्तं पुंसु तिष्ठत्यसंशयः।
घृतकुंभसमानारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकस्थाने च धारयेत्॥"

भगवती उमा

इसमें संदेह नहीं कि इस स्त्रीयोनि में युवतियों का चित्त सदैव पुरुषों में ही लगा रहता है। स्त्री घृतपूर्ण घट के सदृश है और पुरुष जलते हुए अङ्गारे के सदृश। इसलिए इन दोनों घी और अग्नि को एक स्थान पर नहीं रखना चाहिए।

मलाढ्येषु च क्लेदेषु दुर्गन्धिनिलयेषु च।
साधूनां किं सुखं साधो स्त्रीणां योनिषुमा वद॥

शाची देवी

मधुमत्तः सुरामत्तः काममत्तो विचेतनः ।
मृत्युं न गणयेत्कामी कामेन हृतमानसः ॥"

हे साधो ! मुझे बतलाओ तो सही, कि स्त्रियों की योनि में साधुओं को क्या सुख है ? जो दुर्गन्धि का घर है, आर्द्रता से युक्त है, जिसमें घृणित मल का ही बाहुल्य है। काम ने जिसके चित्त को चुरा लिया है, वह विवेकशून्य कामोन्मत्त कामी तथा मधुमत्त एवं सुरामत्त मनुष्य अपनी मौत को भी नहीं गिनता।

विदुषी रानी मदालसा

हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्म—
मत्युज्वलं तर्ज्जनमङ्गनायाः ।
कुचादिपीनं पिशितं घनं तत्
स्थानं रतेः किं नरकं न योषित ॥"

स्त्रियों का हास अस्थि-सन्दर्शन मात्र है, अत्यन्त उज्ज्वल उनके नेत्र द्वय तर्जन सदृश हैं, उनके स्थूल घनस्तनमण्डल आदि मांस के लोथड़े हैं और उनका रति का वह स्थान—इन सबकी प्रत्यक्षमूर्ति वह स्त्री क्या साक्षात् नरक नहीं है ?

चन्द्रकला देवी

"परस्त्रियं समालिङ्ग्यं क्षणमात्र सुखं भवेत् ।
इहापकीर्तिः शेषं च दुःखं कल्पशताधिकम् ॥
मांसमूत्रपुरीषास्थि निर्मितं में कलेवरम् ।
एतदेव समालोक्य स्मरस्य वशतां गतः ॥"

पर स्त्री का आलिंगन करके क्षणमात्र को ही सुख होता है किन्तु इस संसार में अपकीर्ति होती है और मरने पर सौ से अधिक कल्पों तक नारकीय दुःख भोगना पड़ता है। मेरे इस मांस, मूत्र, मल एवं अस्थियों से निर्मित घृणित तुच्छ शरीर को देखकर ही तुम काम के वशीभूत हो गए ?

पद्मादेवी

"स्त्रीजित्स्पर्शमात्रेण सर्वपुण्यं प्रणश्यति ।
न भूमौ पातकी पापात् पापिनो स्त्रीजितात्परः ॥"

स्त्री के द्वारा जीते हुए स्त्रैण पुरुष को स्पर्श करने पर मनुष्य का सारा पुण्य नष्ट हो जाता है। पृथ्वी पर के समस्त पापियों में स्त्रीजित् पापी से बढ़कर दूसरा कोई भी नहीं है।

मोहिनी देवी

"स्त्रीणां नैव तु विश्वासः कर्तव्यो हि विपश्चिता ।
अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचत्वं निर्घृणत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥"

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वे स्त्रियों का विश्वास कभी भी न करें। असत्य भाषण, साहस, छल, मूर्खता, अत्यधिक लोभ, अशौच और निर्दयता— ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।

"तथा चोक्तं पुराणेषु नारीवीक्षणवर्णनम्।
उन्मादकरणं नृणां दुश्चरव्रतनाशनम्॥"

पुराणों में नारी की ओर देखना तथा उसके रूप की चर्चा करना मनुष्यों के लिए उन्मादकारी बताया गया है, वह कठिन से भी कठिन व्रत का सर्वथा नाश करने वाला है।

पंचचूडा! "स्त्रियो मूलं हि पापानाम्"
स्त्रियाँ समस्त पापों की मूल कारण हैं।

"अन्तकः शमनोमृत्युः पातालं वडवामुखम्।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः॥"

काल, शान्त करने वाला मृत्यु, पाताल, वडवानल, छुरे की धार, विष, सर्प और अग्नि—ये सभी विनाश के साधन के हेतु एक ओर और स्त्रियाँ अकेली दूसरी ओर—दोनों बराबर हैं यानी इन उपर्युक्त विनाश करने वाले साधनों का कार्य अकेली ही स्त्री स्वयं करती है।

तिलोत्तमा! "स्त्रीजातीनां च सर्वासामुपहासकरं परम्।
सर्वेषामपि दुर्ज्ञेयं चरितं योषितामपि॥"

स्त्री जाति का चरित्र सभी स्त्रियों का उपहास करानेवाला है जो सभी पुरुषों के लिए सर्वथा दुर्विज्ञेय है।

इन उपर्युक्त माताओं के द्वारा वर्णित नारी शरीर के दोषों को जानकर भी जो मूर्ख,

"यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मति कामिनी।
स तस्या वशगोभूत्वानृत्येत्क्रीडाशकुन्तवत्॥"

यह सोचता है कि अमुक स्त्री मेरे ऊपर मुग्ध है, वह कामी पुरुष उसके वशीभूत होकर खिलौने की चिड़िया के सदृश नाचता रहता है। क्योंकि कामदेव ने भी कहा है कि :—

"नारी मम गृहं देव सदा तत्र वसाम्यहम्।
तत्रस्थः पुरुषान्सर्वान्मारयामि न संशयः॥"

स्त्री तो मेरा घर है, मैं वहाँ सर्वदा निवास करता हूँ तथा वहीं अपने गृहभूत स्त्री शरीर पर रहते हुए सभी पुरुषों को अपने कामवाणों का निशाना बनाकर उनका शिकार करता रहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं। इस प्रकार कामिनियों की मोहक मिथ्या आसक्ति से मुक्त होने के लिए शरीर-दोष वर्णन के पश्चात् इस दारैषणादोषनिवृत्ति-प्रकरण के सात अध्यायों में पाँच सौ छः [५०६] श्लोकों के द्वारा उपर्युक्त वर्णित माताओं, ईश्वरों एवं महर्षियों द्वारा अत्यन्त सुस्पष्ट चित्रण किया गया है जिसका विचारपूर्वक अध्ययन करने पर कल्याणकामी पुरुष इनकी मिथ्या मोहक आसक्ति से मुक्त निर्विकार अन्तःकरण हो, विषयवासनागन्धलेशशून्य अन्तर्मुख सूक्ष्मवृत्ति से स्वरूप-साक्षात्कार कर अपना कल्याण कर सकेगा। परन्तु यह ध्यान रहे! कि जिस प्रकार पुरुष स्त्री शरीर में वारम्बार दोषदर्शन करता हुआ उनसे अनासक्त हो अपना कल्याण सम्पादन करेगा, वैसे ही महापुण्यवती कल्याणकामी स्त्रियाँ भी अत्यन्त घृणित हड्डी, मांस, रक्त एवं मल, मूत्र के भाण्डरूप पुरुष शरीरों में दोषदर्शन करती हुई इन विनाशी क्षणभंगुर पुरुषों की आसक्ति से मुक्त हो, सुलभा, मैत्रेयी, गार्गी आदि की भाँति अपने विशुद्धान्तःकरण में ही स्वरूपसाक्षात्कार कर ब्रह्मत्व को प्राप्त हो, संसारचक्र में बारम्बार आवागमनरूप जन्म-मरण से मुक्त हो जाएँगी। इसलिए यहाँ पर किसी प्रकार के भी पाक्षिक दोष का प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि सभी अपना कल्याण चाहते हैं चाहे पुरुष हों या स्त्री। इसलिए दोनों ही एक दूसरे के लिए मोह के कारण हैं और दोनों का यह अज्ञानजनित पारस्परिक मोहात्मक सम्बन्ध विच्छिन्न हुए विना दोनों में से किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता। ये उपर्युक्त वर्णित माताएँ जिन्होंने मुमुक्षुओं के लिए स्त्री-शरीर के स्वाभाविक यथार्थ दोषों का हृदय खोलकर निःसंकोच वर्णन किया है वे सर्वदा ही इन जिज्ञासु मुमुक्षुओं के लिए वन्दनीय एवं गुरुस्वरूपा हैं।

अब दारैषणादोषनिवृत्ति प्रकरण के अनन्तर श्री-धनसम्पत्ति की भी मोहक आसक्ति से मुक्त होने के लिए धन एवं तृष्णा के दोषों का प्रतिपादन भी आगे के दो अध्यायों में एक सौ अड़तीस (१३८) श्लोकों के द्वारा किया गया है उसका अध्ययन कर मनुष्य सन्तोष प्राप्त करना सीखे। क्योंकि—

"संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्चधावताम्॥"

संतोषामृत से तृप्त पुरुष को जो सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है वह केवल धन के पीछे इतस्ततः दौड़ने वाले धन-लोलुप प्राणियों को भला कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? यदि कोई कहे कि धर्मार्थ धनार्जन आवश्यक है तो इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धिपंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥"

धर्मार्थ अर्थ की प्राप्ति की चेष्टा की अपेक्षा उसकी प्राप्ति की अनिच्छा ही श्रेष्ठ है जैसे पंक स्पर्श करके उसके प्रक्षालन की अपेक्षा उससे दूर रह कर उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है। इसीलिए कहा गया है कि—

"अर्थ संपद्विमोहाय विमोहो नरकाय च।
तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥"

अर्थ-सम्पत्ति विमोह के लिए होती है उसमें विमुग्ध हो जाने पर उसके अर्जन में किए गए पापों के फलस्वरूप घोर नरकों की ही प्राप्ति होती है। इसलिए श्रेय चाहने वाले पुरुषों का चाहिए कि वे अर्थ नामधारी अनर्थ का सादर दूर से ही त्याग कर दें, क्योंकि धन की

"अनन्तापारा दुष्पूरा तृष्णा दुःखशतावहा"

अनन्त अपार एवं दुष्पूर तृष्णा धनलोलुप प्राणियों को सैकड़ों दुःख प्रदान करने वाली है। इसलिए जो

"न तृष्णाया परा व्याधिः"
"योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्"

प्राणों का अन्त करने वाली भयंकर व्याधिरूप तृष्णा है उसके त्याग से ही जीव सुखी हो सकता है। चूँकि

"धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च ॥"

धन, जीवन, स्त्री और भोजन—इन चार चीजों से सदा सर्वदा सभी अतृप्त रहे हैं, सब इनसे अतृप्त होकर ही चले गये, चले जाएँगे और चले जा रहे हैं, क्योंकि ये मिथ्या सांसारिक भोग्य वस्तुएँ मरुमरीचिका की भाँति प्रतीयमान होने के कारण किसी के लिए भी आजतक सन्तोषप्रद सिद्ध नहीं हो सकीं, इसीलिए विश्व के भूतपूर्व बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी अपने अक्षय भोग-ऐश्वर्यों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित अपने शरीर को भी यहीं छोड़ कर विदा हो गए, केवल उनकी कहानी मात्र अब शेष रह गई है। चूँकि

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नूनं नैकस्य पर्याप्तमिति ज्ञात्वा शमं व्रजेत् ॥"

जो भी सम्पूर्ण पृथ्वी के व्रीहि, यव आदि अन्न, सुवर्ण पशु एवं स्त्रियाँ आदि क्षणभंगुर मायिक भोग्य विषय हैं ये निश्चय ही किसी एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकते, ऐसा जानकर इनकी अभिलाषा का पूर्णतः त्याग कर कल्याणकामी को इनसे उपराम हो जाना चाहिए। वित्तैषणा-दोष निवृत्ति-प्रकरण में धन-सम्पत्ति की निस्सारता एवं दुःखरूपता के वर्णन के अनन्तर लोकैषणारूप दोष की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए, कालाधीन संसार की स्थिति, कालग्रस्त समस्त सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता, क्षणभंगुरता परिवर्तनशीलता, अनित्यता एवं दुःखरूपता का विशदवर्णन अन्त के चार अध्यायों में पाँच सौ इकावन (५५१) श्लोकों के द्वारा किया गया है। साथ ही साथ अन्तिम अध्याय में वैराग्य की विशिष्टता का विशिष्ट शैली से विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया है। इन सबका बारम्बार विचारपूर्वक अध्ययन एवं मनन करके कोई भी विवेकी पुरुष इन मायामय चौदहों भुवनों की आसक्ति से मुक्त हो, प्रबल विवेक-वैराग्य एवं शमदमादि पूर्वक स्वरूपानुसंधान के परायण हो, समस्त विश्व को स्वात्मरूपेण विषय करता हुआ, स्वात्मानन्द के सर्वातिशायी विलक्षण आनन्द का उपभोग करता हुआ, परम सन्तुष्ट सार्वात्म्यभावापन्न हो, ब्रह्मात्मैक्यनिष्ठा द्वारा साम्यामृत पान कर कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो सकेगा। ऐसा आत्मस्वरूप महात्मा,

"न प्रहृष्यत्यसौ प्राप्य भूयः प्रियम्
मेरुवन्निश्चलो भूरि कृच्छ्रेष्वपि ।
भावयन्नात्मनात्मानमनन्दितो
देववत् संचरत्येष विश्वम्भरात् ॥"

जागतिक परम प्रिय वस्तु को प्राप्त करके भी कभी आनन्दित नहीं होता और बहुत से दुःखों की प्राप्ति पर भी सुमेरु के समान निश्चल रहता है कभी भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा स्वात्मा का विचार करता हुआ उसी आत्मा के आनन्द से आनन्दित होकर देवता के समान पृथ्वी पर विचरण करता रहता है। ऐसे

"ईशते ज्ञाततत्त्वस्य नाभूयते
यत्नवन्तोऽपि सर्वे देवासुराः ।

को हि नामात्मनोऽनिष्टकारी भवेद्
आत्मभूतो यतिस्त्वेष तेषामपि ॥"

ज्ञातज्ञेय जीवन्मुक्त महापुरुष का अहित करने के लिए देवता और असुर आदि सभी मिलकर प्रयत्न करें, तो भी वे सभी उसका किसी प्रकार भी अनिष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि आत्मा का यानी अपने स्वरूप का अनिष्टकारी कौन हो सकता है ? यह सर्वात्मभावापन्न महापुरुष

"सर्वभूतात्मभूतात्मा"

देवता और असुर आदि सहित समस्त जगत् का आत्मभूत होता है। यहाँ तक कि,

"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"

इस भगवदीय वचनानुसार, वह ईश्वर का भी आत्मा हो जाता है। इसलिए इस सर्वात्मस्वरूप ज्ञानी के अहित की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ऐसा महापुरुष,

"धन्यः स एव कृतकृत्यतमः समस्त-
मान्यः स एव कुलमस्य च धन्यधन्यम्।
संन्यस्य कर्मनिगडं श्रुतिसारसौख्ये
विन्यस्यचित्तमभयात्मनि निवृतो यः ॥

जो कर्मवासनाओं की बेड़ियों को ध्वस्त कर श्रुतिसारांशरूप अद्वयत्व के कारण अभयरूप आत्मा में अपने चित्त को स्थापित करके सदा-सर्वदा आनन्दित रहता है, वही धन्य है, कृतकृत्यतम है और सर्वमान्य है तथा उसका कुल तो धन्य से भी धन्य है कि ऐसे कुल में उत्पन्न शरीर से सर्वाश्चर्यमय परम दुर्लभ ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान को प्राप्त कर,

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"
"ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम्"

के सिद्धान्तानुसार, ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है तथा अपने इस पवित्रतम ब्रह्मज्ञान के पुष्कल पुण्यों के प्रभाव से उनका भी कल्याण करने वाला होता है—ऐसा शास्त्र में प्रसिद्ध है।

अतः आत्यन्तिक कल्याणाभिलाषी विवेकी पुरुषों को चाहिए कि वे बारम्बार इस "वैराग्य-मार्तण्ड" नामक दिव्य ग्रन्थ के मननात्मक स्वध्याय से उत्पन्न उत्तम विवेक के द्वारा इन मायिक प्रातिभासिक जागतिक विषयभोगों

के मिथ्यात्व का, बन्धकत्व का एवं जन्ममृत्युप्रदायकत्व आदि दोषों का समुचित विचार कर, उत्कृष्ट प्रबल वैराग्यवेग से इनका तृणवत् परित्याग कर अशेषतः इनकी मोहात्मक आसक्ति से मुक्त हो, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरणापत्तिपूर्वक उनसे उपदिष्ट जगद्विध्वंसक सुदुर्लभ ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान द्वारा सर्वतः स्वरूपसाक्षात्कार करते हुए, सूर्य की रश्मियों में मिथ्या ही फैले हुए मृगजल की भाँति इस संसार के अत्यन्ताभाव का अनुभव कर सर्वत्र,

"यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति"

"आत्मैवेदं सर्वम्"

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरति-
रात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति"

अपने स्वरूप से भिन्न किसी को भी न देखते, सुनते, समझते हुए, स्वात्मा से ही रति, स्वात्मा से ही क्रीड़ा, स्वात्मा से ही मैथुन करते हुए आत्मानन्द हो, स्वात्मराज्य पर स्वयं ही अभिषिक्त हो, स्वयं केवल केवलीभाव का ही अनुभव करते हुए ब्रह्मभूत हो, समस्त ब्रह्माण्ड के अद्वितीय अविनाशी सम्राट् हो जाँय ॥ इति ॥

सुखं सुखान्तं सुखदं सुरेशं
ज्ञानार्णवं तं मुनिपं सुरेशम् ।
सत्याश्रयं सत्यगुणोपविष्टं
तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥

—आत्मानन्द



वैराग्य-मार्तण्ड में सहायक ग्रंथों की सूची

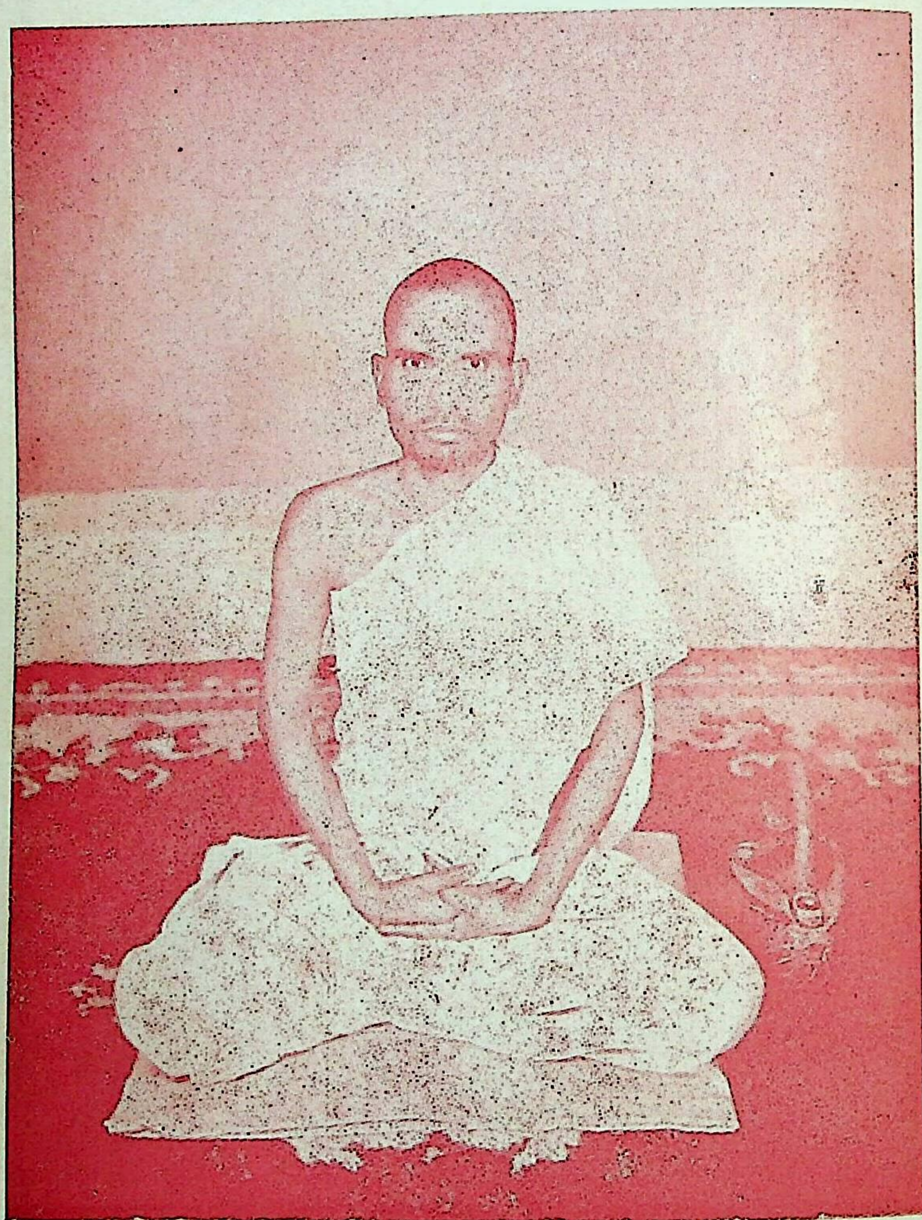
संख्या	नाम	संख्या	नाम
१.	महोपनिषद्	२७.	वायु पुराण
२.	श्री जाबालदर्शनोपनिषद्	२८.	गरुड़ पुराण
३.	मैत्रायण्युपनिषद्	२९.	ब्रह्म पुराण
४.	गर्भोपनिषद्	३०.	पद्म पुराण
५.	नारदपरिव्राजकोपनिषद्	३१.	भविष्य पुराण
६.	मैत्रेय्युपनिषद्	३२.	लिङ्ग पुराण
७.	संन्यासोपनिषद्	३३.	अग्नि पुराण
८.	याज्ञवल्क्योपनिषद्	३४.	वामन पुराण
९.	अध्यात्मोपनिषद्	३५.	आत्म पुराण
१०.	मुक्तिकोपनिषद्	३६.	कालिका पुराण
११.	मनुस्मृति	३७.	आदि पुराण
१२.	व्यास स्मृति	३८.	महाभारत
१३.	वृहत्पाराशर स्मृति	३९.	योगवासिष्ठ
१४.	वृद्धशातातप स्मृति	४०.	श्रीमद्भगवद्गीता
१५.	लघुशातातप स्मृति	४१.	अष्टावक्रगीता
१६.	सूत संहिता	४२.	शिव गीता
१७.	मरीचि संहिता	४३.	वाल्मीक रामायण
१८.	विष्णु संहिता	४४.	अध्यात्मरामायण
१९.	श्रीमद्भागवत महापुराण	४५.	उपदेश साहस्री
२०.	ब्रह्मवैवर्त पुराण	४६.	विवेक-चूड़ामणि
२१.	श्रीमद्देवीभागवत पुराण	४७.	अपरोक्षानुभूति
२२.	स्कन्द पुराण	४८.	सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह
२३.	मारकण्डेय पुराण	४९.	भर्तृहरिशतक
२४.	शिव पुराण	५०.	परमार्थसार
२५.	वृहन्नारदीय पुराण	५१.	मुमुक्षुसार सर्वस्व
२६.	विष्णु पुराण		

विषय-सूची

अध्याय	विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ
	देहाध्यास-दोषनिवृत्ति-प्रकरण ६४९		
१.	वैराग्यार्थ देह के स्वरूप एवं दोषों का वर्णन	६४	१–२१
२.	वैराग्यार्थ जीव के गर्भ, वाल्य एवं यौवनादि अवस्थाओं तथा क्लेशबहुल संसार में असारत्व का वर्णन	१७५	२२–४७
३.	वैराग्यार्थ गर्भस्थ जीव की स्मृति एवं उसका उद्गार तथा जन्म, वाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाओं में मोहवश प्राप्त होने वाले दुःखों का सुस्पष्ट विशदरूपेण प्रतिपादन	२९८	४८–६६
४.	अशुचि, दुर्गन्धित एवं दुःखों से पूर्ण इस अनात्म शरीर का मूढों द्वारा अहं-मम रूप से ग्रहण	६६	६७–१०६
५.	आयु की क्षणभङ्गुरता	१६	१०७–१०९
	दारैषणा-दोषनिवृत्ति-प्रकरण ५०६		१११–२०३
६.	वैराग्यार्थ स्त्रियों के भेद एवं उनके विभिन्न स्वभाव का वर्णन	४१	११७–१२२
७.	वैराग्यार्थ पुनः स्त्री स्वभाव एवं उसके बन्धकत्व का वर्णन	११५	१२३–१४०
८.	विभिन्न स्त्री-गमन जन्य पापों के चिह्नों का वर्णन	११	१४१–१४२
९.	तिलोत्तमा द्वारा पुंश्चली स्त्री-स्वभाव का वर्णन	१५	१४३–१४५
१०.	पुनः वैराग्यार्थ पंचचूडा-कथित स्त्री के स्वाभाविक दोषों का सुस्पष्ट वर्णन	३७	१४६–१५२



* ॐ भूमानन्दात्मने नमः *

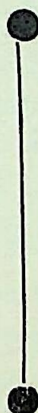


वीतराग परमहंस परिव्राजक श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

!! ॐ श्री गणेशाय नमः !!

टीकयातत्त्वदर्शिन्या गीतायाः परमाद्भुतम् ।
रहस्यं उपदेशानां श्रीकृष्णस्य विशेषतः ।। १ ।।
प्रयत्नेन समुद्घाट्य दिव्यानन्दं प्रदत्तवान् ।
ब्रह्मानन्दस्यमूर्तिं तं सर्वभूतात्मरूपिणम् ।
स्वतन्त्रानन्दनामानं सद्गुरुं प्रणमाम्यहम् ।। २ ।।
प्रकृतिर्निर्मिता येन महाविष्णुश्च निर्मितः ।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यास्तस्मै कृष्णाय ते नमः ।। ३ ।।
यो वन्द्यस्त्वृषिसिद्धचारणगणैर्देवैः सदापूज्यते,
यो विश्वस्य विसृष्टिहेतुकरणे ब्रह्मादिकानां प्रभुः ।
यः संसारमहार्णवे निपतितस्योद्धारकोवत्सल-
स्तस्यैवापि नमाम्यहं सुचरणौ भक्त्या वरौ पावनौः ।।४।।
यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ।। ५ ।।
संसारानलसंतप्तजीवकल्याणहेतवे ।
वैराग्यसारसर्वस्वं परवैराग्यदायकम् ।। ६ ।।
वैराग्यस्यमार्तण्डरूपेण स्थापयाम्यहम् ।
यस्याध्ययनमात्रेण संसारात्क्षणभंगुरात् ।। ७ ।।
अचिराज्जायतेऽवश्यं वैराग्यं मोक्षदायकम् ।
ततो कैवल्यप्राप्त्यर्थं शक्ताः स्युर्मानवाः सदा ।। ८ ।।

देहाध्यास-दोष



निवृत्ति-प्रकरण



॥ सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

ॐ

॥ श्री गणेशायनमः ॥

अनादिकालीन अविद्याजनित नामरूपात्मक दृश्यप्रपंचस्वरूप इस जगन्मण्डल में एकमात्र यह देह ही समस्त प्राणियों के लिए समस्त अनर्थों का मूलकारण है। यद्यपि यह शरीर प्रत्यक्ष ही पांचभौतिक हड्डी, मांस, रक्त, मल, मूत्र एवं कफ आदि घृणित उपादानों से निर्मित है तथापि जब ये ही वस्तुएँ कहीं पृथ्वी तल पर दर्शन एवं स्पर्श आदि को क्रमशः प्राप्त होती हैं तो मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति अपनी घृणा का उद्‌गार प्रकट करता है, फिर भी यह आश्चर्य है कि इन्हीं वस्तुओं के कोषरूप इस तुच्छ घृणित शरीर को मोहवश स्वात्मरूप से ग्रहण करता है, यह उसकी कितनी बड़ी मूर्खता एवं कितना महान् उन्माद है ?

व्यवहार में जिस शरीर को मनुष्य 'इदं' एवं 'मम' रूप से स्वीकार करता है उसी को उत्तरक्षण में उससे तादात्म्यभाव को प्राप्त हो 'अहं' बुद्धि से ग्रहण करता है अर्थात् जैसे मेरा घर, मेरा छाता, मेरा जूता, मेरी घड़ी आदि, इस प्रकार स्वीकार करने वाला कोई भी व्यक्ति व्यवहार में कभी भी मैं घर हूँ, मैं छाता हूँ, मैं जूता हूँ, मैं घड़ी हूँ—ऐसा नहीं मानता; क्योंकि ममरूपेण गृहीत वस्तु कभी भी 'अहं' नहीं हो सकती; परन्तु फिर भी यह कितने महान् आश्चर्य का विषय है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष भी माया से अत्यन्त ही मुग्ध हो, विवेकान्ध होने के कारण, मेरी शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरा प्राण आदि इस प्रकार कहते हुए भी, कार्यकरण के संघातरूप इस अनात्म शरीर को बुद्धिशून्य पशुओं की भाँति 'मैं' रूप से ही स्वीकार करते हैं। दूसरे, जिन अस्मरणीय, घृणित उपादानों से इसका सगठन हुआ है उसको भी वह, यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, यह मल-मूत्र है—इस प्रकार इन्हें इदंरूपेण स्वीकार करता हुआ भी इन्हीं वस्तुओं के पिण्डीभूत इस शरीर को पुनः अहंरूपेण यानी 'मैं' रूप से ही मानता है। तथा इसी भ्रान्तिजनित मल-मूत्र के भाण्डरूप शरीर को बाहर से मिट्टी-जलादि से शुद्ध करके, इसकी शुद्धि से अपनी शुद्धि

की भावना करता हुआ, मिथ्या ही गर्व से युक्त होता है। जैसे विष्ठा से पूर्ण घट कभी बाहर से शुद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह बाहर से शुद्ध किया हुआ शरीर भी, वस्तुतः शुद्ध नहीं होता। इसीलिए विवेक-विज्ञानसम्पन्न महापुरुषों द्वारा अज्ञानी-देहाभिमानी सर्वदा ही अपवित्र कहा गया है। क्योंकि केवल हड्डी-मांस में ही अभिनिवेश करने वाला महा-मूर्ख नरपशु भला, कब शुद्ध होने लगा?

जो शारीरिक मल-मूत्र आदि की स्पर्शजनित शुद्धि मिट्टी और जल से सम्पन्न की जाती है वह केवल लौकिक शुद्धि है, परन्तु वास्तविक शुद्धि तो इस शरीर में आरोपित 'अहं-मम' यानी 'मैं और मेरा'—इसको पूर्णतः त्याग करने से ही होती है। इसलिए ज्ञानरूपी मृत्तिका एवं वैराग्यरूपी जल से इस अज्ञानजनित अहंममात्मक मल का प्रक्षालन करना ही वास्तविक शौच है। आत्मचिन्तन के द्वारा 'मैं विशुद्ध आत्मा ही हूँ' शरीर नहीं,—ऐसा अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट 'शौच' कहा जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य इस उत्कृष्ट ज्ञान-शौच का परित्याग करके केवल बाह्य शौच में ही आस्था-बद्ध होकर उसी में रमा रहता है, वह मूर्ख मानो रत्न का त्याग कर सर्वत्र मिट्टी के ढेले का ही संग्रह करता है। इसीलिए ऐसे जड़बुद्धिवालों की शुद्धि अनेकानेक जन्मों में भी नहीं हो पाती। भला, जिस शरीर को स्पर्श करके अति पवित्र पंचगव्य आदि, मनोहर खाद्य पदार्थ, उत्तमोत्तम सुगंधित पेय पदार्थ एवं केसर, अगर, कस्तूरी आदि मूल्यवान् अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों से निर्मित अंगों में लेपन योग्य पदार्थ तथा अत्यन्त उज्ज्वल रेशमी आदि धवल वस्त्र भी, सर्वथा विकार को प्राप्त हो जाते हैं, उसकी कौन-सी उत्त-मता एवं शोभनीयता कही जाय? पर्वत की भाँति जिस शरीर से मल, मूत्र एवं कफ आदि घृणित वस्तुओं के स्रोत निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं एवं जिसके समस्त इन्द्रिय-छिद्रों से अपनी घ्राणेन्द्रिय को अत्यन्त उद्विग्न करने वाली दुर्गन्ध निकलती रहती है, उस घृणित अपवित्र दुर्गन्धित वस्तुओं के आधारभूत इस अनात्म शरीर को ही आत्मबुद्धि से ग्रहण करने वाला मनुष्य उन्मत्त नहीं तो और क्या है?

इसमें अभिनिवेश पूर्वक शारीरिक औपाधिक समस्त अनात्म धर्मों को अपना ही धर्म मानने वाला पुरुष निरा पशु ही है। ऐसे नृपशु को बारम्बार धिक्कार है। स्वभावतः कृमि, विट्, भस्म—इन तीन गतियों में ही केवल उपसंहृत होने वाला यह शरीर कैसे आत्मरूपेण गृहीत हो सकता है? श्वानों एवं गृद्धों के आहारभूत इस शरीर को अपना स्वरूप मानने वाला

मानव, बुद्धि प्रधान प्राणी होने पर भी, उन बुद्धिशून्य खर, शूकर, कूकर आदि पशुओं से भी अत्यधिक अधम, निन्दनीय एवं दयनीय है।

पुनः यह कितनी अद्भुत बात है कि यह संसार प्रत्यक्ष अपनी दुर्गन्धि को सूँघकर, अपने मल आदि को प्रतिदिन देखकर, उसको नित्य प्रति शरीर से बाहर निकालकर तथा उसके द्वारा अपनी नासिका को बारम्बार पीड़ा देकर भी इससे उद्विग्न--विरत नहीं होता। बार-बार उन्हीं-उन्हीं पूर्ण भुक्त एवं दृष्ट विभिन्न विषयों को निर्लज्ज होकर भोगता हुआ अपने अन्दर मिथ्या ही महत्ता का आरोप करता है। जो अपने शरीर की दुर्गन्धि को स्पर्श कर एवं देखकर भी उससे वैराग्य को प्राप्त नहीं होता, भला उस नृपशु को वैराग्य की प्राप्ति के लिए और क्या उपदेश दिया जाय ? तात्पर्य यह है कि विमल वैराग्य की प्राप्ति के लिए केवल अपने शरीर के अन्दर दोषों को देखना ही सुपर्याप्त है।

भला, जो आत्मा शीत-आतप एवं प्रकाश-अन्धकार की भाँति सर्वदा ही इस अनात्मा, जड़, दृश्य शरीर से भिन्न है, वह कभी शरीर भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? परन्तु मूर्खों ने अपनी मूर्खतावश मिथ्या ही मोहात्मक अज्ञान शक्ति के द्वारा उसे विपरीत भाव को प्रदान कर दिया है, यह मूर्खों की मूर्खता की बलिहारी है जिसके कारण असंभव को संभव करके दिखा दिया है यानी अपनी मूर्खता के द्वारा ही वह सदा सर्वदा अज को जन्मनेवाला, अविनाशी को विनाशी, अविकारी को विकारी, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न, अशरीरी को शरीरी, इन्द्रियातीत को इन्द्रियों से युक्त आदि इस प्रकार विरोधी धर्मवाला बनाकर इस संसार में स्वयं को विह्वल-सा कर दिया। जो इस हड्डी, मांस एवं मल-मूत्र के भाण्ड रूप तुच्छ शरीर में तादात्म्याध्यास को प्राप्त हो, अत्यन्त ही तरल गम्भीर, अहंकार रूप गड्ढे में गिरे हुए हैं तथा इसी को सर्वस्व मानकर इसके मिथ्या अभिमान से युक्त हो, इसी के पोषण में अपनी सारी सुधि-बुधि खोये बैठे हैं, उन मोहरूपी मदिरा को पीकर उन्मत्त, बहिर्मुख, विषयलम्पट तथा केवल शिश्नोदर परायण उन नृपशुओं को कभी भी अपने स्वरूपभूत सुखस्वरूप आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकता। इसी कारण वे मोहवश इस अनात्म स्थूल देह में ही अहं मम की प्रौढ़ मान्यता के कारण शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, निर्विकार सुखस्वरूप अपनी आत्मा को विस्मृत कर, मृगजलवत् रज्जुसर्पवत् एवं शुक्तिरजतवत् प्रतीयमान् इस भयंकर संसार-समुद्र में नित्य

निरंतर निमज्जनोन्मज्जन रूप आवागमन को प्राप्त हो, आधिभौतिक आदि त्रैतापों से व्यथित--संतप्त होते हुए अपने लक्ष्यभूत, नित्य सुख-शान्ति से वंचित हो रहे हैं। इसलिए इस अज्ञानजनित मोहात्मक जन्ममृत्युजरा-व्याधि से ग्रस्त अनात्म पांचभौतिक घृणित देह में आत्मबुद्धि की पूर्णतया निवृत्तिरूप उत्तम वैराग्य की प्राप्ति के लिए इसके स्वरूप, इसकी विभिन्न गर्भ, बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाएँ तथा उन विविध अवस्थाओं में आध्यासिक मिथ्या सम्बन्ध दोष से प्राप्त होने वाले दुःखों एवं दोषों का निरूपण प्रारंभ के पाँच अध्यायों में विशदरूपेण किया गया है, जिसका बारम्बार अध्ययन एवं मनन करके आत्यन्तिक कल्याण के अभिलाषी जिज्ञासु पुरुष, समस्त दुःखों के मूल कारणभूत मल-मांसमय इस अनात्म शरीर के मिथ्या अभिमान से मुक्त हो, अपनी विवेकवैराग्यादि साधनचतुष्टय सम्पन्न शुद्ध निर्विकार बुद्धि के द्वारा स्वरूपानुसंधान के परायण हो, अनादिकाल से विस्मृत अपने पारमार्थिक स्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन परात्पर ब्रह्म को स्वात्मरूपेण अनुभव कर, उस आत्मानंदरस का छक कर पान करते हुए उसी में निरंतर रमण करते हुए, उसी से तन्मय, तद्रूप एवं तन्निष्ठ हो, अपने से भिन्न किसी को भी न देखते, सुनते, समझते हुए, स्वात्मरत, स्वात्मक्रीड, स्वात्ममिथुन एवं आत्मानन्द हो, कृतकृत्य— जीवन्मुक्त हो सकें।

वैराग्यार्थ देह के स्वरूप
एवं
दोषों का वर्णन

आर्द्रान्त्रतन्त्री गहनो विकारी परितापवान् ।
देहः स्फुरति संसारे सोऽपि दुःखाय केवलम् ॥१॥

शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्व्यपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावसन्नेति ॥२॥

अस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ ३ ॥

कामक्रोधलोभभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ ४ ॥

मल, मूत्र, शुक्र और शोणित से आर्द्र नाड़ियों से परिव्याप्त, विविध प्रकार के विकारों से युक्त और पतनशील यह जीवदेह संसार में केवल दुःखभोग के लिए प्रकाशित हो रही है ।

स्त्री-पुरुष के संयोग से यह शरीर उत्पन्न होता है, यह चेतनरहित है और मानो नरक ही है । मूत्रद्वार में से निकलने वाला यह शरीर हड्डियों से गठित किया गया है, मांस से लीपा गया है, चमड़े से मढ़ा गया है और विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद-चरबी आदि से भरपूर है ।

यह शरीर मानो समस्त दूषित वस्तुओं का खजाना हो—ऐसा प्रतीत होता है।

अस्थि-हड्डी, चमड़ा, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, रक्त, श्लेष्म और अश्रु से दूषित तथा विष्ठा, मूत्र वात, पित्त, कफ आदि के संघातभूत इस अत्यन्त दुर्गन्धित एवं निस्सार शरीर में विषयभोगों से क्या प्रयोजन ?

काम, क्रोध, लोभ, भय, दुःख, ईर्ष्या, प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, भूख, प्यास, जरा, मृत्यु रोग एवं शोक आदि से प्रपीड़ित इस घृणित, तुच्छ शरीर में विषय-भोगों से क्या प्रयोजन ? ॥ १–४ ॥

स्तोकेनाऽऽनन्दमायाति स्तोकेनाऽऽयाति खेदिताम् ।
नाऽस्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणबहिष्कृतः ॥५॥
तात सन्तरणार्थेन गृहीतायां पुनः पुनः ।
नावि देहलतायां च कस्य स्यादात्मभावना ॥६॥
देहनाम्नि वने शून्ये बहुगर्त्तसमाकुले ।
तनूरुहासंख्यतरौ विश्वासं कोऽधिगच्छति ॥७॥
रक्तमांसमयस्याऽस्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥८॥
मरणावसरे काया जीवं नाऽनुसरन्ति ये ।
तेषु तात कृतघ्नेषु कैवाऽऽस्था वद धीमताम् ॥९॥
भुक्त्वा पीत्वा चिरंकालं बालपल्लव पेलवाम् ।
तनुतामेत्य यत्नेन विनाशमनुधावति ॥१०॥

यह शरीर अल्प खाने-पीने से आनन्द को प्राप्त होता है और अल्प शीत-घाम आदि में क्लेश को प्राप्त होता है। इसलिए शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है। संसार-सागर को पार करने के लिए पुनः-पुनः गृहीत नौकारूप देह में किसकी आत्मबुद्धि होगी ?

रोमरूप असंख्य वृक्ष और इन्द्रिय रूपी अनेक गड्ढों से युक्त देह नामक निर्जन वन में कौन पुरुष विश्वास को (यह चिरकाल तक निःशंक होकर रहने योग्य है, ऐसी प्रतीति को) प्राप्त होगा ?

रक्त, मांस से विरचित विनाशशील इस देह के बाहर और भीतर भली-भांति देखकर कहिए कि इसमें कौन-सी रमणीयता है ?

भला, आप ही कहिए कि जो शरीर मरने के समय जीव के पीछे नहीं जाते—जीव का त्याग कर देते हैं, उन कृतघ्न शरीरों पर ज्ञानवान् पुरुषों का क्या आदर हो सकता है ?

चिरकाल तक भलीभाँति सुन्दर खाद्य और पेय पदार्थों को खा पीकर यह नवीन पल्लव के समान कोमल कृशता को प्राप्त होकर स्वतः विनाश की ओर अग्रसर होता है ।। ५--१० ।।

तान्येव सुखदुःखानि भावाभावमयान्यसौ ।
भूयोऽप्यनुभवन् कायः प्राकृतो हि न लज्जते ।।११।।

सुचिरं प्रभुतां कृत्वा संसेव्य विभवश्रियम् ।
नोच्छ्रायमेति न स्थैर्यं कायः किमिति पाल्यते ।।१२।।

जराकाले जरामेति मृत्युकाले तथा मृतिम् ।
सम एवाऽविशेषज्ञः कायो भोगिदरिद्रयोः ।।१३।।

दहनैकार्थयोग्यानि कायकाष्ठानि भूरिशः ।
संसाराब्धाविहोह्यन्ते कश्चित्तेषुः नरं विदुः ।।१४।।

दीर्घदौरात्म्यवलया निपातफलपातया ।
न देहलतया कार्यं किञ्चिदस्ति विवेकिनः ।।१५।।

यह पामर शरीर पूर्वजन्मों में बार-बार उपभुक्त ही भाव और अभावरूप सुख-दुःखों का पुनः-पुनः अनुभव करता हुआ लज्जित नहीं होता । जब यह दीर्घकाल तक लोगों पर अपना आधिपत्य जमा कर और विविध विभवों को पाकर न तो वृद्धि या उत्कर्ष को प्राप्त होता है और न स्थिरता को प्राप्त होता है, तब इसके परिपालन या परिरक्षण से क्या लाभ ?

यह शरीर बुढ़ापे के समय में बुढ़ापे को अवश्य प्राप्त होता है और मरने के समय मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है, यह नियम भाग्यवान् और दरिद्र दोनों के लिए समान है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है; किन्तु यह बात इस अधम देह को ज्ञात नहीं है ।

इस संसाररूप महासागर में केवल जलना ही जिनका मुख्य प्रयोजन है, ऐसे हजारों देहरूपी काष्ठ भासित होते हैं । पर धीमान् जन उनमें से

किसी को ही "नर" कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञानाग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, वह देह ही नर-देह है।

दुष्टतारूपी बड़े-बड़े प्रतानों से युक्त और दुश्चरितों से जिसका पतन अवश्यम्भावी है, ऐसी देहरूपी लता से विवेकी पुरुष का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥११–१५॥

मज्जनकर्दमकोशेषु झटित्येव जरां गतः।
न ज्ञायते यात्यचिरात् कः कथं देहदर्दुरः ॥१६॥

वायोर्दीपस्य मनसो गच्छतो ज्ञायते गतिः।
आगच्छतश्च भगवञ्छरीरस्य कदाचन ॥१७॥

बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिग्धिगस्तु पुनः पुनः ॥१८॥

नाऽहं देहस्य नो देहो मम नाऽयमहं तथा।
इति विश्रान्तचित्ता ये ते मुने पुरुषोत्तमाः ॥१९॥

मानावमानबहुला बहुलाभमनोरमाः।
शरीरमात्रबद्धास्थं घ्नन्ति दोषदृशो नरम् ॥२०॥

यह शरीर कीचड़ से भरे पल्वलों (तलैयों) में निमग्न मेंढक के समान विषयभोगों में अत्यन्त निमग्न होकर वृद्धावस्था से आक्रान्त हो जाता है, किन्तु यह शीघ्र ही कहाँ जाएगा और किस प्रकार की दुर्दशाओं से ग्रस्त होगा, यह ज्ञात नहीं होता।

वायु की, दीपक की और मन की गति—उत्पत्ति और विनाश जैसे अज्ञात हैं वैसे ही इस शरीर की उत्पत्ति, विनाश आदि अज्ञात हैं। यह क्या है? किस प्रकार से और कहाँ से आता है? और कहाँ जाता है? इस बात को कोई नहीं जानता।

जो लोग इन नाशवान् शरीरों में आस्था रखते हैं—इन्हें नित्य स्थिर रहने वाला मानते हैं तथा जो संसार की स्थिरता पर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिरा का पान करके उन्मत्त हो गए हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है।

'मैं न तो इस शरीर का कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ; न यह शरीर

मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ।'—ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मा में विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषों में उत्तम हैं।

जो मान और अपमान से वृद्धि को प्राप्त हुई हैं और प्रचुर लाभ से मनोरम प्रतीत होती हैं, वे दोषपूर्ण दृष्टियाँ केवल शरीर में नित्यत्व का विश्वास रखने वाले मनुष्य को नष्ट कर देती हैं ॥१६–२०॥

प्रज्ञा वराकी सर्वैव कायबद्धास्थयाऽनया ।
मिथ्याज्ञानकुराक्षस्या छलिता कष्टमेकिका ॥२१॥

न किञ्चिदपि दृश्येऽस्मिन् सत्यं तेन हतात्मना ।
चित्रं दग्धशरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥२२॥

दिनैः कतिपयैरेव निर्झराम्बुकणो यथा ।
पतत्ययमयत्नेन जरठः कायपल्लवः ॥२३॥

कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
व्यर्थं कार्यपरावर्त्ते परिस्फुरति निष्फलः ॥२४॥

तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥२५॥

शरीर में ही नित्यता का विश्वास रखने वाली इस मिथ्याज्ञानरूपिणी दुष्ट राक्षसी ने अकेली (असहाय) दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूप से ठग लिया, यह बड़े ही कष्ट की बात है।

जब इस दृश्य प्रपञ्च में कोई भी वस्तु सत्य नहीं है तब उसके मध्यपाती होने से यह शरीर भी सत्य नहीं है। अपने आप जले हुए इस असत्य शरीर से जनता ठगी जाती है, यह महान् आश्चर्य है।

कुछ ही दिनों में जीर्णता को प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झरने के जल की बूँदों के समान बिना किसी यत्न के अपने आप गिर पड़ता है यानी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

समुद्र में उत्पन्न हुए जल के बुद्बुदों की नाईं इस शरीर का विनाश शीघ्र हो जाता है। यह संसार में परिभ्रमणरूपी जलभँवर में व्यर्थ ही प्रकाश को प्राप्त होता है।

जिस पुरुष ने बिजली में, शरत् ऋतु के मेघों में और गन्धर्वनगर में—ये चिरस्थायी हैं, ऐसा निर्णय कर लिया है वही इस शरीर की नित्यता पर विश्वास करेगा ॥२१–२५॥

यथा जातानि जातानि चाऽन्यान्यन्यानि कालतः ।
वृक्षात् पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ॥ २६ ।

जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥ २७ ॥

चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देह बुद्बुदपङ्क्तयः ।
इतश्चाऽन्या इतश्चाऽन्या एतास्वास्था न धीमतः ॥ २८॥

भूतपञ्चकसंपिण्डाद् रचिता जनताः पृथक् ।
एकस्मादेव विटपाद् विचित्रा इव पुत्रिकाः ॥ २९

काष्ठेतरत्काष्ठभारे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ।
भूतपिण्डेतरद्देहे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ॥ ३०

जिस प्रकार विभिन्न-विभिन्न पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं उसी प्रकार जीवों के ये शरीर भी झड़ जाते हैं। जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट हुआ ही करते हैं अतः उनके विषय में शोक ही क्या ?

चैतन्यसमुद्र में ये देहरूपी बुद्बुदों की पंक्तियाँ यहाँ एक प्रकार की, तो दूसरी जगह दूसरे प्रकार की होकर स्फुरित होती हैं। बुद्धिमान् जन इनमें आस्था नहीं करते ।

जैसे एक ही वृक्ष से विलक्षण-विलक्षण पुतलियाँ--मूर्तियाँ बन ाई जाती हैं वैसे ही पाँच भूतों के संघात से विभिन्न-विभिन्न जन समूह बनाये गये हैं।

जैसे लकड़ियों के बोझ में लकड़ियों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतों के शरीर में पाँच भूतों के पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ॥२६–३०॥

भूतपञ्चकविक्षोभनाशोत्पादेषु हे जनाः ।
हर्षामर्षविषादानां किं भवन्तो वशं गताः ॥३१॥

शरीरं रोगनिलयं मलाद्यैः परिदूषितम् ।
किमर्थं शाश्वतधिया कुर्यात्पापं नरो वृथा ॥३२॥

यतः प्रातः संस्कृतं सायं नूनमन्नं विनश्यति ।
तदीयरससम्पुष्टकाये का बत नित्यता ॥३३॥

त्रिधावस्थास्य देहस्य कृमिविड्भस्मरूपतः ।
को गर्वः क्रियते तात क्षणविध्वंसिभिर्नरैः ॥३४॥

नास्ति देह समः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ।
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि क्वैव कायस्य रम्यता ॥३५॥

हे मनुष्यों ! तुम लोग पाँचभूतों का क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होने पर हर्ष, अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हो ?

यह शरीर रोगों का घर है, यह मल आदि से सदा दूषित रहता है। फिर मनुष्य इसे सदा रहने वाला समझकर व्यर्थ पाप क्यों करते हैं ? जो प्रातःकाल अन्न तैयार होता है, वह संध्या तक नष्ट हो जाता है, फिर उसी के रस से पुष्ट इस शरीर की नित्यता कैसी ?

इस शरीर की बस, तीन प्रकार की ही अवस्थायें हैं--कृमि, विष्ठा और भस्म। पृथ्वी में गाड़ दिए जाने पर इसमें कीड़े पड़ जाते हैं, यह कृमिरूप हो जाता है। बाहर या जल में फेंके जाने पर मगर, घड़ियाल, कौए, कुत्ते, सियार और गीध आदि जीव इसे खाकर विष्ठा कर डालते हैं, तथा आग में जला डालने पर यह भस्म हो जाता है। ऐसे क्षणभंगुर शरीर पर मनुष्य के गर्व का क्या अर्थ है ?

शरीर के समान गुणहीन, नीच तथा शोचनीय वस्तु कोई नहीं है। भीतर और बाहर रक्त और मांस से व्याप्त, केवल विनाशशील इस शरीर में रम्यता कहाँ, बतलाइए तो ? ॥३१-३५॥

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥३६॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥३७॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहेचेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥३८॥

सा कालपुत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥३९॥

सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी ॥४०॥

यह शरीर रोगों का घर है। इसमें हड्डियों के खम्भे लगे हैं। स्नायुजाल की डोरी से यह बँधा है। मांस और रक्त इस पर थोप दिया गया है। इसे चमड़े से मढ़ दिया गया है। यह मल और मूत्र से सदा ही पूर्ण रहता है। इससे दुर्गन्ध निकलती रहती है। बुढ़ापे और शोक से व्याप्त होने के कारण यह सदा आतुर (असमर्थ) रहता है। वीर्य और रज से उत्पन्न होने के कारण यह रजस्वल है। साथ ही यह अनित्य भी है (आज गिरेगा कि कल, इसका कोई ठिकाना नहीं है)। इसमें पाँच भूत सदा ही डेरा डाले रहते हैं। अतः इसे त्याग दे यानी इसके प्रति अहंता और ममता न रक्खे। यदि मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियों के समुदायभूत इस शरीर से प्रेम करता है तो वह नरक से भी अवश्य प्रेम करेगा। इस शरीर में जो अहंभाव है, वही कालसूत्र नामक नरक का मार्ग है, वही महावीचि नामक नरक में ले जाने के लिए बिछा हुआ जाल है तथा वही असिपत्रवन नामक नरक की श्रेणी है। शरीर में होने वाली अहंता कुत्ते का मांस लेकर चलने वाली चाण्डालिनी के समान है, उसको सब प्रकार के यत्नों द्वारा त्याग दे। सर्वनाश उपस्थित हो, तो भी कल्याण-कामी पुरुष को उसका स्पर्श तक नहीं करना चाहिए॥ ३५—४०॥

शुक्रशोणित संयोगाद्देहस्स जायते यतः ।
नित्यं विण्मूत्रसम्पूर्णस्तेनायमशुचिस्स्मृतः ॥४१॥
यथान्तर्विष्ठया पूर्णश्शुचिमान्न बहि घटः ।
शोध्यमानो हि देहोऽयं तेनायमशुचिस्ततः ॥४२॥

सम्प्राप्यति पवित्राणि पञ्चगव्यं हवींषि च ।
अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति किमन्यदशुचिस्ततः ॥४३॥

हृद्यान्यप्यन्नपानादि यं प्राप्य सुरभीणि च ।
अशुचित्वं प्रयान्त्याशु किमन्यदशुचिस्ततः ॥४४॥

हे जनाः किं न पश्यन्ति यन्निर्याति दिने दिने ।
स्वदेहात्कश्मलं पूतिस्तदाधारः कथं शुचिः ॥४५॥

यह शरीर वीर्य और रज के संयोग से उत्पन्न होता है और नित्य विष्ठा तथा मूत्र से परिपूर्ण होता है, इसी से यह अपवित्र कहा गया है। जिस प्रकार विष्ठा से पूर्ण घट बाहर से शुद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह शुद्ध किया हुआ शरीर भी अपवित्र कहा गया है।

अति पवित्र पंचगव्य तथा हवि आदि भी जिसको प्राप्त होकर क्षण-मात्र में अपवित्रता को प्राप्त हो जाते हैं तो फिर उससे अधिक और क्या अपवित्र है ?

हृदय को अति प्रिय लगने वाले मनोहर अन्न-पान भी जिसको प्राप्त होकर शीघ्र ही अपवित्र हो जाते हैं, उससे अपवित्र और क्या हो सकता है ?

हे मनुष्यों ! क्या तुम नहीं देखते हो कि जो प्रति दिन अपने शरीर से मल-मूत्रादि निकलता है, उसका आधार कैसे पवित्र हो सकता है ? ॥ ४१--४५ ॥

देहस्संशोध्यमानोऽपि पञ्चगव्य कुशांबुभिः ।
घृष्यमाण इवांगारो निर्मलत्वं न गच्छति ॥४६॥

स्रोतांसि यस्य सततं प्रभवंति गिरेरिव ।
कफमूत्रपुरीषाद्यैस्स देहश्शुध्यते कथम् ॥४७॥

सर्वाशुचिनिधानस्य शरीरस्य न विद्यते ।
शुचिरेकः प्रदेशोऽपि विण्मूत्रस्य दृतेरिव ॥४८॥

सृष्ट्वात्मदेहस्रोतांसि मृत्तोयैः शोध्यते करः ।
तथाप्यशुचिभाण्डस्य न विभ्रंश्यंति किंकराः ॥४९॥

दुर्गन्धं सर्वरन्ध्रेषु स्वघ्राणोद्वेगकारकम् ।
सततं स्रवतेऽमेध्यं किं देहस्योच्यते शुभम् ॥५०॥

ंचगव्य तथा कुशाओं के जलों से शोधन किया हुआ भी शरीर घिसे हुये अङ्गारे के समान निर्मल नहीं हो सकता ।

पर्वत के समान जिस शरीर से कफ, मूत्र, विष्ठा आदि के स्रोत निरतर बहते हैं भला, वह शरीर किस प्रकार शुद्ध हो सकता है ?

सम्पूर्ण अपवित्रता के कोषरूप इस शरीर का कोई स्थान भी विष्ठा एवं मत्र के चर्म के समान पवित्र नहीं है। अपने देह के मल के स्रोतों से मल को निकालकर हाथ मिट्टी तथा जल से शुद्ध किया जाता है तो भी यह इस शरीर का अवयव रूप "कर" अपवित्रता के पात्र इस शरीर से अलग नहीं होता। शरीर में स्थित समस्त इन्द्रिय-छिद्रों से अपनी घ्राणेन्द्रिय को अत्यन्त उद्विग्न करने वाला अपवित्र दुर्गन्ध सतत् प्रवाहित होता रहता है तब भला, शरीर की उत्तमता क्या कही जाय ? ॥ ४६-५० ॥

कायस्सुगन्धधूपाद्यैर्यत्नेनापि सुसंस्कृतः ।
न जहाति स्वभावं स श्वपुच्छमिव नामितम् ॥५१॥

यथा जात्यैव कृष्णोर्थः शुक्लः स्यान्नह्युपायतः ।
संशोध्यमानापि तथा भवेन्मूर्तिर्न निर्मला ॥५२॥

जिघ्रन्नपि स्वदुर्गन्धं पश्यन्नपि स्वकं मलम् ।
न विरज्येत लोकोऽयं पीडयन्नपि नासिकाम् ॥५३॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं येनेदं छादितं जगत् ।
शीघ्रं पश्यन्स्वकं दोषं कायस्य न विरज्यते ॥५४॥

स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥५५॥

यत्नपूर्वक श्रेष्ठ गन्ध, धूप आदि से भली भाँति संस्कार किया हुआ भी यह देह नमाई हुई कुत्ते की पूँछ के समान अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता । जिस प्रकार काली वस्तु किसी भी उपाय से श्वेत नहीं हो सकती, उसी प्रकार शुद्ध की हुई भी यह मूर्ति निर्मल नहीं हो सकती । यह संसार अपने

दुर्गन्धि को सूँघकर और अपने मल को देखकर भी तथा नासिका को पीड़ा देकर भी वैराग्य को नहीं प्राप्त होता। यह मोह का कितना अद्भुत माहात्म्य है तथा जिसने समस्त जगत् को आच्छादित कर लिया है जिसके कारण मनुष्य अपने शरीर के दोष को देख करके भी वैराग्य को नहीं प्राप्त होता।

जो मनुष्य अपने शरीर की दुर्गन्धि से वैराग्य को प्राप्त नहीं होता तो फिर उसके विराग का कारण और क्या उपदेश दिया जाय? ॥५१—५५॥

सर्वस्यैव जगन्मध्ये देह एवाशुचिर्भवेत्।
तन्मलावयवस्पर्शाच्छुचिरप्यशुचिर्भवेत् ॥५६॥

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम्।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥५७॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम्।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥५८॥

नवद्वारमलस्रावं सदाकाले स्वभावजम्।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥५९॥

मातृसूतकसम्बन्धं सूतके सह जायते।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥६०॥

संसार में सब मनुष्यों का शरीर ही अपवित्र है उसके मल के अवयव-स्पर्श से पवित्र वस्तु भी अपवित्र हो जाती है।

माता-पिता के मल से बना हुआ, जन्म-मरण वाला, सुख-दुःख का स्थानरूप और अपवित्र, ऐसे शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए। सात धातुओं से बने हुए, महारोग वाले, पाप के घर के सदृश, अस्थिर और विकारों के आकार से भरे हुए, ऐसे शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए। नेत्र, श्रोत्र आदि नौ दरवाजों द्वारा जिसमें से नित्य स्वभावतः मल निकला करता है तथा जो इस मल के दुर्गन्ध से भरा हुआ है, ऐसे दुष्ट मलिन शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए।

माता के सूतक से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के साथ ही सूतक

भी जन्म लेता है और मरण का सूतक भी इसके साथ लगा रहता है, इसलिए इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए ? ॥ ५६–६० ॥

अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्ध शौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥६१॥

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम् ।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥६२॥

स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ।
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः ॥६३॥

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्त निर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥६४॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।

स मूढ़ः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ॥६५॥

मल, मूत्र आदि दुर्गन्ध की शुद्धि तो मिट्टी-जल आदि से ही होती है, परन्तु यह तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो 'अहं' 'मम' यानी 'मैं और मेरा"––इसको त्याग करने से ही होती है।

ज्ञान रूपी मिट्टी और वैराग्यरूपी जल से धोना ही वास्तविक शौच कहलाता है। यह शौच चित्त की शुद्धि करने वाला एवं वासनात्रय का नाशक है। मिट्टी और जल के द्वारा शरीर को पवित्र करना बाह्य शौच है और आत्मचिन्तन को ही आभ्यन्तर शौच कहा गया है। ज्ञानी जन "मैं विशुद्ध आत्मा हूँ" इस प्रकार के अनुभव को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। यह देह अत्यन्त मलयुक्त है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है––इस प्रकार देह और आत्मा के अन्तर का ज्ञान हो जाने पर किसकी शुचिता का उपदेश किया जाय ?

जो मनुष्य ज्ञान-शौच का परित्याग करके केवल बाह्य शौच में ही

रमा रहता है, वह मूढ़ स्वर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेले का ही संग्रह करता है ॥६१—६५॥

न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः ॥६६॥

विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते ।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥६७॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाऽशुचि ॥६८॥

भ्रमन्सर्वेषु तीर्थेषु स्नात्वा स्नात्वा पुनः पुनः ।
निर्मलं न मनो यावत्तावत्सर्वं निरर्थकम् ॥६९॥

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा ।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ॥७०॥

मनुष्य केवल शरीर के मल का त्याग करने से ही निर्मल नहीं होता, अपितु मन के मल का त्याग करने से ही आभ्यन्तर सुनिर्मल होता है। विषयों में अत्यधिक राग मानसिक मल कहा जाता है, उन्हीं विषयों में इसका रागरहित होना निर्मलता कही गई है।

शरीर के भीतर रहने वाला दूषितचित्त बाह्य तीर्थों में स्नान करने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जिस प्रकार अपवित्र मद्यपात्र सैकड़ों बार जल से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता।

सम्पूर्ण तीर्थों में भ्रमण करते हुए बार-बार स्नान करने पर भी जब तक मन शुद्ध न हो, तब तक सब कुछ निरर्थक है।

दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थ-सेवन और शास्त्रश्रवण—ये सब तीर्थ होते हुए भी अतीर्थ हैं यदि भाव निर्मल नहीं हुआ ॥ ६६—७० ॥

भावतीर्थं परंतीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता ॥७१॥

बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।
आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ॥७२॥

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं च महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ।७३॥

सर्वेण गांगेन जलेन सम्यङ्
मृत्पर्वतेनाप्यथ भावदुष्टः ।
आजन्मनः स्नानपरो मनुष्यो
न शुद्ध्यतीत्येव वयं वदामः ॥७४॥

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलशमादियुक्ता ।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥७५॥

भावतीर्थ ही परम तीर्थ है, इसके लिए सभी कर्मों में प्रमाण है। जैसे पुत्री का आलिंगन अन्य प्रकार से किया जाता है और स्त्री का आलिंगन अन्य प्रकार से।

जड़ बाह्य तीर्थ से आन्तर तीर्थ बढ़कर है। आत्मतीर्थ महातीर्थ है और अन्य सब तीर्थ निरर्थक हैं। आत्मतीर्थ को छोड़कर जो बाह्य तीर्थों में भटकता-फिरता है, वह मानों हाथ में रक्खे हुए बहुमूल्य रत्न को त्याग कर काँच को ढूँढ़ता-फिरता है।

दूषितभावसम्पन्न मनुष्य सम्पूर्ण गंगा जल एवं मृत्तिका के पर्वत से भी भलीभाँति जीवन पर्यन्त स्नान करे, तो भी वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता—ऐसा हम कहते हैं।

आत्मा नदी है, संयम ही पवित्र तीर्थ है, शील, शमादियुक्त सत्य ही जल है। उसमें स्नान करके पुण्य कर्मोंवाला व्यक्ति पवित्र होता है। जल से अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती ॥ ७१—७५ ॥

आत्मज्ञानांभसि स्नात्वा सकृदालिप्यभावतः ।
सुवैराग्यमृदा शुद्धः शौचमेव प्रकीर्तितम् ॥७६॥

ज्ञानामलांभसा पुंसां सद्वैराग्यमृदा पुनः ।
अविद्यारागविण्मूत्रलेपगंधविशोधनम् ॥७७॥

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥७८॥

आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः।
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो भवत्ययम् ॥७६॥

अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥८०॥

उत्तम वैराग्यरूपी मिट्टी से एक बार भी भाव से आलिप्त हुआ व्यक्ति यदि आत्मज्ञानरूपी जल में स्नान करके शुद्ध हो जाय, तो इसे ही 'शौच' कहते हैं। ज्ञानरूपी निर्मल जल से तथा श्रेष्ठ वैराग्यरूपी मृत्तिका से मनुष्यों की अविद्या, रागरूपी मल-मूत्र के लेपरूप गन्ध की विशेष शुद्धि होती है। राग-द्वेष रूपी मल का अपहरण करने वाले ध्यान से पवित्र हुए, ज्ञानरूपी जलवाले मानसतीर्थ में जो स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

नित्य सुखस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा सदैव शुद्ध है। यह अज्ञान से मलिन प्रतीत होता है और ज्ञान से शुद्ध हो जाता है।

जो पुरुष अज्ञानरूपी मल को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही सदैव शुद्ध है। जो ज्ञान की उपेक्षा करके लौकिक कर्मों में आसक्त रहता है, वह पुरुष शुद्ध नहीं है ॥ ७६—८० ॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥८१॥

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्य-
मनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम्।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे
यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८२॥

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८३॥

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥८४॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल मूत्र से भरा हुआ यह स्थूल देह अतिनिन्दनीय है। जो अनादि अविद्याकृत बन्धन को छुड़ाना रूप अपना कर्तव्य त्याग कर प्रतिक्षण इस

परार्थ (अन्य के भोग्यरूप) देह के पोषण में ही लगा रहता है वह अपनी इस प्रवृत्ति से स्वयं अपना घात करता है। जो शरीर-पोषण में लगा रहकर आत्मतत्त्व को देखना चाहता है वह मानो काष्ठबुद्धि से ग्राह को पकड़कर नदी पार करना चाहता है। शरीर आदि में मोह रखना ही मुमुक्ष को बड़ी भारी मौत है। जिसने मोह को जीता है वही मुक्तिपद का अधिकारी है ॥ ८१–८४ ॥

इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनाऽऽत्मा भव्यभावितः।
स सर्वज्ञोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥८५॥

अयं सोऽहमिति स्फारान्मोहादन्यतरतमः।
अनर्थभूतं संसारे न भूतं न भविष्यति ॥८६॥

अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जति नाऽऽत्मवान्।
अयं सोऽहमिद तन्म इति मज्जत्यनात्मवान् ॥८७॥

अहंकारपिशाचेन गृहीतो यो नराधमः।
न शास्त्राणि न मन्त्राश्च तस्याऽभावस्य सिद्धये ॥८८॥

जिसने 'यह आत्मा केवल देहमात्रपरिच्छिन्न है 'यह भावना की, वह सर्वज्ञ क्यों न हो, सर्वत्र ही परम दीनता को प्राप्त होता है। 'यह देह मैं हूँ' इस प्रकार के प्रबल अज्ञान से बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान न इस संसार में हुआ और न होगा। 'यह देह मैं हूँ' तथा 'ये स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' यों आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता। 'यह देह मैं हूँ तथा 'ये स्त्री-पुत्रादि मेरे हैं' यों अनात्मज्ञानी निमग्न होता है। जिस अधम पुरुष को देहाभिमानरूपी पिशाच ने अपने चंगुल में फँसा लिया, उसके उस अहंकाररूपी पिशाच को निवृत्त करने के लिए न शास्त्रों में सामर्थ्य है और न मन्त्रों में ही।

॥८५-८८॥

सर्वगे स्वात्मनि स्वच्छे एषोऽहमिति भावना।
एतत् तद् बन्धनं लोके स्वविकल्पोपकल्पितम् ॥८९।

ये वै तरलगम्भीरमहन्तागर्तमाश्रितः।
पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥९०॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः सा संसारनिबन्धिनी।
न कदाचिदियं बुद्धिरादेया हि मुमुक्षुभिः ॥९१॥

सर्वव्यापक स्वच्छ आत्मा में 'मैं एतद्देहमात्र हूँ' इस प्रकार की जो

भावना है यह लोक में अपने विकल्पों से कल्पित उसका बन्धन है। जो पुरुष तरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढे में गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाश को कभी देख नहीं सकते। 'देह मैं हूँ' यह जो बुद्धि है वह संसार में फँसाने वाली है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को ऐसी बुद्धि कभी नहीं अपनानी चाहिये ? ॥ ८६–९१ ॥

ज्ञात्वैवं दोषवद्देहं यः प्राज्ञश्शिथिलो भवेत्।
देहभोगोद्भवाद्भावाच्छमचित्तः प्रसन्नधीः ॥९२॥
सोऽतिक्रामति संसारं जीवन्मुक्तः प्रजायते।
संसारं कदलीसारदृढग्राह्यावतिष्ठते ॥९३॥

इस प्रकार इस देह को दोषयुक्त समझकर जो बुद्धिमान् पुरुष इससे शिथिल—विरत होता है, वह देह के भोगों से उद्भूत रागद्वेषादि भावों से उपरतचित्त हो, बुद्धि की प्रसन्नता-निर्मलता को प्राप्त होकर, इस संसार का अतिक्रमण कर, संसाररूपी केले के सारभूत परमात्मतत्त्व को स्वात्मरूपेण अनुभव कर जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ९२–९३ ॥

इसलिए इस मायामय स्वप्नतुल्य क्षणविध्वंसी पारावाररहित अथाह भयंकर संसारसागर को पार करने के इच्छुक कल्याणकामी पुरुषों को चाहिए कि प्रबल वैराग्यरस के रसिक होकर,

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूय कृती भव ॥९४॥

माता-पिता के रज-वीर्य रूप मल से उत्पन्न इस मलमांसमय अनात्मशरीर को चाण्डाल के समान दूर से ही त्यागकर स्वरूपभूत ब्रह्म को स्वात्मरूपेण अनुभव कर ब्रह्मभूत होकर कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो जाँय ॥ ९४ ॥



वैराग्यार्थ जीव के गर्भ, बाल्य एवं यौवनादि अवस्थाओं

तथा

क्लेशबहुल संसार में असारत्व का वर्णन

शृणु तात समासेन शास्त्रसारमशेषतः ।
वदिष्यामि सुवैराग्यं मुमुक्षोर्भवबन्धकृत् ॥१॥

शुक्रोऽन्नाज्जायते शुक्राद्दिव्यदेहस्य संभवः ।
ऋतुकाले यदा शुक्रं निर्दोषं योनि संस्थितम् ।
तदा तद्वायु संस्पृष्टं स्त्रीरक्तेनैकतां व्रजेत् ॥२॥

विसर्गकाले शुक्रस्य जीवः कारणसंयुतः ।
नित्यं प्रविशते योनिं कर्मभिः स्वैर्नियन्त्रितः ॥३॥

हे तात ! सुनो, सम्पूर्ण शास्त्रों के साररूप वैराग्य को मैं संक्षेप से कहूँगा, जो मुमुक्षुओं के जन्म-मृत्युरूप सांसारिक बन्धन को काटने वाला है।

अन्न से वीर्य एवं वीर्य से विलक्षण शरीर की उत्पत्ति होती है। जब ऋतुकाल में स्त्री की निर्दोष योनि में शुक्र स्थापित किया जाता है तब वह वायु से संस्पृष्ट होकर स्त्री के रक्त के साथ एकत्व को प्राप्त होता है। शुक्र के विसर्ग काल में सदैव जीव अपने कारण—अविद्या आदि अष्टपुरी के साथ अपने कर्मों द्वारा प्रेरित होकर योनि में प्रवेश करता है ॥१—३॥

शुक्रस्य सहरक्तस्य एकाहात्कलिलं भवेत् ।
पञ्चरात्रेण कलिले बुद्बुदत्वं ततो भवेत् ॥४॥

मांसत्वं माससमात्रेण पञ्चधा जायते पुनः ।
ग्रीवा शिरश्च स्कन्धश्च पृष्ठवंशस्तथोदरम् ॥५॥

पाणिपादौ तथा पार्श्वौ कटिगात्रं तथैव च ।
मासद्वयेन पर्वाणि क्रमशः सम्भवन्ति च ॥६॥

त्रिभिर्मासैः प्रजायन्ते सर्वे ह्यंकुरसंधयः ॥
मासैश्चतुर्भिर्जायन्ते अङ्गुल्यादि यथाक्रमम् ॥७॥

एक ही दिन में रक्तमिश्रित शुक्र का कलिल हो जाता है और पश्चात् पाँच रात्रियों में कलिल बुद्बुद का रूप धारण कर लेता है। महीने भर में वह मांस का रूप धारण करता है और पुनः गर्दन, शिर, कन्धे, पीठ और पेट—इन पाँच भागों में विभाजित हो जाता है। वैसे ही हाथ, पैर, बगल तथा वैसे ही कमर आदि अंग हो जाते हैं, और दो महीने में अंगों की संधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तीन महीनों में सभी शाखाओं-प्रशाखाओं की संधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और चार महीनों में क्रमशः अङ्गुली आदि अवयव भी हो जाते हैं ॥४-७॥

मुखं नासा च कर्णौ च मासैर्जायन्तिपञ्चभिः।
दन्तपङ्क्तिस्तथाजिह्वा जायते तु नखाः पुनः ॥८॥
कर्णयोश्च भवेच्छिद्रं षण्मासाभ्यन्तरे पुनः।
पायुर्मेढ्रमुपस्थं च शिश्नश्चाप्युपजायते ॥९॥
सन्धयो ये च गात्रेषु मासैर्जायन्ति सप्तभिः।
अङ्गप्रत्यङ्गसम्पूर्णं शिरः केशसमन्वितम् ॥१०॥
विभक्तावयवस्पष्टं पुनर्मासेऽष्टमे भवेत्।
पञ्चात्मकसमायुक्तः परिपक्वः स तिष्ठति ॥११॥

पाँच महीनों में मुख, नाक और कान हो जाते हैं और दन्तावली, जीभ तथा नख भी उत्पन्न हो जाते हैं। पुनः छः महीनों में दोनों कानों में छिद्र हो जाते हैं और पायु, मेढ्र, उपस्थ और शिश्न भी हो जाते हैं। अङ्गों में जो-जो संधियाँ हैं वे सात महीनों में उत्पन्न हो जाती हैं और शिर के बाल के साथ वह अङ्ग-प्रत्यङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है। पुनः आठवें महीने में स्पष्ट विभाजित हुए अङ्गों वाला हो जाता है और पाँच महाभूतों से युक्त परिपक्व होकर तैयार हो जाता है ॥८-११॥

पितूरेतोऽतिरिक्तात्पुरुषो भवति मातूरेतोऽतिरिक्तात्स्त्रियो भवत्युभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसो अन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति।
अन्योन्य वायुपरिपीडितशुक्रद्वैध्याद्द्विधा तनूः स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते ॥१२॥

शुक्र की अधिकता से पुत्र की उत्पत्ति होती है और रज की अधिकता

से पुत्री उत्पन्न होती है। शुक्र-रज के समान मात्रा में होने से नपुंसक सन्तान का जन्म होता है। मन में व्याकुलता हो तो उस स्थिति का संयोग सन्तान के बौनी, कुबड़ी, अन्धी आदि होने का कारण बनता है। जब वायु के संघर्ष से शुक्र दो भागों में वितरित होता है तब युग्म सन्तति उत्पन्न होती है ॥१२॥

मातुराहारवीर्येण षड्विधेन रसेन च।
नाभिसूत्रानिबद्धेन वर्द्धते स दिने दिने ॥१३॥

ततः स्मृतिं लभेज्जीवः सम्पूर्णोऽस्मिञ्छरीरके।
सुखं दुःखं विजानाति निद्रां स्वप्नं पुरा कृतम् ॥१४॥

संसारचक्रमारोप्य बलिभिः कर्मरज्जुभिः।
कालेनाकृष्यमाणस्य जङ्गमस्थावरात्मनः ॥१५॥

अहो मे महती याता निष्फला जन्मसंततिः।
अनाराधित गोविन्दचरणाम्भोरुहद्वया ॥१६॥

छः प्रकार के रस से युक्त माता के आहार के बल से वह नाभि सूत्र से बँधा हुआ दिन-दिन बढ़ने लगता है। तत्पश्चात् वह जीव पूर्ण हुए इस शरीर में स्मृति को प्राप्त करता है और पहले किए हुए कर्मों को, निद्रा-स्वप्नादिकों को तथा सुख-दुःखों को जान जाता है। मैं संसाररूपी चक्र पर चढ़ाया गया। काल मुझको कर्मरूपी रस्सियों से इधर-उधर नाना योनियों में खींचता रहा। मैंने स्थावर और जङ्गमों के रूप में अनेक बार जन्म लिया। इस प्रकार नाना योनियों में भटकते-भटकते मेरी अनेक जन्म परम्परा बीत गई। सभी जन्मपरम्परा व्यर्थ निकलीं। उस जन्मपरम्परा में एक भी जन्म में मैंने श्री भगवान् के चरणारविन्दों की आराधना नहीं की। ॥ १३-१६ ॥

अनास्वादित सत्कर्मज्ञानभक्तिसुधारसा।
अदृष्टानन्तसंसारसागरोत्तारणप्लवा ॥१७॥

श्रुतिस्मृत्युदिताशेष सदाचारपराङ्मुखी।
अनुपासित सद्वृद्धा स्वीकृता सत्समागमा ॥१८॥

असंपादितशुश्रूषा गुर्वाचार्यपितृष्वपि।
त्यक्तवर्णसमाचारा भ्रष्टा वैदिकवर्त्मनः ॥१९॥

निजकर्मजदेवादि देहाध्यस्तात्मभावना।
तद्भावनानुगोद्भूत सुखदुःखव्यवस्थितिः ॥२०॥

न मैंने सत्कर्म में हाथ लगाया, न आत्मज्ञान का अर्जन किया और न भक्ति सुधारस का ही आस्वादन किया। अनन्त संसाररूपी सागर को पार करने के लिए मैंने सद्गुरुरूपी नौका को देखा ही नहीं। उस जन्म परम्परा में मैं श्रुति और स्मृतियों से प्रतिपादित सभी सदाचारों से विमुख ही रहा। मैंने ज्ञानवान् वृद्ध पुरुषों की सेवा नहीं की। मैंने वर्णाश्रम धर्मों का परित्याग किया। मैं वैदिक मार्ग से भ्रष्ट हो गया हूँ। प्रत्येक जन्म में अपने-कर्मानुसार मिलने वाली देव और मनुष्य इत्यादि देहों में मैं आत्मभावना करता आया अर्थात् उन देहों को मैं 'मैं' समझता रहा। उस समझ के अनुसार किसी को सुखदायक और किसी को दुःखदायक मानकर मैं भोगता रहा; क्योंकि आत्माभिमान के अनुसार पुरुषार्थ व्यवस्था होती हैं ॥१७-२०॥

अनुद्भूत स्वयाथात्म्यज्ञानजोत्तमनिर्वृतिः।
पशुवत् प्राकृतैरेव गुणैरधिकनिर्वृता ॥२१॥

न कर्मनिष्ठा नात्मज्ञा नापि भक्तियुता हरौ।
नोद्युक्ता भक्तिहीनत्वात् तत्क्रियास्वर्चनादिषु ॥२२॥

कर्मभिः पुण्यपापाख्यैरविद्यापरनामभिः।
धूमैरिवार्चिराग्नेयं ज्ञानमावृत्य देहिनः ॥२३॥

भूषयित्वा स्वकं देहं शब्दाद्यैः स्वाश्रयैर्गुणैः।
दर्शयित्वा स्वसौन्दर्यमात्मने तिष्ठमानया ॥२४॥

स्वस्वरूप के विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मैं उससे मिलने वाले निर्मल आनन्द से वञ्चित रह गया। पशु के समान प्राकृत पदार्थों को भोगकर मैं अपने को सुखी मानता था। न मैंने कर्मयोग किया, न ज्ञानयोग किया और न तो श्री हरि भगवान् के विषय में भक्तियोग ही किया। भक्ति न होने के कारण अर्चना इत्यादि भगवत्कर्मों को करने के लिए मैंने कभी उद्योग नहीं किया। "अविद्या" नाम से प्रसिद्ध अपरा प्रकृति पुण्य-पापरूपी कर्मों से जीवात्मा के ज्ञान पर उसी प्रकार आवरण डालती है जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला में धूम से आवरण डाला जाता है। श्री भगवान् की प्रकृतिरूप माया अपने में होने वाले शब्द इत्यादि गुणों से

स्वस्वरूप को अलंकृत कर अपने सौन्दर्य का दर्शन कराती हुई, भोग देने के लिए जीवात्मा के सम्मुख खड़ी हो जाती है ॥२१-२४॥

निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणम् ।
संछाद्यस्वगुणैरेवं स्वरूपं परमात्मनः ॥२५॥

गुणमयाप्रकृत्याख्य भगवन्माययाऽनया ।
स्वसंलीनानन्त जीवकृतकर्मानुरूपया ॥२६॥

गुणत्रयाश्रयानन्त विचित्र परिणामया ।
अतिदुस्तरया देवप्रपत्तिरहितात्मभिः ॥२७॥

प्रलोभ्यमाना सततं तयैवात्यन्तनिवृंता ।
अजानतीव स्वहितं मूकस्वप्नानुकारिणी ॥२८॥

यह प्रकृतिरूप माया सर्वोत्तम आनन्दात्मक श्री भगवान् के स्वरूप को अपने सत्त्व, रज और तम गुणों से छिपा देती है। सत्त्वरजस्तमोमय प्रकृतिरूप यह भगवन्माया लय को प्राप्त हुए अनन्त जीवों के कर्मों के अनुरूप परिणत होकर जीवों को बाँधती है। यह माया त्रिगुणात्मक अनन्त विचित्र भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानों के रूप में परिणामों को प्राप्त करने वाली है। श्री भगवान् के शरण में न आने वाले जीवों को इस माया का पार करना अत्यन्त कठिन है। मैं अतीत अनन्त जन्मों में इस माया के प्रलोभन में फँस गया तथा इस माया से प्रसन्न रहता था। मैं प्रत्येक जन्म में अपने हित को नहीं जानता था। जिस प्रकार मूक मनुष्य देखे हुए स्वप्न को किसी को नहीं बता सकता, उसी प्रकार मेरी जन्म-परम्परा बीती। क्योंकि मैं सम्पूर्ण जन्मपरम्परा को भोग कर भी उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता ॥२५-२८॥

निष्पानीये निरालम्बे निश्च्छाये निरपाश्रये ।
द्राघीयस्याशुभे मार्गे यमस्य सदनं प्रति ॥२९॥

गच्छतो मेऽसहायस्य वर्धयन्ति महद्भयम् ।
अतीतापि सदैवैषा तिष्ठतीव पुरो मम ॥३०॥

किं करिष्यामि पदयोर्निपतिष्यामि कस्य तु ।
दुस्तरां दुर्दशामेतां कथयिष्यामि कस्य वा ॥३१॥

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मया दृष्टान्यनेकधा ॥३२॥

यह जन्मपरम्परा मुझको अधिक भय दे रही है, क्योंकि असहाय होकर मुझको यमराज के स्थान में पहुँचने के लिए उस लम्बे अशुभ मार्ग में जाना होगा, जिसमें न पानी का ठिकाना है, न कोई अवलम्बन है, न छाया मिल सकती है, न कोई आश्रय ही प्राप्त हो सकता है। उस भयंकर मार्ग का स्मरण करते ही मुझको भय लगता है। इस प्रकार की जन्मपरम्परा यद्यपि बीत गई है तो भी प्रतीत होता है कि वह मेरे सम्मुख खड़ी है। अब मैं क्या करूँ? किसके चरणों में गिरूँ? अपनी इस दुस्तर दुर्दशा को किससे कहूँ? मरकर मैं पुनः जन्मा, जन्मकर मैं पुनः मरा और नाना सहस्र योनियाँ मैंने अनेक प्रकार से देखीं ॥२९-३२॥

अधुना जातमात्रोऽहं प्राप्तसंस्कार एव च।
ततः श्रेयः करिष्यामि येन गर्भो न संभवेत् ॥३३॥

गर्भस्थश्चिन्तयत्येवमहं गर्भाद्विनिःसृतः।
अध्येष्यामि परं ज्ञानं संसारविनिवर्तकम् ॥३४॥

अवश्यं गर्भदुःखेन महतापरिपीडितः।
जीवः कर्मवशादास्ते मोक्षोपायं विचिन्तयेत् ॥३५॥

यथा गिरिवराक्रान्तः कश्चिद्दुःखेन तिष्ठति।
तथा जरायुणा देहो दुःखं तिष्ठति वेष्टितः ॥३६॥

अब मैं जन्म लेते ही और नान्दी श्राद्धादि जातकर्म संस्कार समाप्त होते ही श्रेय सम्पादन करूँगा, जिससे पुनः गर्भ प्राप्ति की सम्भावना ही न रहे। गर्भ में स्थित रहते हुए ही वह जीव इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैं संसार को निवृत्त करने वाले परम ज्ञान का अध्ययन करूँगा। अवश्य ही वह जीव अपने कर्मों से बाध्य हुआ बहुत बड़े गर्भदुःख से परिपीड़ित होकर रहता है और मोक्ष के उपायों की चिन्ता करता है। जैसे कोई बड़े-बड़े पहाड़ों से आक्रान्त हुआ दुःखी होकर बैठ जाय, वैसे ही यह जीवात्मा जरायु से वेष्टित होकर दुःखपूर्वक स्थित होता है ॥३३-३६॥

पतितः सागरे यद्वद्दुःखमास्ते समाकुलः।
गर्भोदकेन सिक्तांगस्तथास्ते व्याकुलात्मकः ॥३७॥

लोहकुम्भे यथान्यस्तः पच्यते कश्चिदग्निना।
गर्भकुम्भे तथा क्षिप्तः पच्यते जठराग्निना ॥३८॥

सूचीभिरग्निवर्णाभिर्भिन्नगात्रो निरन्तरम् ।
यद् दुःखं जायते तस्य तद्गर्भेऽष्टगुणं भवेत् ॥३९॥
गर्भवासात्परं वासं कष्टं नैवास्ति कुत्रचित् ।
देहिनां दुःखमतुलं सुघोरमपि संकटम् ॥४०॥

जैसे कोई समुद्र में गिरा हुआ व्याकुल होकर दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही यह व्याकुल अन्तःकरणवाला जीव गर्भ के जल से सिक्तांग होकर दुःखी होता है। जैसे कोई लोहे के घड़े में रक्खा हुआ आग में पकाया जाता है, वैसे ही यह जीव गर्भरूपी घड़े में डालकर जठराग्नि में पकाया जाता है। अग्नि में तपाए हुए अग्निवर्णवाली सूइयों से निरन्तर भेदन किए अंगवाले को जो दुःख होता है उसका आठगुना दुःख गर्भ में होता है। गर्भवास से बढ़कर कष्टप्रद वास और कहीं भी नहीं है। जीवों के लिए यह अपार दुःख है और बड़ा अपार संकट भी है ॥३७–४०॥

इत्येतद्गर्भदुःखं हि प्राणिनां परिकीर्तितम् ।
चरस्थिराणां सर्वेषामात्मगर्भानुरूपतः ॥४१॥
गर्भात्कोटिगुणापीडा योनियन्त्रनिपीडनात् ।
संमूर्च्छितस्य जायेत जायमानस्य देहिनः ॥४२॥
इक्षुवत्पीड्यमानस्य पापमुद्गरपेषणात् ।
गर्भान्निष्क्रममाणस्य प्रबलैः सूतिवायुभिः ॥४३॥
जायते सुमहद्दुःखं परित्राणं न विन्दति ।
यन्त्रेण पीड्यमानाः स्युर्निःसाराश्च यथेक्षवः ॥४४॥
तथा शरीरं योनिस्थं पात्यते यन्त्रपीडनात् ॥४४½॥

चराचर सभी प्राणियों का अपने-अपने गर्भ के अनुरूप यह गर्भ का दुःख कहा गया है। जन्म लेते हुए मूर्च्छा से युक्त जीव को गर्भ से करोड़ गुना पीड़ा योनियन्त्र से दबकर होती है। प्रबल प्रसूति वायु के द्वारा ईख की तरह पेरे जाते हुए, पापमुग्दर से पिसे होने के कारण गर्भ से निकलते हुए जीव को बड़ा भारी दुःख होता है और वह उससे त्राण का उपाय नहीं जान पाता। ईख की तरह निचोड़े गये उसके अवयव योनियन्त्र से पीड़ित होकर निःसार हो जाते हैं और वह योनि में स्थित शरीर योनियन्त्र के द्वारा पीड़ित करके गिरा दिया जाता है ॥४१–४४½॥

अस्थिमद्वर्तुलाकारं स्नायुबन्धनवेष्टितम् ॥४५॥
रक्तमांसवसालिप्तं विण्मूत्रद्रव्यभाजनम् ।
केशलोमनखाच्छन्नं रोगायतनमुत्तमम् ॥४६॥

वदनैकमहाद्वारं गवाक्षाष्टकभूषितम् ।
ओष्ठद्वयकपाटं तु दन्तजिह्वार्गलान्वितम् ॥४७॥

नाडीस्वेदप्रवाहं च कफपित्तपरिप्लुतम् ।
जराशोकसमाविष्टं कालवक्त्रानले स्थितम् ॥४८॥

कामक्रोधसमाक्रान्तं श्वासैश्चोपमर्दितम् ।
भोगतृष्णातुरं मूढं रागद्वेषवशानुगम् ॥४६॥

हड्डियोंवाला, गोल तथा स्नायुतन्तुओं से ढका हुआ, रक्त, मांस और वसा से लिप्त, मल, मूत्र आदि द्रव्यों का पात्र, केशों, लोमों, नखों आदि से आच्छादित यह देह विशिष्ट रोगों का घर है। मुख इसका प्रधान द्वार है। शेष आठ छिद्र इसे आठ जँगलों (खिड़कियों) की भाँति सुशोभित करते हैं। दोनों ओठों के किवाड़ हैं और इसमें दाँतों और जीभ की अर्गला लगी हुई है। कफ और पित्त से आप्लावित इसमें नाड़ियों तथा पसीने की धारा बहती रहती है। यह वृद्धावस्था और शोक से युक्त रहता है और यह काल के मुखरूपी अग्नि में स्थित रहता है। काम, क्रोधादि मनोविकारों से आक्रान्त श्वासों से उपमर्दित, भोगतृष्णा से आतुर, राग-द्वेष के वशीभूत तथा विषयों में मूढ़ रहता है ॥४५–४६॥

संवर्तितांगप्रत्यङ्गं जरायुपरिवेष्टितम् ।
सङ्कटेनाविविक्तेन योनिमार्गेणनिर्गतम् ॥५०॥

विण्मूत्ररक्तसिक्ताङ्गं षट्कौशिकसमुद्भवम् ।
अस्थिपञ्जरसङ्घातं ज्ञेयमस्मिन्कलेवरे ॥५१॥

अशुद्धं च विशुद्धस्य कर्मबन्धविनिर्मितम् ।
शुक्रशोणितसंयोगाद्देहः सञ्जायते क्वचित् ॥५२॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग मरोड़ा गया, जेर से आच्छादित, एकत्रीभूत संकट के साथ यह योनिमार्ग से बाहर आता है। यह इस शरीर में मल-मूत्र से भींगा हुआ, छः कोशों से उत्पन्न होने वाला अस्थिपञ्जर के संघातरूप से जाना जाता है। स्वरूपतः विशुद्ध जीवात्मा का यह शरीर कर्मों के बन्धन के

कारण बना हुआ है। भला, कभी इसे शुक्र-शोणित के संयोग से बनने वाले देह के रूप में उत्पन्न होना चाहिए ? ॥५०-५२॥

त्यक्त्वा वैकुण्ठसंवासं सुखभोगाननेकशः ।
विण्मूत्रमन्दिरे वासं संत्रस्तः कोऽभिवाञ्छति ॥५३॥

गर्भवासात्परो नास्ति नरको भुवनत्रये ।
तद्भीताश्च प्रकुर्वन्ति मुनयो दुस्तरं तपः ॥५४॥

हित्वा भोगञ्च राज्यञ्च वने यान्ति मनस्विनः ।
यद्भीतास्तु विमूढात्मा कस्तं सेवितुमिच्छति ॥५५॥

गर्भे तु दन्तिकृमयो जठराग्निस्तपत्यधः ।
अल्पमात्रं क्षणं नैव गर्भवासः क्वचिच्छुभः ॥५६॥

वैकुण्ठ के निवास को और अनेक सुख भोगों को छोड़ कर मल-मूत्र के मन्दिर के निवास की इच्छा कौन करेगा ? जो उससे संत्रस्त हो चुका है। तीनों लोकों में गर्भवास से बढ़कर और कोई नरक नहीं है। उससे भयभीत मुनिगण दुश्चर तपश्चर्या करते हैं और मनस्वी लोग राज्य और भोग का परित्याग करके वन जाते हैं। जिससे भयभीत होकर भी कौन ऐसा मूढ़ है जो उसी के सेवन की इच्छा करेगा ? गर्भ में कृमि काटते हैं और नीचे जठराग्नि तपती है। गर्भवास कहीं भी थोड़ा भी क्षणमात्र भी शुभदायी नहीं होता ॥५३-५६॥

गर्भवासे महद्दुःखं दशमासनिवासनम् ।
तथा निःसरणे दुःखं योनियन्त्रेऽतिदारुणे ॥५७॥

एवमेतन्महाकष्टं जन्मदुःखं प्रकीर्तितम् ।
पुंसामज्ञानदोषेण नानाकर्मवशेन च ॥५८॥

गर्भस्थस्य मतिर्यासीत्सा जातस्य प्रणश्यति ।
संमूर्च्छितस्य दुःखेन योनियन्त्रनिपीडनात् ॥५९॥

बाह्येन वायुना चास्य मोहसङ्गेन देहिनम् ।
स्पृष्टमात्रस्य घोरेण ज्वरः समुपजायते ॥६०॥

दस महीनों तक गर्भ में निवास सचमुच बड़ा भारी दुःख है। उसी प्रकार गर्भ से बाहर निकलने के समय अत्यन्त दारुण योनियन्त्र में दुःख होता है। इस प्रकार पुरुषों के अज्ञान दोष के कारण तथा नाना कर्मों के

कारण वहुत बड़ा कष्ट प्रदान करने वाला यह जन्म का दुःख कहा गया। गर्भस्थ जीव की गर्भ में जो बुद्धि रहती है वह जन्म लेने के पश्चात् नष्ट हो जाती है क्योंकि योनि यन्त्र के निपीडन के कारण दुःख से वह समूर्च्छित हो जाता है। बाह्य वायु का स्पर्श प्राप्त करते ही घोर अज्ञान में आसक्त इस जीव को ज्वर हो जाता है ॥५७-६०॥

तेन ज्वरेण महता महामोहः प्रजापते।
संमूढस्य स्मृतिभ्रंशः शीघ्रं सञ्जायते पुनः ॥६१।

स्मृतिभ्रंशात्ततस्तस्य पूर्वकर्मवशेन च।
रतिः सञ्जायते तस्य जन्तोस्तत्रैव जन्मनि ॥६२॥

मलभाण्डे नवद्वारे पूयासृक्छोणितालये।
देहेऽस्मिन्बुद्बुदाकारे कृमियूथसमाकुले ॥६३॥

कामक्रोधभयद्रोहमोहमात्सर्यकारिणी।
परदारपरक्षेत्रपरद्रव्यैकलोलुपे ॥६४॥

हिंसासूयाशुचिव्याप्ते विष्ठामूत्रैकभाजने।
यः कुर्याच्छोभनधियं स मूढः स च दुर्मतिः ॥६५॥

उसी महाज्वर के कारण महामोह उत्पन्न हो जाता है तथा पुनः संमूढ़ हुए उस जीव की स्मृति शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाती है और स्मृतिभ्रंश होने के कारण तथा पूर्व कर्मों के वशीभूत होने के कारण उस जीव की उसी जन्म में रति हो जाती है। नौ द्वारों वाला यह शरीर मल का भाण्ड है, पूय, असृक, एवं शोणित का मन्दिर है, बुलबुले के आकार वाला है, कृमियों के झुण्ड से समाकुलित है, काम, क्रोध, भय, द्रोह, मोह और मात्सर्य उत्पन्न करने वाला है। यह एकमात्र परदार, परक्षेत्र और पर द्रव्य के लिए ही लोलुप रहने वाला है, हिंसा, असूया और अशुचि से व्याप्त रहता है, विष्ठा और मूत्र का एकत्र भाजन है। ऐसे शरीर में जो सुन्दर बुद्धि करता है वही मूढ़ है और वही दुर्मति है ॥६१-६५॥

यददग्धं भवेन्मृत्स्ना दग्धं भस्मत्वमाप्नुयात्।
मृतस्य दृश्यते किञ्चित् तृष्णा कोपरतस्य तु ॥६६॥

क इहोत्पद्यते विद्वान् को वेह म्रियते पुनः।
यन्त्रोपममिदं धीमान् वायुत्यक्तं मृतं भवेत् ॥६७॥

पृथगात्मा पृथक् स्वान्तं पृथक् खानि दशापि च।
पृथक् पृथक् च भूतानि पृथक् तेषां गुणोत्करः ॥६८॥
पृथक् प्राणादिवायुश्च तद्गतिश्च पृथक् पृथक्।
पृथक् पृथगिति ह्येतत् शरीरं किमिहोच्यते ॥६९॥

जो अदग्ध होने पर यानी न जलाये जाने पर मिट्टी हो जाता है तथा दग्ध होने पर भस्म हो जाता है। मरे हुए का क्या कुछ देखा जाता है? अर्थात् कुछ नहीं। अतः मरे हुए के प्रति क्या तृष्णा? इस संसार में कौन विद्वान् उत्पन्न होता है और कौन विद्वान् मरता है? यन्त्र की भाँति प्राणवायु से परित्यक्त हो जाने पर मृतक संज्ञा हो जाती है। आत्मा पृथक् है, अन्तःकरण पृथक् है, दसों इन्द्रियाँ पृथक् हैं, पृथक्-पृथक् पञ्चभूत हैं और पृथक्-पृथक् उनके गुणों का विकास है, पृथक् प्राण आदि वायु हैं, उनके संचार की पृथक्-पृथक् गतियाँ हैं। जब यह सब कुछ पृथक्-पृथक् ही है, तो भला इसमें शरीर किसे कहा जाय? ॥६६-६९॥

मानुषे कदलीस्तम्भनि:सारे सारमार्गणम्।
करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥७०॥
रक्तो मूढश्च लोकोऽयमकार्ये सम्प्रवर्तते।
न चात्मानं विजानाति न परं न च दैवतम् ॥७१॥
न शृणोति परं श्रेयः स चक्षुरपि नेक्षते।
समे पथि शनैर्गच्छन्स्खलतीव पदे पदे ॥७२॥
सत्यां बुद्धौ न जानातिबोध्यमानो बुधैरपि।
संसारे क्लिश्यते तेन रागमोहवशानुगः ॥७३॥

जल के बुद्बुद् के समान क्षणभङ्गुर तथा कदली के स्तम्भ के समान इस निस्सार मनुष्य शरीर में जो सारबुद्धि करता है, वह अत्यन्त मूढ़ है। रागयुक्त तथा अज्ञानमूढ़ हुआ यह लोक न करने योग्य कार्यों में ही प्रवृत्त होता है, वह न तो अपने को जान पाता है, न परमात्मा को और न तो देवताओं को ही। कानों के होने पर भी वह अपने कल्याण को नहीं सुनता और न तो चक्षु होने पर भी देखता ही है। प्रातीतिक सम मार्ग पर चलता हुआ भी मानो धीरे-धीरे वह पद-पद पर स्खलित होता चलता है। ज्ञानवानों द्वारा उद्बुद्ध किए जाने पर भी बुद्धि होने पर भी, वह ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाता तथा इस प्रकार राग और मोह के वश में हुआ संसार में क्लेश पाता है ॥७०-७३॥

गर्भस्मृतेरभावेन शास्त्रमुक्तं महर्षिभिः।
तद् दुःखकथनार्थाय स्वर्गमोक्षप्रसाधकः ॥७४॥

ये शास्त्रज्ञाने सत्यस्मिन्सर्वकर्मार्थसाधके।
न कुर्वन्त्यात्मनः श्रेयस्तदत्र महदद्भुतम् ॥७५॥

अव्यक्तेन्द्रियवृत्तित्वाद् बाल्ये दुःखं महत्पुनः।
इच्छन्नपि न शक्नोति वक्तुं कर्तुं न किञ्चन ॥७६॥

दन्तोत्थाने महद्दुःखमल्पेन व्याधिना तथा।
बालरोगैश्च विविधैः पीडा बालग्रहैरपि ॥७७॥

उस गर्भ की स्मृति का अभाव होने के कारण ही महर्षियों ने शास्त्रों को कहा है जिससे उसके दुःखों का वर्णन हो सके और वह स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति कर सके। जो सम्पूर्ण कर्मों का फल मोक्ष तक प्रदान करने वाले शास्त्र-ज्ञान के रहते हुए भी आत्मकल्याण से वञ्चित रह जाते हैं वही यहाँ बड़े ही आश्चर्य की बात है। पुनः इन्द्रियों की वृत्तियों के अव्यक्त होने के कारण बाल्यावस्था में बड़ा भारी दुःख होता है क्योंकि वह चाहता हुआ भी न तो कुछ कर सकता है और न बोल ही सकता है। दाँत उठने में और उसी प्रकार छोटी-सी व्याधि में भी बड़ा ही दुःख होता है। नाना बालरोगों तथा बालग्रहों के कारण भी पीड़ा होती है ॥ ७४-७७ ॥

क्वचित्क्षुत्तृट्परीतांगः क्वचित्तिष्ठति रारटन्।
विण्मूत्रभक्षणाद्यं च मोहाद् बालः समाचरेत् ।७८॥

क्षुत्तृडावेदनाशक्तः परतन्त्रोऽतिकातरः।
क्षुधिते रुदिते बाले माता चिन्तातुरा तदा ॥७९॥

भेषजं पातुमिच्छन्तीं ज्ञात्वा व्याधिव्यथां दृढाम्।
नाना विधानि दुःखानि बालभावे भवन्ति वै ।८०॥

कभी तो वह भूख-प्यास से व्याकुल अङ्गों वाला होकर और कभी स्व-भावतः ही रोते हुए पड़ा रहता है तथा वह बालक अज्ञान से मल-मूत्रादि तक का भक्षण भी करता है। क्षुधा, तृषा की आवेदना के कारण असक्त हुआ वह अत्यन्त परतन्त्र और कातर हो जाता है तब भूख से उस बालक के रोने लगने पर माता चिन्ता से आतुर हो उठती है। बालक की दृढ़ व्याधि-

२

व्यथा को जानकर औषधि पिलाने की इच्छा करती हुई उस माता को भी बालक की बाल्यावस्था में नाना प्रकार के दुःख होते हैं ॥ ७८-८० ॥

कौमारे कर्णवेधेन मातापित्रोर्विताडनैः ।
अक्षराध्ययनाद्यैश्च दुःखं स्याद् गुरुशासनात् ॥८१॥

बाल्ये दुःखमतोऽस्यैव पश्यन्नपि विमूढधीः ।
न कुर्वीतात्मनः श्रेयस्तदत्र महदद्भुतम् ॥८२॥

प्रमत्तेन्द्रियवृत्तैश्च कामरागप्रपीडनात् ।
रोगार्दितस्य सततं कुतः सौख्यं हि यौवने ॥८३॥

ईर्ष्यया सुमहद्दुःखं मोहाद्रक्तस्य जायते ।
मत्तस्य कुपितस्यैव रागो दुःखाय केवलम् ॥८४॥

कौमारावस्था में कर्णवेध के द्वारा, माता-पिता की ताड़ना के द्वारा, अक्षरों के अध्ययन के कारण तथा गुरुओं के शासन के कारण उसे बड़ा ही दुःख होता है। वह बाल्यावस्था के दुःखों का अतिक्रमण करता है और उन्हें देखता भी है किन्तु फिर भी मोहितान्तःकरण होने के कारण आत्मकल्याण नहीं करता, यह यहाँ अत्यन्त ही आश्चर्य की बात है। प्रमत्त इन्द्रिय वृत्तियों से, काम और राग से अत्यन्त पीड़ित होने से, तथा निरन्तर रोगाक्रान्त होने से, युवावस्था में भी कहाँ सुख है ? अज्ञान के कारण राग से युक्त हुए इस जीव को ईर्ष्या से बड़ा दुःख होता है। प्रमत्त एवं क्रुद्ध होने वाले इस पुरुष का राग इसे केवल दुःख देने के लिए ही होता है ॥ ८१-८४ ॥

रात्रौ न विन्दते निद्रां कामाग्निपरिखेदितः ।
दिवाऽपि च कुतः सौख्यमर्थोपार्जनचिन्तया ॥८५॥

स्त्रीष्वध्यासितचित्तस्य ये पुंसः शुक्रविन्दवः ।
न ते सुखाय मन्तव्या स्वेदजा इव विन्दवः ॥८६॥

कृमिभिः पीड्यमानस्य कुष्ठिनः पामरस्य च ।
कण्डूयनाभितापेन यद्भवेत्स्त्रीषु तद्विदः ॥८७॥

यादृशं मन्यते सौख्यं गण्डेपूतिविनिर्गमात् ।
तादृशं स्त्रीषु मन्तव्यं नाधिकं तासु विद्यते ॥८८॥

कामाग्नि से सन्तप्त होता हुआ वह रात में नींद नहीं ले पाता और अर्थोपार्जन की चिन्ता के कारण दिन में भी कहाँ सुख पाता है ! स्त्रियों में

रमे हुए चित्तवाले पुरुष के जो वीर्य-बिन्दु हैं, वे भी उसे सुख प्रदान करते हुए नहीं कहे जाते; अपितु पतले होकर स्वेद विन्दुओं की भाँति निकलते रहते हैं। कृमियों द्वारा पीड्यमान पामर कुष्ठरोग के रोगी को खुजलाने की जलन से जो सुख प्राप्त होता है, वही सुख स्त्री-संसर्ग से समझना चाहिए। जैसा सुख कपोल में दुर्गन्धि के निवारण से माना जाता है, वैसा ही सुख स्त्री में समझना चाहिए, उससे अधिक सुख स्त्री में नहीं होता ॥ ८५-८८ ॥

विण्मूत्रस्य समुत्सर्गात्सुखं भवति यादृशम् ।
तादृशं स्त्रीषु विज्ञेयं मूढैः कल्पितमन्यथा ॥८९॥
रेतसो निर्गमो यावत्सुखं तावद्धि विद्यते ।
विण्मूत्रयोर्विसर्गेऽपि ततो वै नाधिकं सुखम् ॥९०॥
नारीष्ववस्तुभूतास्तु सर्वदोषाश्रयासु च ।
नाणुमात्रं सुखं तासु कथितं पंचचूडया ॥९१॥

मल-मूत्र का त्याग करने से जैसा सुख होता है वैसा ही सुख स्त्री-प्रसंग में भी समझना चाहिए, परन्तु मूर्खों ने अन्य ही प्रकार का मान लिया है। स्त्री के साथ भोग काल में वीर्य के त्याग करने में जितना सुख होता है उतना ही सुख विष्ठा और मूत्र के त्याग करने में भी होता है, उससे अधिक स्त्री के संभोग का सुख नहीं है। सभी दोषों की आश्रयभूता तथा निस्सार उन स्त्रियों में अणुमात्र भी सुख नहीं है, ऐसा पंचचूडा ने कहा है ॥ ८९-९१ ॥

सम्मानमपमानेन वियोगेनेष्टसङ्गमः ।
यौवनं जरयाग्रस्तं क्व सौख्यमनुपद्रवम् ॥९२॥
वलीपलितकायेन शिथिलीकृतविग्रहः ।
सर्वक्रियास्वशक्तश्च जरया जर्जरीकृतः ॥९३॥
स्त्रीपुंसोर्यौवनं हृद्यमन्योन्यस्य प्रियं पुरा ।
तदेव जरयाग्रस्तमनयोरपि न प्रियम् ॥९४॥
अपूर्ववत्स्वमात्मानं जरया परिपीडितम् ।
यः पश्यन्न विरज्येत कोऽन्यस्तस्मादचेतनः ॥९५॥

अपमान के द्वारा सम्मान, वियोग के द्वारा इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा

वृद्धावस्था के द्वारा युवावस्था ग्रस्त है तो फिर यहाँ उपद्रवरहित सुख कहाँ है? वृद्धावस्था द्वारा जर्जरीभूत बनाया गया, झुर्रियों से युक्त अङ्गों वाला शैथिल्य को प्राप्त हुआ उसका शरीर सम्पूर्ण क्रियाओं में असमर्थ हो जाता है। स्त्री-पुरुष का यौवन जो पहले-पहले एक दूसरे के लिए बड़ा ही प्रिय और रुचिकर था वही अब वृद्धावस्था से ग्रस्त होने के कारण उन दोनों को भी प्रिय नहीं होता यानी वृद्धा स्त्री को न तो युवक पुरुष अच्छा लगता है और न तो वृद्ध पुरुष को युवती स्त्री ही। वृद्धावस्था से पीड़ित होने के कारण जो अपने को पहले जैसा न देखते हुए भी विरक्त नहीं होता, उससे बढ़कर मूर्ख, जड़ भला और कौन है? ॥ ९२-९५ ॥

जराभिभूतः पुरुषः पत्नीपुत्रादिबान्धवैः
अशक्तत्वाद्दुराचारैर्भृत्यैश्च परिभूयते ॥९६॥

न धर्ममर्थं कामं च मोक्षं च जरयायुतः।
शक्तः साधयितुं तस्माद्युवा धर्मं समाचरेत् ॥९७॥

वातपित्तकफादीनां वैषम्यं व्याधिरुच्यते।
वातादीनां समूहश्च देहोऽयं परिकीर्तितः ॥९८॥

तस्माद्व्याधिमयं ज्ञेयं शरीरमिदमात्मनः।
वाताद्यव्यतिरिक्तत्वाद्व्याधीनां पञ्जरस्य च ॥९९॥

वृद्धावस्था से अभिभूत पुरुष अशक्त होने के कारण दुराचारी पत्नी-पुत्रादि कुटुम्बियों तथा नौकरों द्वारा भी तिरस्कृत होता है। वृद्धावस्था से ग्रस्त पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, किसी का भी साधन करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए धर्म का साधन युवावस्था में ही कर लेना चाहिए। वात, पित्त, और कफ आदि की विषमता ही व्याधि कही जाती है और यह देह तो इन्हीं वात आदि का समूह कहा गया है; इसलिए अपने इस शरीर को व्याधि आदि से परिपूर्ण ही समझना चाहिए। क्योंकि यह देह और ये व्याधियाँ—दोनों वात आदि से संयुक्त हैं॥ ९६-९९ ॥

रोगैर्नानाविधैर्याति देही दुःखान्यनेकधा।
तानि च स्वात्मवेद्यानि किमन्यत्कथयाम्यहम् ॥१००॥

एकोत्तरंमृत्युशतमस्मिन्देहे प्रतिष्ठितम्।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषाश्चागन्तवः स्मृताः ॥१०१॥

ये त्विहागन्तवः प्रोक्तास्ते प्रशाम्यन्ति भेषजैः ।
जपहोमप्रदानैश्च कालमृत्युर्न शाम्यति ॥१०२॥
विविधा व्याधयस्तत्रसर्पाद्याः प्राणिनस्तथा ।
विषाणि चाभिचाराश्चमृत्योर्द्वाराणि देहिनाम् ॥१०३॥

यह जीव नाना प्रकार के रोगों से अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है और ये सभी दःख सबको स्वयं अनुभूत हैं, मैं इससे भिन्न क्या कहूँ ? एक से एक बढ़कर मृत्युपर्यन्त सैकड़ों दुःख इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं, जिनमें कालनिर्धारित एक मृत्यु है और शेष दुःख आगन्तुकमात्र कहे गये हैं । वे औषध, जप, होम, दान आदि द्वारा शाम्य हैं, किन्तु कालनिर्धारित मृत्यु का शमन नहीं होता और वहाँ भी जीवों की मृत्यु के अनेक द्वार कहे गए हैं—व्याधियाँ, सर्पादि, प्राणी, विष और अभिचार आदि ॥ १००-१०३ ॥

पीडितंसर्परोगाद्यै रपि धन्वन्तरिः स्वयम् ।
स्वस्थीकर्तुं न शक्नोति कालप्राप्तं हि देहिनम् ॥१०४॥

नौषधं न तपो मन्त्रा न मित्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥१०५॥
रसायनतपोजप्यैर्योगसिद्धै र्महात्मभिः ।
अवान्तरित शान्तिः स्यात्कालमृत्युमवाप्नुयात् ॥१०६॥

नास्ति मृत्यु समं दुःखं नास्ति मृत्यु समं भयम् ।
नास्ति मृत्युसमस्त्रासः सर्वेषामपि देहिनाम् ॥१०७॥

यदि वह काल आ पहुँचा तो सर्प, रोगादि से पीड़ित होने पर भी जीव को स्वयं धन्वन्तरि भी नहीं स्वस्थ कर सकते । काल द्वारा पीड़ित मनुष्य को न तो औषध, न तप, न मंत्र, न मित्र और न बान्धव कोई नहीं बचा सकता । रसायन, तप, जप, योग और सिद्ध महात्मा भी उसे शान्ति प्रदान नहीं कर सकते और वह काल मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । सभी प्राणियों के लिए मृत्यु जैसा कोई दुःख नहीं है, मृत्यु जैसा कोई भय नहीं है और मृत्यु जैसा कोई त्रास भी नहीं है ॥ १०४-१०७ ॥

सद्भार्यापुत्रमित्राणि राज्यैश्वर्यं सुखानि च ।
आबद्धानि स्नेहपाशैर्मृत्युः सर्वाणि कृन्तति । १०८॥
जायते योनि कीटेषु मृतः कर्मवशात्पुनः ।
देहभेदेन यः पश्येद्वियोगं कर्मसंक्षयात् ।।१०९॥

मरणं तद्विनिर्दिष्टं न नाशः परमार्थतः।
महातमः प्रविष्टस्य छिद्यमानेषु मर्मसु ॥११०॥

यद् दुःखं मरणे जन्तोर्न तस्येहोपमा क्वचित्।
हा तात मातः कान्तेति क्रन्दत्येवं सुदुःखितः ॥१११॥

स्नेह पाश से बँधे हुए इन सभी सती स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्य, ऐश्वर्य आदि सुखों को मृत्यु नष्ट कर देती है। कर्म क्षय हो जाने के कारण मरा हुआ वह पुनः कीट योनियों में जाता है और देहभेद होने के कारण वह ऐसा मानता है कि मानो उसका पूर्व-पूर्व के देहों से कोई सम्बन्ध ही न रहा हो। किन्तु जिस मृत्यु का निरूपण किया गया है वह वास्तविक नाश नहीं है फिर भी महा अन्धकार में प्रविष्ट हुए उस जीव को मर्मस्थानों पर छेदन किए जाने पर जो दुःख होता है उसकी यहाँ कहीं भी उपमा नहीं है। अरे बाप! अरी माँ! अरी प्रिये! ऐसा कह कर बहुत दुःखी होकर वह करुण क्रन्दन करता है ॥ १०८-१११ ॥

मण्डूक इव सर्पेण ग्रस्यते मृत्युना जगत्।
बान्धवैः सम्परित्यक्तः प्रियैश्च परिवारितः ॥११२॥

निःश्वसन्दीर्घमुष्णं च मुखेन परिशुष्यता।
खट्वायां परिवृत्तो हि मुह्यते च मुहुर्मुहुः ॥११३॥

सम्मूढः क्षिपतेऽत्यर्थं हस्तपादावितस्ततः।
खट्वातो वाञ्छते भूमिं भूमेः खट्वां पुनर्महीम् ॥११४॥

विवशस्त्यक्तलज्जश्च मूत्रविष्ठानुलेपितः।
याचमानश्च सलिलं शुष्ककण्ठोष्ठतालुकः ॥११५॥

जैसे सर्प मेढक को निगल जाता है वैसे ही मृत्यु इस जगत् को निगल जाती है। अपने प्रिय बान्धवों द्वारा वह घिरा हुआ भी उनके द्वारा हठात् छोड़ दिया जाता है। एकदम सूखते हुए मुख से लम्बी-लम्बी और गर्म-गर्म साँस छोड़ता हुआ चारपाई पर घिरा हुआ वह बार-बार मूर्च्छा को प्राप्त होता है। अत्यन्त सम्मूढ़ हुआ वह हाथ-पैरों को इधर-उधर फेंकता है और चारपाई से पृथ्वी पर, पृथ्वी से चारपाई पर और पुनः चारपाई से पृथ्वी पर जाना चाहता है। मूत्र और विष्ठा से लिपटा हुआ कण्ठ, ओठ और तालु आदि के सूख जाने के कारण विवश होकर लज्जा छोड़कर जल माँगता है।
॥११२—११५॥

चिन्तयानः स्ववित्तानि कस्यैतानि मृते मयि ।
यमदूतैर्नीयमानः कालपाशेन कर्षितः ।।११६।।

म्रियते पश्यतामेवं गले घुरघुरायते ।
जीवस्तृणजलूकेव देहाद्देहं विशेत्क्रमात् ।।११७।।

सम्प्राप्योत्तरमंशेन देहं त्यजति पूर्वकम् ।
मरणात्प्रार्थना दुःखमधिकं हि विवेकिनः ।।११८।।

क्षणिकं मरणे दुःखमनन्तं प्रार्थनाकृतम् ।
जगतांपतिरर्थित्वाद्विष्णुर्वामनतां गतः ।।११९।।

जिसे यह चिन्ता होती है कि मेरे मर जाने के पश्चात् यह मेरा धन किसका होगा ? तब तक यम के दूत कालरूपी पाश से उसे खींचकर ले चलते हैं। उसके गले में घर-घर की आवाज होती है और वह देखनेवालों के लिए मर जाता है किन्तु वह जीव तो इस शरीर को छोड़कर क्रमशः दूसरे शरीर में ठीक उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाता है जिस प्रकार तृणजलूका (जोंक) दूसरे तृण को पकड़कर साथ ही पहले तृण को छोड़ देती है। अपने अंशमात्र के द्वारा दूसरे शरीर को प्राप्तकर पूर्व शरीर को छोड़ देता है। यद्यपि भौतिक दृष्टि से मृत्यु को सबसे बड़ा दुःख कहा गया है फिर भी विवेकी को मृत्यु से भी अधिक दुःख याचना में प्रतीत होता है क्योंकि मरण में क्षणमात्र का दुःख होता है परन्तु याचना द्वारा होनेवाला दुःख तो अनन्त काल तक के लिए होता है। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति भगवान् श्री विष्णु को भी याचना के ही कारण वामनत्व को प्राप्त होना पड़ा ।।११६-११९।।

अधिकः कोऽपरस्तस्माद्यो न यास्यति लाघवम् ।
ज्ञातं मयेदमधुनामृत्योर्भवति यद् गुरुः ।।१२०।।

न परः प्रार्थयेद् भूयस्तृष्णा लाघवकारणम् ।
आदौ दुःखं तथा मध्ये दुःखमन्ते च दारुणम् ।।१२१।।

निसर्गात्सर्वभूतानामिति दुःखपरम्परा ।
वर्तमानान्यतीतानि दुःखान्येतानि यानि तु ।।१२२।।

न नरः शोचयेज्जन्म न विरज्यति तेन वै ।
अत्याहारान्महद्दुःखमल्पाहारात्तदन्तरम् ।।१२३।।

उनसे बढ़कर और कौन है जो लघुता को न प्राप्त होगा । मृत्यु से भी

जो बड़ा है वह आज मुझे ज्ञात हो गया। चूँकि तृष्णा लघुता का कारण है इसलिए किसी दूसरे को भी पुनः किसी की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। इसमें आदि में दुःख, मध्य में दुःख और अन्त में तो दारुण दुःख है ही। सृष्टि के आरम्भ से ही यह भूतों के दुःखों की परम्परा चल रही है। ये जो भी वर्तमानकालीन दुःख हैं वे सबके सब अतीतकालीन हैं। दुःखों का चिरकाल से अभ्यास होने के कारण मनुष्य जन्म आदि के विषय में न तो सोचता है और न उससे विरक्त ही होता है। अधिक आहार कर लेने पर दुःख होता है और आहार में न्यूनता आने पर उससे भिन्न प्रकार का दुःख होता है ॥१२०–१२३।

त्रुटते भोजने कण्ठो भोजने च कुतः सुखम्।
क्षुधा हि सर्वरोगाणां व्याधिः श्रेष्ठतमः स्मृतः॥१२४॥

स चान्नौषधिलेपेन क्षणमात्रं प्रशाम्यति।
क्षुद्व्याधेर्वेदना तीव्रा निःशेष बलकृन्तनी ॥१२५॥

तयाऽभिहतो म्रियते यथान्यैर्व्याधिभिर्नरः।
तद्रसेऽपि हि किं सौख्यं जिह्वाग्रपरिवर्तिनी ॥१२६॥

तत्क्षणादर्धकालेन कण्ठं प्राप्य निवर्तते।
इति क्षुद्व्याधितप्तानामन्नमौषधवत्स्मृतम् ॥१२७॥

भोजन करते समय गला टूटता है भला, भोजन में क्या सुख है? भूख सभी रोगों में सबसे बड़ी व्याधि कही गई है और वह अन्नरूपी औषधि के लेप से क्षणमात्र को शान्त हो जाती है। सम्पूर्ण बल को काट डालनेवाली भूख की व्याधि से बड़ी तीव्र वेदना होती है। अन्य व्याधियों की भाँति क्षुधा से भी आहत हुआ व्यक्ति मर जाता है। वह जिह्वा के अग्र भाग पर निवास करती है तो फिर जिह्वा के रस में भी क्या सुख है? गले के पास पहुँचकर वह आधे क्षण में ही निवृत्त हो जाती है। इसलिए क्षुधारूपी व्याधि से पीड़ित लोगों के लिए अन्न औषधि की भाँति कहा गया है।

॥१२४–१२७॥

न तत्सुखाय मन्तव्यं परमार्थेन पण्डितैः।
मृतोपमश्च यः शेते सर्वकार्यविवर्जितः ॥१२८॥

तत्रापि च कुतः सौख्यं तमसा चोदितात्मनः।
प्रबोधेऽपि कुतः सौख्यं कार्येषूपहतात्मनः ॥१२९॥

कृषिवाणिज्यसेवाद्यगोरक्षादि परिश्रमैः ॥
प्रातर्मूत्रपुरीषाभ्यां मध्याह्ने क्षुत्पिपासया ॥१३०॥
तृप्ताः काम्येन बाध्यन्ते निद्रया निशिजन्तवः ॥१३०½॥

सम्पूर्ण कार्यों को छोड़कर मृतवत् जब मनुष्य सो जाता है उसे भी पण्डित लोग परमार्थतः सुख का कारण नहीं मानते। तमोगुण से आच्छादित होने के कारण वहाँ भी क्या सुख है? तथा कार्यों में प्रताड़ित अन्तःकरण वाले पुरुष को जागने में भी क्या सुख है? कृषि, व्यापार, सेवादि तथा गोरक्षादि परिश्रमों के द्वारा भी क्या सुख है? प्रातः मल-मूत्र का त्याग करने में और मध्याह्न में भूख-प्यास से कष्ट होता है। तत्तत्कामनाओं से तृप्त हुए प्राणी रात्रि में निद्रा से बाध्य कर दिए जाते हैं ॥१२८-१३०½॥

अर्थस्योपार्जने दुःखं दुःखमर्जितरक्षणे ॥१३१॥
नाशे दुःखं व्यये दुःखमर्थस्यैव कुतः सुखम्।
चौरेभ्यः सलिलेभ्योऽग्नेः स्वजनात्पार्थिवादपि ॥१३२॥
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योर्देहभृतामिव।
खे यथा पक्षिभिर्मांसं भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ॥१३३॥
जले च भक्ष्यते मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्।
विमोहयन्ति सम्पत्सु वारयन्ति विपत्सु च ॥१३४॥
खेदयन्त्यर्जने काले कदार्थाः स्युः सुखावहाः ॥१३४½॥

इसी प्रकार धनोपार्जन में दुःख, उपार्जित धन की रक्षा में दुःख, धन के नाश में दुःख तथा उसके व्यय में भी दुःख ही है। इस प्रकार भला, धन में सुख कहाँ है? धन के लिए चोरों से भय, पानी और अग्नि से भय, उसी प्रकार स्वजनों और राजाओं आदि से भी भय बना रहता है। जिस प्रकार देह धारियों को मृत्यु से भय बना रहता है उसी प्रकार धनवानों को नित्य नाना प्रकार के भय बने रहते हैं आकाश में जैसे पक्षी भयभीत होकर मांस भक्षण करते हैं, पृथ्वी पर जैसे कुत्ते भयभीत होकर मांस भक्षण करते हैं, जल में मछलियाँ जिस प्रकार भयभीत होकर मांस आदि भक्षण करती हैं उसी प्रकार धनवान् सर्वत्र सर्वदा भयभीत रहता है। वे धन-वान् विपत्तियों में उनका निवारण करने में दुःखी होते हैं और सम्पत्तियों में रागान्ध होकर उपार्जन के समय खेद को प्राप्त होते हैं। भला, धन सुख का कारण कब होता है? ॥ १४१-१३४½ ॥

प्रागर्थपतिरुद्विग्नः पश्चात्सर्वार्थं निःस्पृहः ॥१३५॥
तयोरर्थपतिर्दुःखी सुखी मन्ये विरक्तधीः ।
हेमन्ते शैशिरं दुःखं ग्रीष्मे तापस्यदारुणम् ॥१३६॥

प्रावृष्यत्यल्पवृष्टिभ्यां कालेऽप्येवं कुतः सुखम् ।
विवाहविस्तरेदुःखं तद्गर्भोद्वहने पुनः ॥१३७॥

सूतिवैषम्यदुःखैश्च दुःखं विष्ठादि कर्मभिः ।
दन्ताक्षिरोगेपुत्रस्य हा कष्टं किं करोम्यहम् ॥१३८॥

पहले जब तक उसे धनपतित्व का अभिमान रहता है तब तक वह अनेक प्रकार से उद्विग्न होता है और पीछे सम्पूर्ण धनों से विरक्त होकर निःस्पृह हो जाने के कारण अर्थप्रपञ्च में अब तक आसक्त होने के पश्चाताप के कारण उद्विग्न होता है। उन दोनों में धनवान् को दुःखी और विरक्त बुद्धि वाले को मैं सुखी मानता हूँ।

पुनः हेमन्त ऋतु में जाड़े का और ग्रीष्म ऋतु में गर्मी का दारुण दुःख होता है। वर्षा ऋतु में अत्यधिक तथा अत्यल्प वृष्टि के कारण दुःख होता है। इस प्रकार ऋतुओं से भी क्या सुख है? विवाह के विस्तार में दुःख है और गर्भ ढोने में दुःख है। सन्तानोत्पत्ति की विषमता के कारण होने वाले दुःखों से दुःख और सन्तान के मल-मूत्रादि के त्याग करने में दुःख तथा सन्तान के दाँत, आँख आदि रोगों में 'हाय! बड़ा कष्ट है, अब मैं क्या करूँ! इस प्रकार दुःख होता है ॥१३५-१३८॥

गावो नष्टाः कृषिर्भग्ना भार्या च प्रपलायिता ।
वालापत्या च मे भार्या कः करिष्यतिरन्वनम् ॥१३९॥

विवाहकाले कन्यायाः कीदृशश्च वरो भवेत् ॥
एतच्चिन्ताभिभूतानां कुतः सौख्य कुटुम्बिनाम् ॥१४०॥

कुटुम्बचिन्ताकुलितस्य पुंसः
श्रुतं च शीलं च गुणाश्च सर्वे ।
अपक्वकुम्भे निहिता इवापः
प्रयान्ति देहेन समं विनाशनम् ॥१४१॥

राज्येऽपि हि कुतः सौख्यं सन्धिविग्रहचिन्तया ।
पुत्रादपि हि भयं यत्र तत्र सौख्यं हि कीदृशम् ॥१४२॥

गायें नष्ट हो गईं, खेती छिन्न-भिन्न हो गई और स्त्री भाग गई। मेरी स्त्री की सन्तान छोटी है, रसोई कौन बनाएगा? विवाह काल में कन्या को कैसा वर मिलेगा? इसी प्रकार की चिन्ता से अभिभूत अन्तःकरण वाले कुटुम्बियों को भला, कहाँ से सुख प्राप्त होगा? कुटुम्ब की चिन्ता से व्याकुल चित्त वाले पुरुष का शास्त्रीय ज्ञान, उत्तम स्वभाव और अन्यान्य सारे गुण देह के साथ ठीक उसी प्रकार विनाश को प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार कच्चे घड़े में डाला गया जल घड़े के साथ-साथ नष्ट हो जाता है। सन्धि-विग्रह की चिन्ता से युक्त राज्य में भी कहाँ से सुख हो सकता है? सच तो यह है कि राज्य में जहाँ पुत्र से भी भय है वहाँ सुख ही कैसा?

॥१३९-१४२॥

स्वजातीयाद्भयं प्रायः सर्वेषामेव हि देहिनाम्।
एकं द्रव्याभिलाषित्वाच्छुनामिव परस्परम् ॥१४३॥

न प्रविश्य वनं कश्चिन्नृपः ख्यातोऽस्ति भूतले।
निखिलं यस्तिरस्कृत्य सुखं तिष्ठति निर्भयः ॥१४४॥

युद्धे बाहुसहस्रं हि पातयामास भूतले।
श्रीमतः कार्तवीर्यस्य ऋषिपुत्रः प्रतापवान् ॥१४५॥

ऋषिपुत्रस्य रामस्य रामो दशरथात्मजः।
जघान वीर्यमतुलमूर्ध्वगं सुमहात्मनः ॥१४६॥

प्रायः सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी जातिवालों से भी भय होता है इसका मात्र कारण है एक मात्र द्रव्य (अथवा विषयजात) के लिए सबकी इच्छा और फलस्वरूप परस्पर कुत्तों का-सा व्यवहार होता है। कोई राजा वन में न प्रवेश करके पृथ्वी पर ख्याति तो प्राप्त करता है, परन्तु सुखी नहीं होता। इसके विपरीत जो सर्वस्व का त्याग करके वन में प्रवेश करता है वह निर्भय, निश्चिंत होकर सुखपूर्वक स्थित होता है।

युद्ध में प्रतापी ऋषिपुत्र जामदग्नि ने श्रीमान् कार्तवीर्य के सहस्र बाहुओं को काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया। उन महात्मा ऋषिपुत्र परशुराम के उर्ध्वगामी अतुलवीर्य को दशरथ पुत्र राम ने नष्ट किया॥ १४३-१४६॥

जरासंधेन रामस्य तेजसा नाशितं यशः।
जरासंधस्य भीमेन तस्यापि पवनात्मजः ॥१४७॥

हनुमानपि सूर्येण विक्षिप्तः पतितः क्षितौ।
सूर्यः प्रतापयुक्तोऽपि मेघैः संछाद्यते क्वचित् ॥१४८॥

क्षिप्यते वायुना मेघो वायो वीर्यं नगैर्जितः।
दह्यन्ते वह्निना शैलाः स वह्निः शाम्यते जलैः ॥१४९॥

तज्जलं शोष्यते सूर्यैस्ते सूर्याः सह वारिणा।
त्रैलोक्येन समस्ताश्च नश्यन्ति ब्रह्मणो दिने ॥१५०॥

जरासन्ध ने अपने तेज से राम के यश का नाश किया। भीम ने जरासन्ध का और पवनपुत्र हनुमान ने भीम का। हनुमान को सूर्य ने उठा कर फेंक दिया और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरे। प्रतापयुक्त सूर्य भी मेघों से कभी-कभी आच्छादित हो जाता है। उस मेघ को वायु उठा ले जाता है और वायु के पराक्रम को पर्वत जीत लेते हैं। पर्वत अग्नि से दग्ध होते हैं। अग्नि जल से शान्त होती है। जल का शोषण सूर्य करते हैं और वे समस्त सूर्य जल के साथ तथा त्रैलोक्य के साथ ब्रह्मा का दिन पूर्ण होने पर नष्ट हो जाते हैं ॥१४७-१५०॥

ब्रह्मापि त्रिदशैः सार्धमुपसंह्रियते पुनः।
परार्धद्वयकालान्ते शिवेन परमात्मना ॥१५१॥

एवं नैवास्ति संसारे यच्च सर्वोत्तमं बलम्।
विहायैकं जगन्नाथं परमात्मानमव्ययम् ॥१५२॥

ज्ञात्वा सातिशयं सर्वमतिमानं विवर्जयेत्।
एवंभूते जगत्यस्मिन्कः सुरः पण्डितोऽपिवा ॥१५३॥

न ह्यस्ति सर्ववित्कश्चिन्न वा मूर्खोऽपि सर्वतः।
यावद्यस्तु विजानाति तावत्तत्र स पण्डितः ॥१५४॥

भगवान् शिव के द्वारा देवताओं के साथ-साथ ब्रह्मा का भी दो परार्ध काल के अन्त में उपसंहार हो जाता है। इस प्रकार एक मात्र जगन्नाथ अव्यय परमात्मा को छोड़कर इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो सर्वोत्तम बल कही जा सकती हो। संसार में सब कुछ सातिशय है अर्थात् एक से बढ़कर एक है, यह जानकर अत्यधिक मान का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार के इस जगत् में कौन देवता है और कौन पण्डित है?

यहाँ कोई भी सर्वज्ञ नहीं है और सर्वथा कोई मूर्ख भी नहीं है। जब तक जिस विषय में जो जानता है तब तक उसमें वह पण्डित है ॥१५१-१५४॥

समाधाने तु सर्वत्र प्रभावः सदृशः स्मृतः।
वित्तस्यातिशयत्वेन प्रभावः कस्यचित्क्वचित् ।१५५॥

दानवैर्निर्जिता देवास्ते देवैर्निर्जिता पुनः।
इत्यन्योन्यंश्रितो लोको भाग्यैर्जयपराजयैः ॥१५६॥

एवं वस्त्रयुगं राज्ञां प्रस्थमात्राम्बुभोजनम्।
यानं शय्यासनं चैव शेषं दुःखाय केवलम् ॥१५७॥

सप्तमे चापि भवने खट्वामात्र परिग्रहः।
उदकुम्भ सहस्रेभ्यः क्लेशायास प्रविस्तरः ॥१५८॥

सब जगह समाधान करने पर प्रभाव को समान कहा गया है। कहीं-कहीं किसी-किसी का प्रभाव धन से बढ़ कर होता है। दानवों के द्वारा देवता लोग पराजित किए गए और पुनः देवताओं ने दानवों को पराजित किया। इस प्रकार यह संसार जय-पराजयमूलक भाग्यों के द्वारा एक दूसरे पर अवलम्बित है। इस प्रकार राजाओं का अन्न और जल भी केवल सेर भर का ही होता है। वे भी दो ही वस्त्र धारण करते हैं, एक सवारी होती है, बैठने के लिए आसन और शयन करने के लिए शय्या होती है, इसके अतिरिक्त सब कुछ उनके लिए भी दुःख का ही कारण है। सातवें गृह में अर्थात् अन्तःपुर में भी राजा का परिग्रह केवल शय्यामात्र है। जल से भरे हुए सैकड़ों घड़े आदि तो क्लेश और आयास के विस्तारमात्र हैं ॥१५५-१५८॥

प्रत्यूषेतूर्यनिर्घोषः समं पुरनिवासिभिः।
राज्येऽभिमानमात्रं हि ममेदं वाद्यते गृहे ॥१५९॥

सर्वमाभरणं भारः सर्वमालेपनं मलम्।
सर्वं प्रलपितं गीतं नृत्यमुन्मत्तचेष्टितम् ॥१६०॥

इत्येवं राज्यसम्भोगैः कुतः सौख्यं विचारतः।
नृपाणां विग्रहे चिन्ता वान्योन्यं विजिगीषया ॥१६१॥

प्रायेण श्रीमदालेपान्नहुषाद्या महानृपाः।
स्वर्गं प्राप्तानि पतिताः कः श्रियया विन्दते सुखम् ॥१६२॥

प्रातःकाल नगरवासियों के साथ भेरी नाद केवल राज्य में अभिमानमात्र का द्योतक है कि मेरे घर में यह बजाया जाता है। सारा आभरण वस्तुतः भार है। सारा लेप वस्तुतः मल का लेप है। गीत आदि मिथ्या प्रलाप हैं और नृत्य तो उन्मत्तों की चेष्टाएँ ही हैं। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो राज्य के सम्भोगों में सुख कहाँ ? राजाओं को युद्ध में तथा एक दूसरे को जीतने की इच्छा से चिन्ता होती है। प्रायः लक्ष्मी के मद से अनुलिप्त नहुष आदि महाराजे भी स्वर्ग को प्राप्त होकर पुनः निपतित हुए। भला, लक्ष्मी से कौन सुख को प्राप्त होता है ? ॥१५९-१६२॥

स्वर्गेऽपि च कुतः सौख्यं दृष्ट्वा दीप्तां परश्रियम्।
उपर्युपरिदेवानामन्योन्यातिशयस्थिताम् ॥१६३॥
नरैः पुण्यफलं स्वर्गेमूलच्छेदेन भुज्यते।
न चान्यत्क्रियते कर्म सोऽत्र दोषः सुदारुणः। १६४॥
छिन्नमूलतरुर्यद्वद्दिवसै पतति क्षितौ।
पुण्यस्य संक्षयात्तद्वन्निपतन्ति दिवौकसः ॥१६५॥
सुखाभिलाषनिष्ठानां सुखभोगादिसम्प्लवैः।
अकस्मात्पतितं दुःखं कष्टं स्वर्गे दिवौकसाम् ॥१६६॥

स्वर्ग में भी दूसरे-दूसरे देवताओं की एक से बढ़ कर एक ऊपर ही ऊपर स्थित श्री को देखकर कहाँ से सुख है ? मनुष्यों के द्वारा स्वर्ग में पुण्य का फल भोग कर उसका मूलोच्छेद कर दिया जाता है और वहाँ दूसरे कर्म किए नहीं जाते; यही सबसे भयंकर दोष है। जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष कुछ ही दिनों में पृथ्वी पर गिर जाता है उसी प्रकार पुण्य क्षय होते ही स्वर्गवासी भी पृथ्वी पर गिर जाते हैं। सुख की अभिलाषा में निष्ठा रखने वाले स्वर्गवासियों की सुखभोगादि की बाढ़ के रूप में अकस्मात् जब दुःख आ पड़ता है तो भी बड़े कष्ट की बात होती है ॥१६३-१६६॥

इति स्वर्गेऽपि देवानां नास्ति सौख्यं विचारतः ॥१६७॥
धर्मक्षयाच्च देवानां दिवि दुःखमवस्थितम्।
नानायोनिसहस्रेषु सम्भवः पुण्यसंक्षयात् ॥१६८॥
रोगाश्च विविधाकारा देवलोकेऽपि संस्मृताः।
यज्ञस्य शिरश्छिन्नमश्विनीभ्यां संहितं पुनः ॥१६९॥
तेन दोषेण यज्ञस्य शिरोरोगः सदैव हि।
मार्तण्डभानोः कुष्ठं च वरुणस्य जलोदरम् ॥१७०॥
पूष्णो दशनवैकल्यं भुजस्तम्भः शचीपतेः।
सुमहान्क्षयरोगश्च सोमस्य परिकीर्तितः ॥१७१॥

इस प्रकार यदि विचार करके देखा जाय तो देवताओं को भी स्वर्ग में भी सुख नहीं है। धर्म का क्षय होने के कारण स्वर्ग में देवताओं को भी दुःख होना निश्चित है। पुण्यक्षय होने के पश्चात् उन्हें भी सहस्रों नाना योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है। देवलोक में भी अनेक प्रकार के रोग कहे गए हैं। क्योंकि यज्ञदेव का शिर काट डाला गया, जिसे अश्विनी-कुमारों ने जोड़ा। इसी दोष से यज्ञ देव को सदैव शिरोव्याधि रहती है। मार्तण्ड भानु को कुष्ठ और वरुण को जलोदर, पूषा को दन्तक्लेश, इन्द्र को बाहुस्तम्भ और सोमदेव को महान् क्षयरोग कहा गया है ॥१६७-१७१॥

ज्वरश्च सुमहानासीद्दक्षस्यापि प्रजापतेः।
कल्पे कल्पे च देवानां महतामपि संक्षयः ॥१७२॥

परार्धद्वयकालान्ते ब्रह्मणश्चाप्यनित्यता।
एवमेतज्जगत्सर्वमन्योन्यातिशये स्थितम् ॥१७३॥

दुःखैराकुलितं ज्ञात्वा निर्वेदं परमाप्नुयात्।
निर्वेदाच्च विरागः स्याद्विरागाज्ज्ञानसंभवः ॥१७४॥

ज्ञानेन तत्परं ज्ञानं शिवं मुक्तिमवाप्नुयात्।
समस्तदुःखनिर्मुक्तः स्वस्थात्मा स सुखी तदा।
सर्वज्ञः परिपूर्णश्च मुक्तइत्यभिधीयते ॥१७५॥

प्रजापति दक्ष को अत्यन्त महान् ज्वर हुआ था। बड़े-बड़े देवताओं का भी प्रत्येक कल्प में विनाश होता है। दो परार्धकाल व्यतीत हो जाने पर ब्रह्मा की भी नित्यता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह सारा संसार परस्पर एक दूसरे से बढ़कर स्थित है। इसे दुःखों से संकुल जानकर परम ग्लानि को प्राप्त होना चाहिए। ग्लानि से वैराग्य होगा और वैराग्य से ज्ञान की उत्पत्ति, तथा ज्ञान से परमात्मा का अपरोक्षानुभव प्राप्त कर कल्याण-स्वरूप मुक्ति प्राप्त करे। तदनन्तर वह समस्त जागतिक दुःखों से निर्मुक्त हो स्वरूपस्थ होकर सुखी होगा। ऐसा महापुरुष सर्वज्ञ, परिपूर्ण और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥१७२-१७५॥



वैराग्यार्थं गर्भस्थ जीव की स्मृति एवं उद्‌गार

तथा

जन्म, बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाओं में मोहवश प्राप्तहोने वाले दुःखों का सुस्पष्ट विशदरूपेण प्रतिपादन

सुकुमारतनुर्गर्भेजन्तुर्बहुमलावृते ।
उल्ब संवेष्टितो भुग्नपृष्ठग्रीवास्थिसंहतिः ॥१॥

अत्यम्लकटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्मातृभोजनैः ।
अत्यन्ततापैरत्यर्थं बद्धमानातिवेदनः ॥२॥

प्रसारणाकुञ्चनादौ नाङ्गानां प्रभुरात्मनः ।
शकृन्मूत्रमहापङ्कशायी सर्वत्र पीडितः ॥३॥

निरुच्छ्वासः सचैतन्यस्स्मरञ्जन्मशतान्यथ ।
आस्ते गर्भेऽतिदुःखेन निजकर्मनिबन्धनः ॥४॥

अत्यन्त मलपूर्ण गर्भाशय में उल्ब (गर्भ की झिल्ली) से लिपटा हुआ यह सुकुमार शरीर जीव, जिसकी पीठ और ग्रीवा की हड्डियाँ कुण्डलाकार मुड़ी रहती हैं, माता के खाए हुए अत्यन्त तापप्रद, खट्टे, कड़वे, चरपरे, गर्म और खारे पदार्थों से जिसकी वेदना बहुत बढ़ जाती है, तथा जो मल-मूत्ररूप महापङ्क में पड़ा-पड़ा सम्पूर्ण अङ्गों में अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करने पर भी अपने अङ्गों को फैलाने या सिकोड़ने में समर्थ नहीं होता और चेतनायुक्त होने पर भी श्वाँस नहीं ले सकता, अपने सैकड़ों पूर्व जन्मों का स्मरण कर कर्मों से बँधा हुआ अत्यन्त दुःखपूर्वक गर्भ में पड़ा रहता है ।

॥१-४॥

जठरानलसंतप्ताः पित्ताख्यरसविप्रुषः ।
गर्भाशये निमग्नं तु दहन्त्यतिभृंश तु माम् ॥५॥

औदार्यक्रिमिवक्त्राणि कूटशाल्मलिकण्टकैः ।
तुल्यानि च तु दन्त्यार्तं पार्श्वास्थिक्रकचार्दितम् ॥६॥
गर्भे दुर्गन्धभूयिष्ठे जठराग्निप्रदीपिते ।
दुःखं मयाप्तं यत्तस्मात्कनीयः कुम्भपाकजम् ॥७॥
मयासृक्श्लेष्मपायित्वं वान्ताशित्वं च यद्भवेत् ।
अशुचौ कृमिभावश्च तत्प्राप्तं गर्भशायिना ॥८॥
गर्भशय्यां समारुह्य दुःखं यादृक् मयापि तत् ।
नातिशेते महादुःखं निःशेषं नरकेषु तत् ॥६॥

उस समय गर्भस्थ जीव गर्भावस्था में अनुभूत हुए अपने असीम दुःखों का उद्गार अत्यन्त कष्ट के साथ प्रकट करता है कि जठरानल से सन्तप्त पित्तनामक रस के विन्दु गर्भाशय में निमग्न मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहे हैं। कूट शाल्मलि के कण्टकों के समान तीक्ष्ण पेट के कीड़ों के मुख समीप के अस्थिरूपी आरे से दुःखित मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहे हैं। गर्भ में अत्यधिक मल-मूत्र आदि की दुर्गन्ध से और जठराग्नि की ज्वाला से जो मुझको दुःख प्राप्त हुआ है उसकी अपेक्षा कुम्भीपाक नरक का भी कष्ट कुछ कम ही है। पीप, रक्त, कफ आदि अत्यन्त घृणित पदार्थ ही पान करने को और वान्ति ही भक्षण करने को मिलती है। तथा अशुचि पदार्थ मल-मूत्र आदि में ही पड़ा रहने के कारण गर्भ में स्थित प्राणी कीड़ा ही हो जाता है। जो दुःख गर्भाशय में सोकर मैंने प्राप्त किया है वह सम्पूर्ण नरकों में भी पड़कर नहीं प्राप्त होता ॥५-६॥

स देही नवमे मासि सर्वलक्षणसंयुतः ।
जानञ्छुभाशुभं कर्म संस्मरेत्पूर्वजन्मजम् ॥१०॥
नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥११॥
मातरो विविधा दृष्टाः पितरोभ्रातरस्तथा ।
नानायोनिमहं प्राप्तो मनुष्यपशुपक्षिणाम् ॥१२॥
तत्रोषितोऽतिदुःखेन गर्भमूत्रमलावृतः ।
उल्वेनवेष्टितो भुग्नपृष्ठग्रीवास्थिसंहतिः ॥१३॥
गर्भाशये स्थितो देही ज्ञातवांश्चिन्तयेदिदम् ।
किं कृतं दुष्कृतं कर्म यतो गर्भे निवेशितः ॥१४॥

वह देहधारी जीव नवें महीने में सर्व लक्षणों से सम्पन्न होकर अपने पूर्व जन्मों के किए हुए शुभाशुभ कर्मों को स्मरण करता है। मैंने सहस्रों पूर्व जन्मों को देखा, उनमें नाना प्रकार के भोजन किए, नाना प्रकार के — नाना योनियों के स्तनों का पान किया। बहुत से माता, पिता एवं भ्राताओं को देखा और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेकानेक योनियों को प्राप्त किया। उन समस्त योनियों में निजकृत कर्मफलों का उपभोग करते हुए इस समय मल-मूत्र से आवृत्त इस गर्भ में बड़े ही कष्ट पूर्वक निवास कर रहा हूँ। कुण्ड-लाकार मुड़ी हुई पीठ एवं ग्रीवा की अस्थियों वाला, जरायु से परिवेष्टित गर्भा-शय में स्थित देही अदृष्ट के द्वारा अपने दिव्य ज्ञान को प्राप्त कर इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैंने पूर्वजन्म में कौन-सा दुष्कृत किया था कि जिसके फलस्वरूप इस घृणित गर्भ में प्रविष्ट कराया गया हूँ ॥१०-१४॥

अहो अत्यन्त पापोहं भृत्यापत्यमित्रयोषिद्गृहक्षेत्रधनधान्या-दिष्वत्यंतरागेण कलत्रपोषणार्थं परधनक्षेत्रादिकं पश्यतो हरणाद्युपायैरपहृत्य कामांधतया परस्त्रीहरणादिकमनुभूय महापापान्याचरन्तैः पापैरहमेक एवंविध नरकाननुभूय पुनः स्थावरादिषु महादुःखमनुभूय संप्रति जरायुणा परिवेष्टितोंतर्दुःखेन बहिस्तापेन च दह्यामि ॥१५॥

जातस्यैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
अहो दुःखोदधौमग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥१६॥
यन्मयापरिजनस्यार्थे कृतंकर्म शुभाशुभम्।

एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः ॥१७॥
अहो दुखं हि देहिनाम् ॥१८॥

अहो ! मैं अत्यन्त पापी हूँ; क्योंकि भृत्य, सन्तति, मित्र, स्त्री, गृह, क्षेत्र वन-धान्यादि में अत्यन्त आसक्त होकर, दूसरे के धन, क्षेत्र आदि को देख-कर हरणादि उपायों से उनका अन्याय पूर्वक अपहरण कर अपने स्त्री, पुत्र आदि का पोषण किया तथा काम से अन्धा होने के कारण पराई स्त्री को हर कर, उनके साथ संभोग करके बड़े-बड़े पाप किए हैं। इस प्रकार किए हुए उन पापों के कारण अकेला मैं ही अनेक नरकों के कष्ट का अनुभव कर, पुनः स्थावर आदि योनियों में महान् दुःख भोगकर इस समय जरायु से परिवेष्टित हुआ आन्तरिक दुःख तथा बाह्य संताप से निरन्तर दग्ध हो रहा हूँ।

इस प्रकार अपने कर्मानुसार मैं बारम्बार उत्पन्न हुआ और मृत्यु को प्राप्त हुआ। अपने परिवार वालों के लिए जो मैंने शुभाशुभ कर्म किए, उनको सोच कर मैं आज यहाँ अकेला दग्ध हो रहा हूँ। उन भोगों को भोगने वाले न मालूम कहाँ चले गए; परन्तु मैं अपने कर्मानुसार यहाँ दुःख-समुद्र में पड़ा हुआ हूँ उससे निकलने का कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ। अहो! देह धारियों को कितना महान् कष्ट उठाना पड़ता है ॥१५-१८॥

देहस्तु पापात्संजातस्तस्मात्पापं न कारयेत्।
भृत्यमित्रकलत्रार्थमन्यद्द्रव्यं हृतं मया ॥१६॥

तेन पापेन दह्यामि जरायुपरिवेष्टितः।
दृष्ट्वान्यस्य श्रियं पूर्वं सन्तप्तोहमसूयया ॥२०॥

गर्भाग्निनानुदह्योयमिदानीमपि पापकृत्।
कायेन मनसा वाचा परपीडामकारिषम् ॥२१॥

तेन पापेन दह्यामि त्वहमेकोतिदुःखितः।
एवं विधं गर्भस्थो जंतुर्विलप्य स्वयमेव वा ॥२२॥

आत्मानमाश्वास्य उत्पत्तेरनंतरं सत्संगेन विशुद्धमाना भूत्वा-सत्कर्माणि निवर्त्य अखिल जगदांतरात्मनः सत्यज्ञानानन्दमयस्य-शक्तिप्रभावानुष्ठित विष्टतपवर्गस्य लक्ष्मीपतेर्नारायणस्य सकल-सुरासुरयक्षगन्धर्वराक्षसपन्नगमुनिकिन्नर समूहार्चित -चरणकमलयुगं भक्तितः समभ्यर्च्य दुःसहसंसारोच्छेद कारणस्य-भूत भेदरहस्योपनिषिद्भिः परिपुष्टं सकललोकपरायणं हृदि निधाय दुःखतरमिमं कारागारमतिक्रमिष्यामि ॥२३॥

शरीर पाप से ही उत्पन्न होता है इसलिए पाप नहीं करना चाहिए मैंने कुटुम्ब, मित्र और स्त्री के लिए दूसरों का धन चुराया है, उसी पाप से आज गर्भ की झिल्ली में बँधा हुआ जल रहा हूँ। पूर्व जन्म में दूसरों का धन देखकर ईर्ष्यावश जला करता था, इसीलिए मैं पापी जीव इस समय भी गर्भ की आग से निरन्तर दग्ध हो रहा हूँ। मन, वाणी, और शरीर से मैंने दूसरों को बहुत पीड़ा दी थी उस पाप से आज मैं अकेला ही अत्यन्त दुःखी होकर जल रहा हूँ। इस प्रकार वह गर्भस्थ जीव नाना प्रकार से विलाप करके स्वयं ही अपने आप को इस प्रकार आश्वासन देता है—कि अब मैं जन्म

लेने के बाद सत्संग तथा भगवान् विष्णु की कथा का श्रवण करके विशुद्ध-चित्त हो सत्कर्मों का अनुष्ठान करूँगा और सम्पूर्ण जगत् के अन्तरात्मा तथा अपनी शक्ति के प्रभाव से अखिल विश्व की सृष्टि करने वाले सत्य-ज्ञानानन्दस्वरूप लक्ष्मीपति भगवान् नारायण के उन युगलचरणारविन्दों का भक्तिपूर्वक पूजन करूँगा, जिनकी समस्त देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग, मुनि तथा किन्नर समुदाय आराधना करते रहते हैं। भगवान् के वे चरण दुःसह संसार बन्धन के मूलोच्छेद के हेतु हैं। वेदों के रहस्यभूत उपनिषदों द्वारा उनकी महिमा का स्पष्ट ज्ञान होता है। वे ही सम्पूर्ण जगत् के आश्रय हैं। मैं उन्हीं भगवच्चरणारविन्दों को अपने हृदय में रखकर अत्यन्त दुःख से भरे हुए इस संसार रूपी कारागार को लाँघ जाऊँगा।

॥ १६-२३ ॥

पुनर्नैव करिष्यामि भुक्तमात्र इहोदरात्।
तथा तथा यतिष्यामि गर्भं नाप्नोम्यहं यथा ॥२४॥

अध्येष्यामि सदा वेदान्साङ्गाञ्शुश्रूषया गुरोः।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म श्रद्धयैव करोम्यहम् ॥२५॥

कृतदारः पुनर्यज्ञान्करोम्यात्मविशुद्धये।
यज्ञैर्दग्धमलोभूत्वा ज्ञात्वा संसारहेयताम् ॥२६॥

वैराग्यातिशयेनैव मोक्षकामनया पुनः।
निरस्य सर्वकर्माणि शान्तो भूत्वा जितेन्द्रियः।
संसारसागरं घोरं लङ्घयाम्यहमात्मना ॥२७॥

मैं उन कर्मों का पुनः अनुष्ठान नहीं करूँगा जिनके कारण अनेकानेक योनियों के कष्टों को भोग चुका हूँ। अब मैं इस उदर से बाहर निकलने पर निश्चितरूप से वही-वही प्रयत्न करूँगा, जिससे पुनः गर्भ में न आऊँ। मैं गुरुदेव की शुश्रूषा के द्वारा सदा साङ्ग वेदों का विधिवत् अध्ययन करूँगा तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित नित्यनैमित्तिक कर्मों का सदा श्रद्धा-पूर्वक अनुष्ठान करूँगा। तदनन्तर पुनः स्त्री का पाणिग्रहण कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम यज्ञों का अनुष्ठान करूँगा। यज्ञों के द्वारा अन्तःकरण के मल को दग्ध कर विशुद्धान्तःकरण हो, संसार को हेय यानी तुच्छ, घृणित तथा बन्धन का हेतु समझकर अतिशय वैराग्यसम्पन्न होकर पुनः मोक्ष की प्रबल कामना से साधन सहित समस्त लौकिक-वैदिक कर्मों का परित्याग

कर संसारोपरमरूपशान्ति को प्राप्त हो, जितेन्द्रिय होकर इस घोर-भयंकर संसारसागर को स्वयं पार कर जाऊँगा ॥२४-२७॥

यदितो निर्गमिष्यामि भजिष्यामि हरिं प्रभुम् ।
येन भूयो गर्भवासदुःखं द्रक्ष्यामि न क्वचित् ।२८॥

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम् ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥२९॥

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये भगवन्तं नारायणं देवम् ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥३०॥

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं वा समाश्रये ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥३१॥

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि ध्यायेब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

यदि मैं इस गर्भ से बाहर निकलूँगा तो समस्त विश्व के प्रभु भगवान् श्री हरि का भजन करूँगा, जिससे पुनः गर्भवास के दुस्सह नारकीय दुःखों को कभी न देख सकूँ । यदि मैं इस योनि से छूट जाऊँगा यानी इस गर्भ से सकुशल बाहर निकल जाऊँगा तो अशुभ कर्मों का नाश करने वाले तथा मुक्तिरूप फल प्रदान करने वाले भगवान् नारायण की शरणापत्ति स्वीकार करूँगा । यदि मैं इस योनि से छूट जाऊँगा तो अशुभ कर्मों का नाश करने वाले और मुक्ति रूप फल प्रदान करने वाले सांख्य और योग का अभ्यास करूँगा । यदि मैं योनि से छूट जाऊँगा तो सनातन पर ब्रह्म का ध्यान करूँगा ॥२८-३२॥

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयाऽऽत्त
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥३३॥

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥३४॥

इस समय भगवान् ने जो मुझे कर्मानुसार गर्भ की गति दिखाई है, वह सर्वथा मेरे योग्य ही है। वे अपनी शरण में आए हुए इस नश्वर जगत् की रक्षा के लिए स्वेच्छा से ही नाना प्रकार के रूप धारण करते हैं। अतः मैं भूतल पर विचरण करने वाले उन्हीं के निर्भय चरणारविन्दों की शरण लेता हूँ। जो इस माता के उदर में देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपा माया का आश्रय कर पुण्य-पाप रूप कर्मों से आच्छादित रहने के कारण बद्ध-से जान पड़ते हैं, अपने सन्तप्त हृदय में स्फुरित होने वाले उन विशुद्ध-उपाधि-रहित, अविकारी और अखण्डबोधरूप परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।
॥३३-३४॥

यन्माययोरुगुण कर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण॥३५॥

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना -
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम॥३६॥

उन्हीं की माया से अपने स्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाने के कारण यह जीव अनेक प्रकार के सत्त्वादिगुण और कर्म के बन्धन से युक्त इस संसार-मार्ग में तरह-तरह के कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है, अतः उस परम पुरुष परमात्मा की कृपा के बिना और किस युक्ति से इसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है यह भी उनके सिवा और किसने दिया है; क्योंकि स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियों में एकमात्र वे ही तो अन्तर्यामीरूप अंश से विद्यमान हैं। अतः जीवरूप कर्मजनित पदवी का अनुवर्तन करने वाले हम अपने त्रिविध तापों की शान्ति के लिए उन्हीं का भजन करते हैं॥३५-३६॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु॥३७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥३८॥

भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरी (माता के) देह के भीतर मल-मूत्र और रुधिर के कुएँ में गिरा हुआ है, उसकी जठराग्नि से इसका शरीर सन्तप्त हो रहा है । उससे निकलने की इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है । भगवन् ! अब इस दीन को यहाँ से कब निकाला जायेगा ? स्वामिन् ! आप बड़े दयालु हैं । आप जैसे उदार प्रभु ने ही इस दस मास के जीव को ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है । दीनबन्धो ! इस अपने किए हुए उपकार से ही आप प्रसन्न हों; क्योंकि आपको हाथ जोड़ने के सिवा आप के उस उपकार का बदला कोई दे भी क्या सकता है ? ॥३७-३८॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥३९॥

तस्मादहं विगतविक्लवउद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥४०॥

भगवन् ! इस अत्यन्त दुःख से भरे हुए गर्भाशय में यद्यपि मैं बड़े कष्ट से रह रहा हूँ, तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूप में गिरने की मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है; क्योंकि उसमें जाने वाले जीव को आप की माया घेर लेती है, जिसके कारण उसकी शरीर में अहं बुद्धि हो जाती है और उसके परिणाम में उसे फिर इस संसार-चक्र में ही पड़ना होता है । अतः मैं व्याकुलता को छोड़कर हृदय में श्री विष्णुभगवान् के चरणों को स्थापित कर अपनी बुद्धि की सहायता से ही अपने को बहुत शीघ्र इस संसार रूपसमुद्र के पार लगा दूँगा, जिससे मुझे अनेक प्रकार के दोषों से युक्त यह संसार-दुःख पुनः न प्राप्त हो ॥३९-४०॥

एवं कृतमतिगर्भेदशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥४१॥

अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति ।।४२।।

अस्थियन्त्रविनिष्पिष्टः पतितः कुक्षिवर्त्मना ।
मेदोऽसृग्दिग्धसर्वाङ्गोजरायुपुटसंवृतः ।।४३।

गर्भस्थो देही वायुना परिपीडितो मातुश्चापि दुःखं-कुर्वन्कर्मपाशेनबलाद्योनिमार्गान्निष्क्रामन्सकलयातना भोगमेकं कालभवमनुभवति ।।४४।।

वह दस महीने का जीव गर्भ में ही जब इस प्रकार विवेक सम्पन्न होकर भगवान् की स्तुति करता है तब उस समय उस अधोमुख बालक को प्रसव-काल की वायु तत्काल बाहर आने के लिए ढकेलती है। तत्पश्चात् वह योनि द्वार को प्राप्त होकर योनिरूप यन्त्र में दबाया जाकर बड़े कष्ट से जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णवीय वायु (माया) के स्पर्श से वह अपने पिछले जन्म और मृत्युओं को भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामने से हट जाते हैं। योनियन्त्र में इसके सम्पूर्ण अङ्ग अस्थियों से पिचकर अत्यन्त व्यथित होते हैं। जब वह कुक्षि से निकल कर योनि से बाहर आता है उस समय इसका शरीर मेद, रुधिर से लिप्त और जरायु से आच्छादित रहता है। वह गर्भस्थ जीव वायु से अत्यन्त पीड़ित हो, माता को भी दुःख देता हुआ कर्मपाश से बँध कर बलात् योनिमार्ग से निकलता है। निकलते समय सम्पूर्ण नरक यातनाओं का भोग उसे एक साथ ही भोगना पड़ता है। ।।४१-४४।।

निष्क्रामंश्चोदरान्मूर्च्छामसह्यां प्रतिपद्यते ।
प्राप्नोति चेतनां चासौ वायुस्पर्शसुखान्वितः ।।४५।।

कण्टकैरिव तुन्नाङ्गः क्रकचैरिव दारितः ।
पूतिव्रणान्निपतितो धरण्यां कृमिको यथा ।।४६।।

पातितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ।४७।।

अकिंचित्कस्तथा बालो मांसपेशी समास्थितः ।
श्वमार्जारादिदंष्ट्रिभ्यो रक्ष्यते दण्डपाणिभिः ।।४८।।

वह देही अत्यन्त संकीर्ण योनिमार्ग से प्रबल प्रसूति वायु द्वारा बलात् उदर से धक्का देकर निकाले जाने पर अत्यन्त दुःखार्त हो, महान् असह्य मूर्च्छा को प्राप्त होता है। तदनन्तर बाह्यवायु का स्पर्श होने पर सुखान्वित हो, चेतना को प्राप्त होता है। उस समय वह जीव दुर्गन्ध युक्त फोड़े में से गिरे हुए किसी कण्टकविद्ध अथवा आरे से चीरे हुए कीड़े के समान पृथ्वी पर गिरता है। पृथ्वी पर माता के रुधिर और मूत्र में पड़ा हुआ वह बालक विष्ठा के कीड़े के समान छटपटाता है। उसका गर्भवास का सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति यानी देहाभिमानरूप अज्ञानदशा को प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोर से रोता है। जन्म लेकर वह उस समय कुछ भी नहीं कर सकता, केवल मांस के पिण्ड के समान पड़ा रहता है तब इसके माता-पिता दण्ड हाथ में लिए कुत्ते, बिलाव तथा दाढ़ वाले जन्तुओं से रक्षा करते हैं ॥४५-४८॥

कण्डूयनेऽपि चाशक्तः परिवर्तेऽप्यनीश्वरः।
स्नानपानादिकाहारमभ्याप्नोति परेच्छया ॥४६॥

अशुचिप्रस्तरेसुप्तः कीटदंशादिभिस्तथा।
भक्ष्यमाणोऽपि नैवेषां समर्थो विनिवारणे ॥५०॥

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥५१॥

पितृवद्राक्षसं वेत्ति मातृवड्डाकिनीमपि।
यूय वयं वो वदंति दीर्घकष्टं तु शैशवम् ॥५२॥

श्लेष्मणा पिहिता नाडी सुषुम्ना यावदेव हि।
व्यक्तवर्णं च वदनं तावद्वक्तुं न शक्यते ॥५३॥

अतएव च गर्भेऽपि रोदितुं नैव शक्यते ॥५४॥

उसे स्वयं खुजलाने अथवा करवट लेने की भी शक्ति नहीं रहती। वह स्नान तथा दुग्धपान आदि आहार भी दूसरे ही की इच्छा से प्राप्त करता है। अपवित्र मल-मूत्र आदि में सने हुए बिस्तर पर पड़ा रहता है, उस समय कीड़े और डाँस आदि उसे काटते हैं तथापि वह उन्हें दूर करने में भी समर्थ नहीं होता। फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं समझ सकते, उनके द्वारा पालन-पोषण होता है। ऐसी अवस्था में उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है उसका निषेध करने की शक्ति भी उसमें नहीं होती। उस ज्ञानशून्य अवस्था

में पिता के ही समान वह राक्षस को भी जानता है तथा डाकिनी को भी माता के ही समान समझता है। दूध पीने की अभिलाषा होने पर वह "यूयं" "वयं" 'वो" आदि शब्दों का प्रयोग करता है। तात्पर्य यह है कि बाल्या-वस्था भी महान् कष्ट कारक है। जब तक सुषुम्ना नाड़ी कफ से आच्छादित रहती है तब तक स्फुट अक्षर और बचन बोलने को वह समर्थ नहीं होता। इसी कारण से वह गर्भ में भी नहीं रो पाता ॥४६-५४॥

लब्ध्वाऽपि तरलाकारे कार्यभारतरङ्गिणी।
संसारसागरे जन्म बाल्यं दुःखाय केवलम् ॥५५॥

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता।
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्तते ॥५६॥

न मृतौ न जरा रोगे न चाऽऽपदि न यौवने।
ताश्चिन्ताः परिकृन्तन्ति हृदयं शैशवेषु याः ॥५७॥

तिर्यग्जातिसमारम्भः सर्वैरेवाऽवधीयतः।
लोलोबालसमाचारो मरणादपि दुःखदः ॥५८॥

जलवह्न्यनिलाजस्रजातभीत्या पदे पदे।
यद्भयं शैशवेऽबुद्ध्या कस्याऽऽपदि हि तद्भवेत् ॥५९॥

लीलासु दुर्विलासेसु दुरीहासु दुराशये।
परमं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥६०॥

चंचल आकार वाले जरायुज, अण्डज स्वेदज और उद्भिज—इन चार शरीरों से पूर्ण और नाना प्रकार के कर्तव्य भार रूपी तरङ्गों से युक्त संसार-सागर में मनुष्य-जन्म पाकर भी बाल्यावस्था में केवल दुःख ही मिलता है। अशक्ति—असामर्थ्य, आपत्तियाँ, खाने-पीने आदि की तृष्णा, मूढ़बुद्धिता, (बुद्धि के द्वारा कुछ जान न पाना), खिलौने आदि की अभिलाषा, चंचलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्था में ही प्रकट होते हैं। जैसी पराधीनता प्रयुक्त चिन्ताएँ बाल्यावस्था में जीव के हृदय को पीड़ित करती हैं वैसी मरण में, बुढ़ापे में, रोगावस्था में एवं यौवनावस्था में भी नहीं करतीं। बाल्यावस्था में पशु-पक्षियों की-सी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगों के द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकों की चपल चेष्टा मृत्यु से भी बढ़ कर दुःखदायिनी होती है। बाल्यावस्था में अज्ञानवश जल, अग्नि और वायु

से निरन्तर उत्पन्न होने वाले भय के कारण पग-पग पर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकाल में भी किसको होता होगा ? बालक भाँति-भाँति की लीलाओं, दुर्विलासों, दुश्चेष्टाओं एवं दुराशाओं में सहसा पड़ कर 'ये सार वस्तुएँ हैं, ऐसे महाभ्रम को प्राप्त होता है ।।५५-६०।।

ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः ।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त्त इव कौशिकाः ।।६१।।

बाल्यं रम्यमिति व्यर्थबुद्धयः कल्पयन्ति ये ।
तान् मूर्खपुरुषान् ब्रह्मन् धिगस्तु हतचेतसः ।।६२।।

सर्वाणि दुःखभूतानि सर्वेदोषा दुराधयः ।
बालमेवोपजीवन्ति श्रीमन्तमिव मानवाः ।।६३।।

नवं नवं प्रीतिकरं न शिशुः प्रत्यहं यदि ।
प्राप्नोति तदसौ याति विषवैषम्यमूर्छनाम् ।।६४।।

स्तोकेन वशमायाति स्तोकेनैति विकारिताम् ।
अमेध्य एव रमते बालः कौलेयको यथा ।।६५।

जैसे उल्लू दिन में अन्धकारमय गड्ढों में छिपे रहते हैं उसी प्रकार जितने दोष, जितने दुराचार, जितने दुष्कर्म और जितनी मानसिक चिन्ताएँ हैं वे सब बाल्यावस्था में जीव के हृदय में छिपकर बैठी रहती हैं । जो लोग 'बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कल्पना करते हैं वे सब दुर्बुद्धि हैं, उन हतचित्त मूढ़बुद्धि लोगों को बार-बार धिक्कार है । दुःखपूर्ण सम्पूर्ण दुर्व्यसन, सम्पूर्ण दोष, और सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताएँ बाल्यावस्था में ही निवास करती हैं, जैसे मनुष्य धनवान् पुरुष के आश्रय में रहते हैं । यदि बालक को प्रतिदिन प्रसन्न करने वाली नई-नई वस्तुएँ न मिलें, तो वह विष के समान असह्य चित्तविकृति से मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है । बालक कुत्ते के समान थोड़े-से खाने-पीने की वस्तु देने आदि से वश में हो जाता है और थोड़े-से घुड़कने या छड़ी आदि दिखाने से विकृत हो जाता है और अपवित्र स्थान में ही रमता या क्रीड़ा करता है । ।।६१-६५।।

यत्र दोलाकृतिमनः परिस्फुरति वृत्तिषु ।
त्रैलोक्याभव्यमपि तत्कथं भवति तुष्टये ।।६६।।

सर्वेषामेव सत्त्वानां सर्वावस्थाभ्य एव हि ।
मनश्चञ्चलतामेति बाल्ये दशगुणं मुने ।।६७।।

मनः प्रकृत्यैव चलं बाल्यं च चलतां वरम् ।
तयोः संश्लिष्यतोस्त्राता क इवाऽन्तः कुचापले ।।६८।।

शैशवं च मनश्चैव सर्वास्वेत्र हि वृत्तिषु ।
भ्रातराविव लक्ष्येते सततं भङ्गुरस्थितो ।।६९।।

भयाहारपरं दीनं दृष्टादृष्टाभिलाषि च ।
लोलबुद्धिवपुर्धत्ते बाल्यं दुःखाय केवलम् ।७०।।

जहाँ झूले के समान चंचल मन विविध विषयों के आकार को प्राप्त होता है, तीनों लोकों में अत्यन्त अमङ्गल वह बाल्यावस्था किस प्रकार संतोषदायक हो सकती है ? सभी प्राणियों का मन अन्य सब अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में ही दसगुना चञ्चल हो उठता है । मन की चंचलता का आधिक्य दःखातिशय का हेतु है यानी जितना मन चंचल होगा, उतना ही अधिक कष्ट होगा । मन स्वभावतः चंचल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है । जहाँ उन दोनों का संयोग हो, वहाँ अन्तः-करण में चंचलता प्रयुक्त अनर्थ से बचाने वाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है । सभी व्यवहारों में बाल्यावस्था और मन—ये दोनों सदा सहोदर भाई-से प्रतीत होते हैं, ये दोनों चंचल हैं - दोनों की स्थिति क्षणिक है । बाल्यावस्था में प्राणी केवल दूसरों से डरता और खाता-पीता रहता है । वह सदा दीन रहता है । दृष्ट और अदृष्ट सब वस्तुओं की इच्छा करता है । उसकी बुद्धि और शरीर—दोनों चंचल होते हैं । ऐसी बाल्यावस्था को मनुष्य केवल दुःख भोगने के लिए ही धारण करता है ।।६६-७०।।

स्वसङ्कल्पाभिलषितान् भावानप्राप्य तप्तधीः ।
दुःखमेत्यबलो बालो विनिष्कृत्त इवाऽऽशये ।।७१।।

बालो बलवता स्वेन मनोरथविलासिना ।
मनसा तप्यते नित्यं ग्रीष्मेणेव वनस्थली ।।७२।।

नाना मनोरथमयी मिथ्याकल्पितकल्पना ।
दःखायाऽत्यन्तदीर्घाय बालता पेलवाशया ।।७३।।

अन्तश्चित्तोरशक्तस्य शीतातपनिवारणे ।।
को विशेषो महाबुद्धे बालस्योर्वीरुहस्तथा ।।७४।।

शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ।।७५।।

निर्बल बालक अपने मानसिक संकल्प से जिन पदार्थों को पाने की इच्छा करता है, उन अभिलषित वस्तुओं की अप्राप्ति पर वह अत्यन्त सन्तप्त होकर ऐसे दुःख को प्राप्त होता है कि मानो किसी ने उसके हृदय को काट डाला हो। जैसे प्रखर ग्रीष्म ऋतु से वनभूमि संताप को प्राप्त होती है वैसे ही बालक भी मनोरथों के विलास से युक्त बलवान् अपने मन से नित्य संताप को प्राप्त होता है। बाल्यावस्था में असत्य पदार्थों में ही सत्यत्व-बुद्धि होती है। अनेक प्रकार के मनोरथों का साम्राज्य छाया रहता है और हृदय बड़ा कोमल रहता है। अतएव बाल्यावस्था में अत्यन्त दीर्घ दुःख के सिवा सुख का लेश भी नहीं होता। जिसके अन्तःकरण में सर्दी-गर्मी का अनुभव तो होता है, परन्तु जो उनका निवारण करने में समर्थ नहीं होता, उस बालक और वृक्ष में क्या भेद है ? अर्थात् बालक वृक्ष के समान जड़ है। बाल्यावस्था में गुरु से, माता-पिता से अन्यान्य जनों से एवं अपनी अपेक्षा बड़े बालकों से भी भय बना रहता है, इसलिए बाल्यावस्था भय का मन्दिर ही है ॥७१-७५॥

जन्मदुःखान्यनेकानिजन्मनोऽनन्तराणि च।
बालभावे यदाप्नोति ह्याधिभौतादिकानि च ॥७६॥

प्रौगण्डेयातनां भुक्त्वा प्राप्नुते यौवनं पुनः।
न स्मरेन्मायया देही गर्भादियातनां पुनः ॥७७॥

बाल्यानर्थमथ त्यक्त्वा पुमानभिहताशयः।
आरोहति निपाताय यौवनं संभ्रमेण तु ॥७८॥

दृप्तोऽथ यौवनं प्राप्य मन्मथज्वरविह्वलः।
गायत्यकस्मादुच्चैस्तु तथा शौर्यं च वलगति ॥७९॥

सह देहेन मानेन वर्धमाने च मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिण्वन्ताय चात्मनः ॥८०॥

इस प्रकार जन्म के समय और उसके अनन्तर बाल्यावस्था में जीव आधिभौतिक आदि अनेकों प्रकार के कष्टों को भोगता है। यह प्रौगण्डावस्था के अनेकानेक प्रकार के यातनाओं का उपभोग कर पुनः यौवनारूढ़ होता है, उस समय सर्वविमोहिनी माया से मोहित देहधारी जीव गर्भावस्था में भुक्त दुःसह नारकीय कठोर यातनाओं को पुनः विस्मृत कर जाता है। इस प्रकार

बाल्यावस्था के अनन्तर पुरुष बाल्यावस्था के अनर्थों का त्यागकर भोग भोगने के उत्साह से अथवा आने वाले कामरूप पिशाच से दूषितचित्त होकर नरकपात के लिए ही यौवनारूढ़ होता है तथा युवावस्था के आगमन से कामदेव के ज्वर से विह्वल हो, अकस्मात् ही कभी कुछ गाता है और कभी अपना पराक्रम कहने लगता है। देह के साथ ही साथ अभिमान और क्रोध बढ़ जाने के कारण वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करने के लिए दूसरे कामी पुरुषों के साथ वैर ठान लेता है ॥७६–८०॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥८१॥

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥८२॥

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥८३॥

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥८४॥

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥८५॥

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ॥
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥८६॥

खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पंचभूतरचित इस देह में मिथ्या अभिनिवेश के कारण निरन्तर मैं—मेरेपन का अभिमान करने लगता है। जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकार का कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्म के सूत्र से बँधा रहने के कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसी के लिए यह तरह-तरह के कर्म करता रहता है, जिसमें बँध जाने के कारण इसे बार-बार संसार-चक्र में पड़ना होता है। सन्मार्ग में चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के भोगों में लगे हुए विषयी पुरुषों से समागम हो जाता है और यह उनमें आस्था करके उन्हीं का अनुगमन करने लगता है तो पहले के समान ही पुनः नारकीय योनियों में पड़ता है। जिनके संग से इसके सत्य, शौच, (बाह्याभ्यन्तर पवित्रता),

दया, वाणी का संयम, बुद्धि, श्री—धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम एवं ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, उन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियों के क्रीडामृग (खिलौने), अशान्त मूढ़ और देहात्मदर्शी असत् पुरुषों का संग कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस जीव को किसी और का संग करने से ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा कि स्त्री और स्त्रियों के सङ्गियों यानी कामियों का सङ्ग करने से होता है ॥८१—८६॥

अज्ञानतमसाच्छन्नो मूढान्तःकरणो नरः ।
न जानाति कुतः कोऽहं क्वाहं गन्ता किमात्मकः ॥८७॥

केन बन्धेन बद्धोऽहं कारणं किमकारणम् ।
किं कार्यं किमकार्यं वा किं वाच्यं किं च नोच्यते ॥८८॥

को धर्मः कश्च वाधर्मः कस्मिन्वर्तेऽथ वा कथम् ।
किं कर्तव्यमकर्तव्यं किं वा किं गुणदोषवत् ॥८९॥

एवं पशुसमैर्मूढैरज्ञानप्रभवं महत् ।
अवाप्यते नरैर्दुःखं शिश्नोदरपरायणैः ॥९०॥

अज्ञान रूप अन्धकार से आवृत हो कर मूढ़हृदय पुरुष यह नहीं जानता कि 'मैं कहाँ से आया हूँ? कौन हूँ? कहाँ जाऊँगा? तथा मेरा स्वरूप क्या है? मैं किस बन्धन से बँधा हुआ हूँ? इस बन्धन का क्या कारण है? अथवा यह अकारण ही प्राप्त हुआ है? मुझे क्या करना चाहिए? और क्या न करना चाहिए? तथा क्या कहना चाहिए? और क्या न कहना चाहिए? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? किस अवस्था में मुझे किस प्रकार रहना चाहिए? क्या कर्तव्य है? और क्या अकर्तव्य है? अथवा क्या गुणमय है? और क्या दोषमय है? इस प्रकार पशु के समान विवेकशून्य शिश्नोदर-परायण पुरुष अज्ञानजनित महान् दुःख भोगते हैं ॥८७—९०॥

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ॥
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥९१॥

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना ।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥९२॥

आहारमैथुनार्त्तश्च नानामोहादिवेष्टितः ।
पुत्रं कलत्रमतुगं यत्नेन परिपालयेत् ॥९३॥

एवं यावत्समर्थश्च तावदेव हि पूजितः।
असमर्थं च मन्यन्ते बान्धवा गोजरं यथा ॥६४॥

यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के मनोरथ करता हुआ अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता है। इनके पालन-पोषण की चिन्ता से इसके सम्पूर्ण अङ्ग जलते रहते हैं तथापि दुर्वासनाओं से दूषित हृदय होने के कारण यह मूढ़ निरन्तर इन्हीं के लिए तरह-तरह के पाप करता रहता है। आहार और मैथुन की चिन्ता से पीड़ित तथा नाना प्रकार के मोह आदि से वेष्टित होकर वह पुत्र पत्नी तथा अनुचरों का यत्नपूर्वक पालन करता है। इस प्रकार जब तक वह उनके पालन में समर्थ होता है तभी तक घर में उसकी पूजा होती है—आदर-सत्कार होता है। असमर्थ हो जाने पर तो भाई-बन्धु उसे बूढ़े बैल की भाँति व्यर्थ का भार समझने लगते हैं ॥६१—६४॥

तत्राऽनन्तविलासस्य लोलस्य स्वस्थ्यचेतसः।
वृत्तीरनुभवन् याति दुखाद् दुःखान्तरं जडः ॥९५॥

स्वचित्तविलसंस्थेन नानासंभ्रमकारिणा।
वलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥९६॥

महानरकबीजेन सन्ततभ्रमदायिना।
यौवनेन न ये नष्टा नष्टा नाऽन्येन त जनाः ॥९७॥

नानारसमयीचित्रवृत्तान्तनिचयोम्भिता।
भीमा यौवनभूर्येन तीर्णा धीरः स उच्यते। ९८।

ये केचन समारम्भास्ते सर्वे सर्वदुःखदाः।
तारुण्ये सन्निधिं यान्ति महोत्पाता इव क्षये ॥९९॥

सुविस्मृत शुभाचारं बुद्धिवैधुर्यदायिनम्।
ददात्यतितरामेष भ्रमं यौवनसम्भ्रमः ॥१००॥

मूर्ख पुरुष यौवनावस्था में अनन्त चेष्टावाले अतएव चंचल अपने चित्त की राग-द्वेष आदि वृत्तियों का अनुभव करता हुआ, एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् दुःख परम्परा का भोग करता है। अपने चित्तरूपी बिल में स्थित नाना प्रकार की भ्रान्ति पैदा करनेवाला काम रूपी

पिशाच विवश पुरुष के विवेक का तिरस्कार कर उसे अपने वश में कर लेता है। जो महा नरक का बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करने वाला है, उस यौवन के द्वारा जिसका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसी से नष्ट नहीं हो सकते। शृङ्गार आदि नाना प्रकार के रसों से पूर्ण और अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक वृत्तान्तों से परिपूर्ण भीषण यौवन-भूमि को जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है। जैसे प्रलयकाल में सबको दुःख देने वाले बड़े-बड़े उत्पात चारों ओर से उमड़ पड़ते हैं, वैसे ही युवावस्था में सबको कष्ट प्रदान करने वाले जो कोई भी आयोजन हैं, वे सब निकट आ जाते हैं अर्थात् युवावस्था में पर दुःखदायी अनेक दुष्कर्म होते हैं। यह यौवन कालीन मोह शुभ आचरण को भुलाने वाली एवं बुद्धि को कुण्ठित करने वाली (बुद्धिनाश करने वाली) भ्रान्ति की प्रचुरमात्रा में सृष्टि करता है ॥६५—१००॥

कान्तावियोगजातेन हृदिदुःस्पर्शवह्निना।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥१०१॥

सुनिर्मलाऽपि विस्तीर्णा पावन्यपि यौवने।
मति कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥१०२॥

शक्यते घनकल्लोला भीमालङ्घयितुं नदी।
न तु तारुण्यतरला तृष्णा तरलितान्तरा ॥१०३॥

सा कान्ता तौ स्तनौ पीनौ ते विलासास्तदाननम्।
तारुण्य इति चिन्ताभिर्याति जर्जरतां जनः ॥१०४॥

जैसे दावाग्नि से वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्था में प्रियतमा के वियोगजनित दुस्सह शोकाग्नि में मन ही मन जलाया जाता है। जैसे अत्यन्त निर्मल विस्तृत एवं पवित्र नदी भी वर्षा ऋतु में मलिन हो जाती है, उसी प्रकार निर्मल, उदार एवं पवित्र बुद्धि भी युवावस्था में मलिन हो जाती है। बहुत-सी उत्ताल तरङ्गों से युक्त भीषण नदी लाँघी जा सकती है, परन्तु भोग तृष्णा की चंचलता से युक्त युवावस्था नहीं लाँघी जा सकती। 'वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोहर विलास और सुन्दर मुख. कितना मनोरम है!' युवावस्था में इसी तरह की चिन्ताओं से मनुष्य जर्जर हो जाता है ॥१०१–१०४॥

अस्थिमांसशिरालाया वामायामन्मथालये ।
उत्तानभूतमण्डूक पाटितोदरसन्निभे ।
आसक्त स्मरबाणार्तं आत्मनादह्यते भृशम् ॥१०५॥

अस्थिमांसशिरात्वग्भ्यः किमन्यद्वर्तते वपुः ।
वामानां मायया मूढो न किंचिद्वीक्षते जगत् ॥१०६॥

निर्गते प्राणपवने देहो हंत मृगीदृशः ।
वृथा हि जायते नैव वीक्ष्यते पञ्चशेर्दिनैः ॥१०७॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥१०८॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥१०९॥

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥११०॥

अस्थि, मांस और नाड़ी—इसके सिवा स्त्री के मन्मथ स्थान में और क्या है? जिसमें कि मेढक के फाड़े हुए पेट के समान दुर्गन्ध आती है; परन्तु तब भी उसमें आसक्त हुआ पुरुष कामबाण से पीड़ित हो, अपने आत्मा को अत्यन्त जलाता है। अस्थि, मांस, शिरा और त्वचा—इसके सिवा स्त्री-शरीर में और क्या है? जो यह पुरुष स्त्रियों में आसक्त होकर माया से मूढ़ होने के कारण जगत् में कुछ भी नहीं देखता। एक समय प्राणपवन निर्गत हो जाने से ही मृग के-से नेत्र वाली का यह देह किस अवस्था को प्राप्त होता है, काम से मूढ़ हुए पुरुष इसको नहीं देखते। जैसे पतिंगा रूप पर मोहित होकर आग में कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला पुरुष जब स्त्री को देखता है तो उसके हाव-भाव पर लट्टू हो जाता है और घोर नरक में गिर कर अपना सत्यानाश कर लेता है। सचमुच, स्त्री देवताओं की वह माया है जिससे जीव भगवान् या मोक्ष की प्राप्ति से वञ्चित हो जाता है। जो मूढ़ कामिनी-काञ्चन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थों में फँसा हुआ है और उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उसके उपयोग के लिए ही लालायित रहती है, वह

अपनी विवेक बुद्धि खोकर पतिंगे के समान नष्ट हो जाता है। भगवान् की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदि के मिस से पास आती है, उसे तिनकों से ढके हुए कुएँ के समान अपनी मृत्यु ही समझे ॥ ॥१०५—११०॥

नरं तरलतृष्णार्त्तं युवानमिह साधवः।
पूजयन्ति न तु च्छिन्नं जरत्तृणलवं यथा ॥१११॥

उद्बोधयति दोषालिं निकृन्तति गुणावलिम्।
नराणां यौवनोल्लासो विलासो दुष्कृत श्रियाम् ॥१२१॥

शरीरपङ्कजरजश्चञ्चलां मतिषट्पदीम्।
निबध्नन् मोहयन्त्येष नवयौवनचन्द्रमाः ॥११३॥

शरीरमरुतापोत्थां युवतामृगतृष्णिकाम्।
मनोमृगाः प्रधावन्तः पतन्ति विषयावटे ॥११४॥

दिनानि कतिचिद्येयं फलिता देहजङ्गले।
युवता शरदस्यां हि न समाश्वासमर्हथ ॥११५॥

इस संसार में सज्जन लोग चंचल भोग-तृष्णा से प्रपीड़ित युवा पुरुष का आदर-सत्कार नहीं करते, केवल यही बात नहीं है किन्तु वे कटे हुए और सूखे तिनके के समान उसका तिरस्कार करते हैं। मनुष्यों का यौवनोल्लास (यौवन की अभिवृद्धि) दोषों को जगाता है, उत्पन्न करता है और गुणों का मूलोच्छेद करता है। अतएव वह पापों की वृद्धि करने के कारण पापों का विलास है। मनुष्यों का नवयौवन चन्द्रमा के सदृश है। जैसे चन्द्रमा कमल के पराग में सस्पृह भँवरी को कमल में बाँधकर मोहित कर देता है, वैसे ही नवयौवन शरीर में ही चञ्चल बुद्धि को अभिमानरूप कोश में बाँधकर विमूढ़ कर देता है। शरीररूपी मरुभूमि में कामरूपी घाम के ताप से प्रकट हो भ्रान्तिरूप में प्रतीत होने वाली यौवन रूपी मृगतृष्णिका के प्रति दौड़ रहे मन रूपी मृग विषय रूपी गड्ढे में गिर पड़ते हैं। जो यह युवावस्था है. यह देह रूपी जंगल में कुछ दिनों के लिये फली-फूली शरद ऋतु है। वह शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जायगी। अतएव इस पर आप लोगों को विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१११—११५॥

झटित्येव प्रयात्येव शरीराद् युवता खगः।
क्षणेनैवाऽल्पभाग्यस्य हस्ताच्चिन्तामणिर्यथा ॥११६॥

यदा यदा परांकोटिमध्यारोहति यौवनम् ।
वलगन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम् ।।११७।।

तावदेव विवलगन्ति रागद्वेषपिशाचकाः ।
नाऽस्तमेति समस्तैषा यावद् यौवनयामिनी ।।११८।।

हर्षमायाति यो मोहात् पुरुषः क्षणभङ्गिना ।
यौवनेन महामुग्धः स वै नर मृगः स्मृतः ।।११९।।

जैसे अभागे पुरुष के हाथ से चिन्तामणि तत्काल चला जाता है, वैसे ही शरीर से युवावस्था रूपी पक्षी जल्द भाग खड़ा होता है। जब यौवन अपनी चरम सीमा में आरूढ़ हो जाता है तब केवल नाश के लिए ही संताप-युक्त कामनाएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। तभी तक राग-द्वेष रूपी पिशाच विशेषरूप से घूमते-फिरते हैं जब तक यह यौवन रूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती यानी राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों की जननी युवावस्था ही है। जो महामुग्ध पुरुष क्षणभर में विनष्ट होने वाले यौवन से मूढ़ता वश हर्ष को प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है।
।।११६—११९।।

मानमोहान्मदोन्मत्तो यौवनं योऽभिलष्यति ।
अचिरेण स दुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते ।।१२०।।

ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसङ्कटात् ।।१२१।।

सुखेन तीर्यतेऽम्भोधिरुत्कृष्टमकराकरः ।
न कल्लोलवलोल्लासि सदोषं हतयौवनम् ।।१२२।।

विनयविभूषितमार्यजनास्पदं
करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः ।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं
जगतिकाननमम्बरगं यथा ।।१२३।।

जो मनुष्य अभिमानयुक्त अज्ञान के कारण मदोन्मत्त युवावस्था की अभिलाषा करता है उस दुर्बुद्धि को शीघ्र पश्चात्ताप का भागी होना पड़ता है। इस भूतल पर वे ही लोग पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे ही पुरुष हैं जो यौवन रूपी संकट से सुखपूर्वक पार हो गये हैं। बड़े-बड़े मगरों से

पूर्ण महासागर को सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु राग-द्वेष आदि रूप महातरङ्गों के कारण उमड़ा हुआ और अनेक दोषों से युक्त निन्दनीय यौवन के पार जाना बहुत ही कठिन है। विनय से अलङ्कृत श्रेष्ठ पुरुषों को आश्रय देनेवाला, करुणा से परिपूर्ण और शम, दम आदि विविध गुणों से युक्त सुयौवन इस संसार में इस मनुष्य जन्म में भी वैसा ही दुर्लभ है जैसे आकाश में वन। अर्थात् जैसे आकाश में वन की स्थिति अति दुर्लभ है, वैसे ही इस संसार में विनययुक्त पूज्य मुनिजनों में रहने वाला, दया से परिपूर्ण और शम, दम आदि गुणों से परिवृत सुयौवन मनुष्य जन्म में भी अति दुर्लभ है फिर अन्य योनियों में तो कहना ही क्या ?

॥१२०—१२३

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात् पिबति यौवनम्।
यौवनं च जरा पश्चात् पश्य कर्कशतां मिथः ॥१२४॥

हिमाशनिरिवाऽम्भोजं वात्येव शरदम्बुकम्।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥१२५॥

महापरिभवस्थानं जरां प्राप्यातिदुःखितः।
श्लेष्मणा पिहितोरस्को जग्धमन्नं न जीर्यते ॥१२६॥

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥१२७॥

तत्राप्यजात निर्वेदो म्रियमाणः स्वयम्भृतैः।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥१२८॥

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयान्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥१२९॥

खेल-कूद, कौतूहल आदि की अभिलाषा के पूर्ण न होने पर ही यवावस्था आकर बलात् बाल्यावस्था को निगल जाती है। तदुपरान्त स्त्री-संभोग आदि की पूर्ति न होने पर ही वृद्धावस्था आकर युवावस्था का स्वाहा कर देती है। अतः उन दोनों की (युवावस्था और वृद्धावस्था की) परस्पर कठोरता को देखिए। अर्थात् उसी शरीर में होने वाली बाल्यावस्था को यौवन निगल गया, अतएव यौवन कठोरतर हुआ। उक्त कठोरतर यौवन को निगलने वाली वृद्धावस्था कठोरतम न होगी तो क्या होगी ? जैसे हिम रूपी

वज्र कमल को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जैसे आँधी शरद् ऋतु की ओस को (पत्तों के सिरे पर लटक रहे जल कण को) नष्ट कर देती है और जैसे नदी तट के वृक्ष को उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर डालती है। मनुष्य सर्वत्र महानिरादर के स्थानभूत जरावस्था को प्राप्तकर महा दुःखी होता है। इस अवस्था में उसका हृदय कफ से व्याप्त हो जाता है तथा समय पर खाया हुआ अन्न भी जीर्ण नहीं होता। इस प्रकार वृद्धावस्था में इसे अपने पालन-पोषण में असमर्थ देखकर, वे स्त्री-पुत्र आदि इसका पहले के समान आदर-सत्कार नहीं करते। जैसे कृपण किसान बूढ़ेबैल की उपेक्षा कर देते हैं, वैसे ही यह भी उपेक्षित रहता है, फिर भी इसे वैराग्य नहीं होता। जिन्हें उसने स्वयं पाला था, वे ही अब उसका पालन करते हैं। वृद्धावस्था के कारण इसका रूप विगड़ जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं। वह मरणोन्मुख होकर घर में पड़ा रहता है और कुत्ते की भाँति स्त्री-पुत्रादि के अपमानपूर्वक दिए हुए टुकड़े खा कर जीवन निर्वाह करता है ॥१२४-१२६॥

जराजर्जरदेहश्च शिथिलावयवः पुमान्।
विगलच्छीर्णदशनो बलिस्नायुशिरावृतः ॥१३०॥

दूरप्रणष्टनयनो व्योमान्तर्गत तारकः।
नासाविवरनिर्यात लोमपुञ्जश्चलद्वपुः ॥१३१॥

प्रकटीभूत सर्वास्थिनतपृष्ठस्थि संहतिः।
उत्सन्नजठराग्नित्वादल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥१३२॥

कृच्छ्राच्चङ्क्रमणोत्थानशयनासनचेष्टितः।
मन्दीभवच्छ्रोत्रनेत्रस्स्रवल्लालाविलासनः ॥१३३॥

अनायत्तैस्समस्तैश्च करणैर्मरणोन्मुखः।
तत्क्षणेऽप्यनुभूतानामस्मर्ताखिलवस्तुनाम् ॥१३४॥

शरीर के जराजर्जरित हो जाने पर पुरुष के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो जाते हैं, उसके दाँत पुराने होकर उखड़ जाते हैं और शरीर झुर्रियों तथा नस-नाड़ियों से आवृत हो जाता है। उसकी दृष्टि दूरस्थ विषय के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है, नेत्रों के तारे गोलकों में घुस जाते हैं, नासिका के रन्ध्रों में से बहुत-से रोम बाहर निकल आते हैं और शरीर काँपने लगता है। उसकी समस्त हड्डियाँ दिखाई देने लगती हैं, मेरुदण्ड झुक जाता है

तथा जठराग्नि के मन्द पड़ जाने से उसके आहार और पुरुषार्थ कम हो जाते हैं। उस समय उसकी चलना-फिरना, उठना-बैठना और सोना आदि सभी चेष्टाएँ बड़ी कठिनता से होती हैं। उसके श्रोत्र और नेत्रों की शक्ति मन्द पड़ जाती है तथा लार बहते रहने से उसका मुख मलिन हो जाता है। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वाधीन न रहने के कारण वह सब प्रकार मरणासन्न हो जाता है तथा स्मरशक्ति के क्षीण हो जाने से वह उसी समय अनुभव किए हुए समस्त पदार्थों को भी भूल जाता है ॥१३०—१३४॥

सकृदुच्चारिते वाक्ये समुद्भूतमहाश्रमः।
श्वासकाश समुद्भूत महायास प्रजागरः ॥१३५॥

अन्येनोत्थाप्यतेऽन्येन तथा संवेश्यते जरी।
भृत्यात्मपुत्रदाराणामवमानास्पदीकृतः ॥१३६॥

प्रक्षीणाखिलशौचश्च विहाराहार सस्पृहः।
हास्यः परिजनस्यापि निर्विण्णाशेषबान्धवः ॥१३७॥

अनुभूतमिवान्यस्मिञ्जन्मन्यात्मविचेष्टितम्।
संस्मरन्यौवने दीर्घं निःश्वसत्यभितापितः ॥१३८॥

उसे एक वाक्य उच्चारण करने में भी महान् परिश्रम होता है तथा श्वास और खाँशी आदि के महान् कष्ट के कारण वह दिन-रात जागता रहता है। वृद्ध पुरुष औरों की सहायता से ही उठता तथा औरों के बिठाने से ही बैठ सकता है। अतः वह अपने सेवक और स्त्री-पुत्रादि के लिए सदा अनादर का पात्र बना रहता है। उसका समस्त शौचाचार नष्ट हो जाता है तथा भोग एवं भोजन की लालसा बढ़ जाती है। उसके परिजन भी उसकी हँसी उड़ाते हैं और समस्त बन्धुजन उससे उदासीन हो जाते हैं। अपनी युवावस्था की चेष्टाओं को अन्य जन्म में अनुभव की हुई-सी स्मरण करके वह अत्यन्त सन्तापवश दीर्घ निःश्वास छोड़ता रहता है १३५—१३८॥

शिथिलादीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम्।
समं पश्यन्ति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा ॥१३९॥

वर्णं सितं शिरसि वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तदा पुमांसम्।
आरोपितास्थिशतकं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥१४०॥

जिसके सारे अंग शिथिल होकर झुर्रियों से भर गए हैं और वृद्धावस्था ने जिनके सारे शरीर को जर्जरित बना दिया है, ऐसे सभी पुरुषों को कामिनियाँ ऊँट के समान समझती हैं। तरुण स्त्रियाँ जब पुरुष के मस्तक पर केशों का सफेद रंग (श्वेतवर्ण) देखती हैं तब जरा से अपमान के स्थानरूप बाहर से दिखाई पड़ने से मालूम पड़ता है कि मानों सैकड़ों हड्डियाँ इस पर चढ़ाई गई हैं—ऐसे पुरुष को फेंकी गई हड्डियों के टुकड़ों से भरे चाण्डाल जाति के कूप के समान दूर से त्याग कर चली जाती हैं अर्थात् तरुणियाँ बूढ़ों को दूर से ही छोड़ देती हैं ॥१३९-१४०॥

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम् ॥१४१॥

दैन्य दोषमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥१४२॥

बलिभिर्मुखमाक्रान्त पलिते नाङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४३॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशाः दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ॥१४४॥

वृद्धावस्था के कारण जिसके अंग काँपते रहते हैं, ऐसे मनुष्य को नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु-बान्धव तथा सुहृदगण भी उन्मत्त के समान समझ कर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दीनता रूप दोष से परिपूर्ण, हृदय में सन्ताप पहुँचाने वाली और सम्पूर्ण आपत्तियों की एकमात्र सहचरी है वह विशाल तृष्णा वृद्धावस्था में बढ़ती ही जाती है। वार्धक्य के कारण मुँह के चमड़े सिकुड़ जाते, सिर के बाल धवल हो जाते तथा हाथ-पैर आदि देह के अवयव शिथिल हो जाते हैं; परन्तु एक मात्र तृष्णा ही तरुणी के समान बलिष्ट होती जाती है। अवस्था के जीर्ण होने पर केश और दाँत तो जीर्ण हो जाते हैं किन्तु जीवन और धन की आशाएँ उसके जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होतीं ॥१४१-१४४॥

कर्तव्य किं मया कष्टं परत्रेत्यतिदारुणम्।
अप्रतीकारयोग्यं हि वर्द्धते वार्द्धके भयम् ॥१४५॥

कथं कदा मे किमिव स्वादु स्याद्भोजनं जनात्।
इत्यजस्रं जरा चेषा चेतो दहति वार्द्धके ॥१४६॥

गर्द्धोऽभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते ।
हृदयं दह्यते नूनं शक्तिदौःस्थ्येन वार्द्धके ॥१४७॥

जरसा वक्रतामेति शुक्लावयवपल्लवा ।
तात तन्वी तनुर्नृणां लता पुष्पानता यथा ॥१४८॥

हाय ! बड़े खेद की बात है, मैं परलोक में क्या करूँगा ? इस प्रकार का अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतीकार के योग्य नहीं है, वृद्धावस्था में बढ़ता जाता है। वृद्धावस्था में अपने आत्मीय जनों से मुझे किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा ? ऐसी चिन्तारूपिणी दूसरी जरावस्था बुढ़ापे में निरन्तर चित्त को जलाती रहती है। वृद्धावस्था में मनुष्य अपनी शक्ति का संतुलन खो बैठता है यानी कभी खाने की शक्ति होने पर पचाने की शक्ति नहीं रहती और कभी पचाने की शक्ति होने पर खाने की ही शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्तिह्रास के कारण भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परन्तु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशा में निश्चय ही हृदय जलता रहता है। जैसे श्वेत पल्लव वाली फूलों से लदी हुई पतली लता फूलों के बोझ को न सह सकने के कारण टेढ़ी हो जाती है वैसे ही जिसके सारे अवयव सफेद हो गए हैं, मनुष्यों का वह दुबला-पतला शरीर वृद्धावस्था से टेढ़ा हो जाता है यानी कमान की तरह झुक जाता है।

जराकर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम् ।
मुने मरणमातङ्गो नूनमुद्धरतिक्षणात् ॥१४९॥

न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे ।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याऽऽशुविजिता मुने ॥१५०॥

किं तेन दुर्जीवित दुर्ग्रहेण
जरागतेनाऽपि हि जीव्यते यत् ।
जरा जगत्यामजिता जनानां
सर्वैषणास्तात तिरस्करोति ॥१५१॥

जैसे कपूर से सफेद हुए केले के पेड़ को हाथी क्षण भर में उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज वृद्धावस्था से कपूर की भाँति सफेद हुई देह को निश्चय ही क्षणभर में उखाड़ फेंकता है। बड़े धैर्य से दुर्गम पहाड़ों की खोह में बैठे हुए जिन लोगों को रण में शत्रु नहीं हरा सके, उन्हें भी वृद्धावस्था रूपी वृद्ध राक्षसी ने शीघ्र हरा दिया, यह आश्चर्य देखिए।

जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवन के लिए दुराग्रह से—दुरभिलाषा से क्या प्रयोजन ? भूतल पर किसी से पराजित न होने वाली यह वृद्धावस्था मनुष्यों की सम्पूर्ण एषणाओं का तिरस्कार कर देती है—उनकी किसी भी इच्छा को सफल नहीं होने देती ॥१४६–१५१॥

एवमादीनि दुःखानि जरायामनुभूयते ।
मरणे यानि दुःखानि प्राप्नोति शृणुतान्यपि ॥१५२॥

ततो मृतिज दुःखस्य दृष्टान्तो नोपलभ्यते ।
यस्माद्बिभ्यति भूतानि प्राप्तान्यपि परां रुजम् ॥१५३॥

त्रिविधा पुरुषाः सन्ति देहस्याऽन्तेमुमूर्षवः ।
मूर्खोऽथधारणाभ्यासी युक्तिमान् पुरुषस्तथा ॥१५४॥

अभ्यस्यधारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम् ।
प्रयातिधारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥१५५॥

धारणा यस्य नाऽभ्यासं प्राप्ता नैव च युक्तिमान् ।
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः ॥१५६॥

इसी प्रकार वृद्धावस्था में ऐसे ही अनेकों दुःख अनुभव कर, उसे मरण-काल में जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे भी सुनो ।

वृद्धावस्था के अनन्तर मरणकाल के दुःख का कोई दृष्टान्त ही नहीं है । दारिद्रादिपीड़ा, रोगादि पीड़ा कितनी ही प्राप्त हो, उसको कुछ न गिन कर एक मरण के भय से सब ही भयभीय रहते हैं ।

मुमूर्षु पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—मूर्ख, धारणा का अभ्यास करने वाला तथा युक्तिमान् यानी जिसे अपनी इच्छा के अनुसार उत्क्रमण में (निर्गमन में) परकाय प्रवेश में, अपने अभीष्ट लोक की प्राप्ति के मार्ग-भूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकार से निकलने और प्रवेश करने में निपुणता का अभ्यास हो गया हो । उनमें विचला धारणानिष्ठ पुरुष क्रम से युक्ति का अभ्यास कर देह का त्याग कर देह के अंत में सुखपूर्वक जाता है । युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रह कर सुख को प्राप्त होता है और जिस पुरुष को न तो धारणा का अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है—ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःख को ही प्राप्त होता है ॥१५२-१५६॥

वासनावेशवैवश्यं भावयन्विषयाशयः ।
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाऽम्बुजम् ॥१५७॥

अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः ।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः ॥१५८॥
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्णजम् ।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥१५९॥
परमान्ध्यमनालोको दिवाप्युदित तारकः ।
साभ्रदिङ्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥१६०॥
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमदृष्टिमण्डलः ।
आकाशीभूत वसुधो वसुधाभूतरवान्तरः ॥१६१॥

वासना के आवेशवश पराधीनचित्त हुआ अतएव विषयों का ही चिंतन करने वाला पुरुष कटे हुए कमल की नाईं अत्यन्त दीनता को प्राप्त होता है। जिसकी बुद्धि शास्त्रों से संस्कृत नहीं है और जो असज्जनों की संगति करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए पुरुष की नाईं अन्तर्दाह का अनुभव करता है। उस अविवेकी का कण्ठ जब कफ से 'घर' 'घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय होता है। वह परम अन्धकार को प्राप्त होकर प्रकाश से वञ्चित रहता है; क्योंकि दिन में उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न रहता है, उसके चारों ओर दसों दिशाओं में मेघ व्याप्त रहते हैं, मर्मपीड़ा से वह व्याप्त रहता है, उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथ्वी उसके लिए आकाश बन जाती है और आकाश पृथ्वी बन जाता है ॥१५७-१६७॥

परिवृत्तककुपचक्र उह्यमान इवाऽर्णवे ।
नीयमान इवाऽऽकाशे घननिद्रोमुन्खाशयः ॥१६२॥
अन्धकूप इवाऽऽपन्नः शिलान्तरिव योजितः ।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाऽऽशये ॥१६३॥
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवार्पितः ।
रथे द्रुत इवाऽऽरूढो हिमवद्गलनोन्मुखः ॥१६३॥
व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवान् स्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवाऽऽस्थितः ॥१६५॥
भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवार्पितः ॥१६६॥

दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्र में बहाया जाता हुआ-सा, अन्धेकुएँ में गिरा हुआ-सा, शिला के अन्दर घुसाया हुआ-सा, प्रबल निद्रा को प्राप्त होता हुआ-सा पराधीन रहता है। अपने दुःखों को कहने की इच्छा होने पर भी वाणी का स्तम्भ हो जाने से उसके मुँह से अक्षर नहीं निकलते। वह हृदय में काटा हुआ-सा, आकाश मार्ग से गिरता हुआ-सा, प्रबल आँधी में डाला हुआ-सा, तेज दौड़ने वाले रथ में बैठा हुआ-सा, हिमशिला की नाईं गलता हुआ-सा, अपने को उदाहरण बना कर लोगों में संसार-दुःख का व्याख्यान करता हुआ-सा, पत्थर को फेंकने के यन्त्र से घुमाया हुआ-सा, वायु यन्त्र में रक्खा हुआ-सा, भ्रमियन्त्र यानी चर्खी आदि में घुमाया हुआ-सा, रस्सी से खींचा हुआ-सा, जल की भौंरी में घूमता हुआ-सा, शस्त्रयंत्र यानी आरे आदि में या अन्य प्रकार की काटने की मशीन में रक्खा हुआ-सा ॥ १६२-१६६ ॥

प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चाऽर्णवे ॥१६७॥

अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वीविपर्यासदशामनुभवन् स्थितः ॥१६८॥

पतन्निवाऽनवरतं प्रोत्पतन्निव चाऽभितः ।
सूत्काराकर्णनोद्भ्रान्तपूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥१६९॥

क्रमात् श्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः ।
यथाऽस्तं गच्छति रवौ मन्दालोकतया दिशः ॥१७०॥

तृण की नाईं बहाया जाता हुआ-सा, बह रहे पर्जन्यवायु में बैठकर जल-प्रवाह के साथ समुद्र में गिरता हुआ-सा, चर्कावर्तरूप असीम आकाश रूप छिद्र में गिरता हुआ-सा, पृथ्वी की विपर्यास दशा का अनुभव करता हुआ-सा स्थित होता है। निरन्तर चारों ओर से नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्र की नाईं अस्थिर रहता है। निःश्वास के शब्द के श्रवण से उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं। जैसे सूर्य के अस्त होने पर मन्द-मन्द प्रकाश वाली दिशाएँ काली हो जाती हैं, वैसे ही उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियाँ धुँधली पड़ जाती हैं यानी उनकी तत्-तत् विषयों को ग्रहण करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है ॥१६७-१७०॥

पूर्वापर न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ।
यथा पाश्चात्यसन्ध्यान्ते नष्टा दृष्टिर्दिगष्टके ॥१७१॥

मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनाऽसौ महामोहे निमज्जति ॥१७२॥

श्लथद्ग्रीवाङ्घ्रिहस्तोऽथव्याप्तो वेपथुनाभृशम् ।
मुहुर्ग्लानिपरवशो मुहुर्ज्ञानलवान्वितः ॥१७३॥

हिरण्यधान्यतनयभार्याभृत्यगृहादिषु ।
एते कथं भविष्यन्तीत्यतीव ममताकुलः ॥१७४॥

जैसे पच्छिम सन्ध्या के यानी सायंकाल की संध्या के बाद नष्ट हुई नेत्र शक्ति आठों दिशाओं में पूर्वापर को नहीं जानती, वैसे ही क्षीणता को प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापर को नहीं जानती। उसका मन मोह होने के कारण कल्पना शक्ति का त्याग करता है, इसलिए अविवेकवश महामोह में गिरता है। इस अवस्था में कण्ठ और हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते हैं, शरीर में अत्यन्त कम्प छा जाता है, उसे बार-बार ग्लानि होती और कभी चेतना भी कुछ-कुछ आ जाती है। उस समय वह अपने हिरण्य—सोना, धान्य, पुत्र, पुत्री, भृत्य और गृह आदि के प्रति "इन सबका क्या होगा?" इस प्रकार अत्यन्त ममता से व्याकुल हो जाता है॥ १७१–१७४॥

मर्मभिद्भिर्महारोगैः क्रकचैरिव दारुणैः ।
शरैरिवान्तकस्योग्रैश्छिद्यमाना सुबन्धनः ॥१७५॥

परिवर्तित ताराक्षो हस्तपादं मुहुः क्षिपन् ।
संशुष्यमाणताल्वोष्टपुटो घुरघुरायते ॥१७६॥

निरुद्धकण्ठो दोषौघैरुदानश्वासपीडितः ।
तापेन महता व्याप्तस्तृषा चार्तस्तथा क्षुधा ॥१७७॥

क्लेशादुत्क्रान्तिमाप्नोति यमकिङ्करपीडितः ।
ततश्च यातनादेहं क्लेशेन प्रतिपद्यते ॥१७८॥

उस समय मर्मभेदी क्रकच (आरे) तथा यमराज के विकराल बाण के समान महाभयंकर रोगों से उसके प्राण-बंधन कटने लगते हैं। उसकी आँखों के तारे चढ़ जाते हैं। वह अत्यन्त पीड़ा से बारम्बार हाथ-पैर पटकता है तथा उसके तालु और ओठ सूखने लगते हैं। फिर क्रमशः दोषसमूह से

उसका कण्ठ रुक जाता है। अतः वह घर-घर शब्द करने लगता है। तथा ऊर्ध्वश्वांस से पीड़ित और महान् ताप से व्याप्त होकर क्षुधा-तृष्णा से व्याकुल हो उठता है। ऐसी अवस्था में भी यमदूतों से पीड़ित होता हुआ वह बड़े क्लेश से शरीर छोड़ता है और अत्यन्त कष्ट से कर्मफल भोगने के लिए यातना देह प्राप्त करता है ॥ १७५-१७८ ॥

नीयते मृत्युना जन्तुः परिष्वक्तोऽपि बन्धुभिः।
सागरान्तर्जलगतो गरुडेनेव पन्नगः ॥१७९।

हा कान्ते हा धनं पुत्राः क्रन्दमानः सुदारुणम्।
मण्डूक इव सर्पेण मृत्युना नीयते नरः ॥१८०॥

मर्मसूत्कृष्यमाणेषु मुच्यमानेषु संधिषु।
यद्दुःखं म्रियमाणस्य स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः ॥१८१॥

दृष्टावाक्षिप्यमाणायां संज्ञया ह्रियमाणया।
मृत्युपाशेन बद्धस्य त्राता नैवोपलभ्यते ॥१८२॥

सरुध्यमानस्तमसा महच्चित्तमिवाविशन्।
उपाहूतस्तदा ज्ञातीनीक्षते दीनचक्षुषा ॥१८३॥

बन्धुओं से घिरे हुए प्राणी को उसी प्रकार मृत्यु ले जाती है जिस प्रकार समुद्र के भीतर जल में से सर्प को गरुड़ ले जाता है। हा प्रिये! हा धन! हा पुत्रो! इस प्रकार दारुण विलाप करते हुए इस पुरुष को मृत्यु वैसे ही ले जाती है, जैसे सर्प मेढक को ले जाता है। सम्पूर्ण मर्मस्थानों के टूटने और शरीर के अवयवों की संधियों के भग्न होने से जो दुःख मरने वाले को होता है, वह मुमुक्षुओं को स्मरण करना चाहिए; क्योंकि वह वैराग्योत्पत्ति का कारण है। यमदूतों के दृष्टि आकर्षण करने और चेतना लुप्त हो जाने से कालपाश में बँधे का कोई रक्षक नहीं होता। तब यह अज्ञान से युक्त हो चित्त के महत् में प्रवेश होने से नहीं बोलता और जब भार्या, पुत्रादि जाति के लोग पुकारते हैं तो उत्तर न देकर दीन नेत्रों से देखने लगता है ॥ १७९–१८३ ॥

अयस्पाशेन कालेन स्नेहपाशेन बन्धुभिः।
आत्मानं कृष्यमाणं तं वीक्षते परितस्तथा ॥१८४॥

हिक्कया बाध्यमानस्य श्वासेन परिशुष्यतः।
मृत्युना कृष्यमाणस्य न खल्वस्ति परायणम् ॥१८५॥

संसारयन्त्रमारूढो यमदूतैरधिष्ठितः।
क्व यास्यामीति दुःखार्तः कालपाशेन योजितः ॥१८६॥

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
इति कर्तव्यता मूढः कृच्छ्राद्देहात्त्यजत्यसून् ॥१८७॥

यातनादेहसंबद्धो यमदूतैरधिष्ठितः।
इतो गत्वानुभवति या यास्ता यमयातना।
तासु यल्लभते दुःखं तद्वक्तुं क्षमते कुतः ॥१८८॥

जब इस जीव को लोहनिर्मित कालपाश से यमदूत खींचते हैं तो इसे एक ओर से बन्धुओं का स्नेह खींचता है, तब उस समय वह कुछ न कर, केवल तटस्थ रूप से देखता रहता है। हिचकी बढ़ने और श्वांस रुकने से तथा तालु के सूखने से उस मृत्यु से पकड़े हुए जीव का कोई आश्रय नहीं होता। संसार रूपी चक्र में आरूढ़ हुआ, यमदूतों से घिरा, काल-फाँसी में बँधा हुआ महा दुःखी हो, मैं कहाँ जाऊँ? इस प्रकार जीव विचार करता है। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? क्या ग्रहण करूँ? क्या त्याग करूँ? इस प्रकार चिन्तनपरायण हो, किंकर्तव्यविमूढ़ हो, शीघ्र ही अपने प्राणों को अत्यन्त कष्टपूर्वक त्याग करता है। मार्ग में यमदूतों से घसीटा हुआ, यातना-देह में प्राप्त होकर यहाँ से जाकर जिन-जिन यम-यातनाओं का दुःख भोगता है उसको कहने को कौन समर्थ हो सकता है? ॥ १८४–१८८ ॥

कर्पूरचन्दनाद्यैस्तु लिप्यते सततं हि यत्।
भूषणैर्भूष्यते चित्रैः सुवस्त्रैः परिधाप्यते ॥१८९॥

अस्पृश्यं जायतेऽप्रेक्ष्यं जीवत्यक्तं सदा वपुः।
निष्कासयन्ति निलयात्क्षणं न स्थापयन्त्यपि ॥१९०॥

दह्यते च ततः काष्ठैस्तद्भस्मक्रियते क्षणात्।
भक्ष्यते वा सृगालैश्च गृध्रकुक्कटवायसैः ॥१९१॥

पुनर्न दृश्यते सोऽपि जन्मकोटिशतैरपि ॥१९२॥

जिस शरीर को केशर, कस्तूरी, चन्दन, कपूर आदि लगा कर सदा भूषित किया था, जिसे अनेक प्रकार के आभूषणों से सुशोभित एवं वस्त्रों से आच्छादित किया था, वह शरीर प्राणवायु के निर्गत होते ही स्पर्श के अयोग्य, देखने के भी अयोग्य हो जाता है। तदनन्तर इसको क्षणमात्र भी

न रख कर गृह से बाहर निकालने लगते हैं। उसके पश्चात् यह शरीर काष्ठ से जलाकर क्षण भर में भस्म कर दिया जाता है। अथवा शृगाल, गृध्र, कुत्ते और कौवे इसको खाकर समाप्त कर देते हैं, तब फिर यह शतकोटि जन्म तक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥ १८६-१९२ ॥

मातापिता गुरुजनः स्वजनो ममेति
मायोपमे जगति कस्य भवेत्प्रतिज्ञा ।
एको यतो व्रजति कर्मपुरः सरोऽयं
विश्रामवृक्षसदृशः खलु जीव लोकः ॥१९३॥

सायं सायं वासवृक्ष समेताः ।
प्रातः प्रातस्तेन तेन प्रयान्ति ।
त्यक्त्वान्योऽन्यं तं च वृक्षं विहङ्गा
यद्वत्तद्वज्ज्ञातयोऽज्ञातयश्च ॥१९४॥

मृति बीजं भवेज्जन्म जन्मबीजं भवेन्मृतिः ।
घटयन्त्रवदश्रान्तो बंभ्रमीत्यनिशं नरः ॥१९५॥

ऐन्द्रजालिक की माया के सदृश इस मायामय जगत् में मेरी माता, मेरे पिता, मेरे गुरुजन, और मेरे स्वजन—ऐसी कौन प्रतिज्ञा करता है ! जीव केवल अपने कर्मों को ही लेकर परलोक में जाता है। जैसे मार्ग में पथिकों के विश्राम के लिए छायादार कोई वृक्ष आ जाता है, ऐसा ही यह मृत्यु-लोक है। जिस प्रकार पक्षी प्रतिदिन सायंकाल में वृक्ष पर आकर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल एक-दूसरे को त्याग कर अपने-अपने अभिलषित देशों में चले जाते हैं उसी प्रकार यहाँ जाति-अजाति के लोगों का समागम है। यानी अपने कर्मानुसार कुटुम्ब आदि में जन्म लेकर कुछ काल तक साथ-साथ निवास करते तथा कर्म समाप्त होते ही अपनी-अपनी गति को प्राप्त होते हैं। मृत्यु के बीज से जन्म और जन्म के बीज से मृत्यु होती है अर्थात् जो उत्पन्न हुआ उसकी अवश्य मृत्यु होगी और जिसकी मृत्यु होगी, वह अवश्य जन्म को प्राप्त होगा। यह मनुष्य इसी प्रकार घटीयन्त्र के समान निरन्तर इस संसार में भ्रमण करता रहता है ॥ १९३–१९५ ॥

नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम् ।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवाऽस्यचेतना ॥१९६॥
केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदाऽसौ जडनामकः ॥१९७॥

ततोऽसौ प्रेतशब्देन प्रोच्यते व्यवहारिभिः।
चेतनं वासनामिश्रमामोदानिलवत्स्थितम् ॥१९८॥
इदं दृश्यं परित्यज्य यदाऽऽस्ते दर्शनान्तरे।
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव नानाकृतिस्तदा ॥१९९॥

नाड़ियों की गति रुक जाने पर जब प्राणी प्राणवायुओं की विसंस्थिति यानी गत्यवरोध को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतनाशक्ति, अन्तःकरणरूप उपाधि का लय हो जाने से शान्त-सी हो जाती है। प्राणवायु की गति रुकने से जब शरीर में स्पन्द (यानी चेष्टा) शान्त हो जाता है, तब यह देह, जिसका दूसरा नाम जड़ है, 'मृत' कहलाती है। देह के मरण से ही लौकिक व्यवहार करने वाले लोग उसे 'प्रेत' कहते हैं। चेतन वासनाओं से युक्त होकर पुष्प आदि की सुगन्ध से मिले हुए वायु के समान रहता है। इस (पूर्व जन्म के) देह आदि दृश्य का त्याग कर अन्य देह आदि के दर्शन में जब रहता है, तब वह जीव स्वप्न की नाईं तथा मनोरथ की नाईं स्वयं ही परलोकगमन, परलोक, वहाँ के भोग्य आदि वासनामय नाना आकारों को धारण करता है ॥ १९६-१९९ ॥

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषांभेदमिमं शृणु।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥२००॥
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान्।
एतेषां कस्यचिद्भेदो द्वौ त्रयोऽप्यथ कस्यचित् ॥२०१॥
कश्चिन्महापातकवान् वत्सरं स्मृतिमूर्च्छनम्।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥२०२॥
ततः कालेन संबुद्धो वासनाजठरोदितम्।
अनुभूय चिरंकालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥२०३॥
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥२०४॥

प्रेत छः प्रकार के होते हैं, उनके आगे कहे जाने वाले भेद को सुनो—साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े पापी, साधारण धर्म वाले, मध्यम धर्म वाले तथा उत्तम धर्म वाले। इनमें से प्रत्येक में किसी के दो भेद होते हैं और किसी के तीन भेद होते हैं।

कोई बड़ा भारी पातकी एक वर्ष तक मरण-मूर्च्छा का अनुभव करता है, पत्थर के मध्य की नाईं ठोस और मूढ़ रहता है। बहुत समय के बाद चेतना को प्राप्त होकर चिरकाल तक वासनारूपी नायिका के उदर से उत्पन्न हुए कभी नष्ट न होने वाले नारकीय दुःख का उपभोग कर, एक दुःख के बाद दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ, वह महापापी सैकड़ों योनियों का खूब भोग कर कभी संसाररूपी स्वप्न में शान्ति को यानी महापापों के फल की समाप्ति को प्राप्त होता है।। २००–२०४ ।।

अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद् वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥२०५॥

स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाऽथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥२०६॥

अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
स शिलाजठरं जाड्यं कञ्चित्कालं प्रपश्यति ॥२०७॥

ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदेव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥२०८॥

अथवा वे मृत्यु-मोह के अन्त में सैकड़ों जड़-दुःखों से व्याकुल वृक्ष आदि योनियों का, जो कि हृदय में स्थित हैं, भोग करते हैं और फिर नरक में अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप विविध दुःखों का अनुभव कर चिरकाल तक भूतल में नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं। और जो मध्यम पापी है वह मरण-मूर्च्छा के पश्चात् पत्थर के उदर की (मध्य भाग की) नाईं घनी मूर्च्छा का कुछ काल तक अनुभव करता है। तदुपरान्त जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल में या उसी समय तिर्यग् आदि क्रम से योनियों का भोग कर संसार को प्राप्त होता है।

।। २०५–२०८ ।।

मृत एवाऽनुभवति कश्चित्सामान्यपातको ।
स्ववासनानुसारेण देहं संपन्नमक्षतम् ।।२०९।।

स स्वप्न इव सङ्कल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ।२१०।।

ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥२११॥

ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥२१२॥

कोई साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीर का अनुभव करता है। वह स्वप्न की नाईं और मनोरथ की नाईं वैसा अनुभव करता है और उसी क्षण में उसकी स्मृतियाँ उदित होती हैं। किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्च्छा के बाद पुण्य-वासनाओं के उदय से स्वर्गलोक, विद्याधरलोक का सुख भोगते हैं। महापुण्य के फल के उपभोग के बाद थोड़ा-बहुत पापकर्म यदि हो तो उसके अनुरूप फल को इलावृत्त आदि अन्य खण्डों में भोग कर मनुष्य-लोक में सज्जनों के धनवान् घर में जन्म लेते हैं ॥२०६–२१२॥

ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥२१३॥
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भ जातिक्रमोचिते ॥२१४॥
स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम् ।
मूर्च्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेण वाऽक्रमेण च ॥२१५॥
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात् ।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इति वेदिनः ॥२१६॥

जो मध्यमधर्मात्मा हैं, वे मरण-मूर्च्छा के बाद आकाश-वायु से वेष्टित होकर भाँति-भाँति के वृक्ष, लता और पल्लवों से व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानों में किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदि के शरीर से जाते हैं। वहाँ पर अपने पुण्य कर्मों का सुन्दर फल भोग कर वायु-वृष्टि आदि से पृथ्वी में धान, गेहूँ, जौ आदि में प्रवेशपूर्वक अन्न बन कर, कर्मानुसार ब्राह्मणादि के हृदय में प्रवेश कर, वीर्यरूप से स्त्रियों के गर्भ को प्राप्त होते हैं। प्रेत अपनी वासना के अनुसार मरण-मूर्च्छा के अन्त में अपने हृदय में इस व्यवस्था का क्रम से और क्रम के बिना भी अनुभव करता है। प्रेत, पहले हम लोग मरे, तदनन्तर दाह, दशाहकृत्य आदि के क्रम से हम लोगों का शरीर बना, यह जानते हैं ॥ २१३–२१६ ॥

ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति ।
नीयमानाः प्रयाम्येभिः क्रमाद् यमपुरं त्विति ॥२१७॥

उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः ।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान् ॥२१८॥

हिमानीकण्टकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च ।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि संप्राप्तानीति पापवान् ॥२१९॥

इयं मे सौम्यसंपाता सरणिः शीतशाद्वला ।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरः संस्थेति मध्यमः ॥२२०॥

तदनन्तर वे जानते हैं कि हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं। इन यमदूतों द्वारा ले जाया जा रहा मैं पाथेय श्राद्ध आदि से तृप्त किया गया, क्रम से यमपुरी को जाता हूँ। उनमें से जो महापुण्यवान् होते हैं, वे बड़े मनोहर देवलोक के विमान और उद्यानों को, ये हमारे कर्मों से बार-बार प्राप्त हैं, ऐसा जानते हैं। महापापी पुरुष वर्फ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवार की नाईं चोखे पत्तों से भरपूर वन, जो कि हमारे दुष्कर्मों से उत्पन्न हैं, हमें प्राप्त हो रहे हैं। ऐसा जानते हैं। मध्यम पुण्यवाले पुरुष जानते हैं कि यह मार्ग, जिसमें बड़े आराम के साथ पैदल चला जा सकता है, ठण्डी और हरी-हरी दूब जमी है, मनभावनी छाया से युक्त है और स्थान-स्थान पर बावलियाँ बनी हैं मेरे सामने स्थित हैं॥ २१७–२२० ॥

अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः ।
अयं कर्मविचारोऽत्रकृत इत्यनुभूतिमान् ॥२२१॥
इति प्रत्येकमभ्येति पृथुः संसारखण्डकः ।
यथा संस्थित निःशेष पदार्थाचारभासुरः ॥२२२॥

इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने ।
गच्छाम्याशुशुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥२२३॥

यः स्वर्गोऽयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा ।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः ॥२२४॥

मध्यम पापी जनों को यह अनुभव होता है कि यह मैं यमपुरी में आ पहुँचा। ये सर्वलोक प्रसिद्ध यमराज हैं और यहाँ चित्रगुप्त आदि ने मेरे कर्मों का विचार किया। मुझे यमराज ने अपने कर्मों के फलों का भोग करने के लिए इस दिशा में जाने की आज्ञा दी है, इसलिए यम सभा से मैं शीघ्र सुन्दर-सुन्दर भोगों से युक्त स्वर्ग में जाता हूँ या नरक में ही जाता हूँ। यमराज ने जिस स्वर्ग का भोग करने के लिए आज्ञा दी थी उस स्वर्ग का

मैंने भोग कर लिया। अथवा यमराज ने जिस नरक का भोग करने के लिए मुझे आदेश दिया था, उसका मैंने भोग कर लिया है। यमनिर्दिष्ट ये पशु आदि योनियाँ मैंने भोग कर ली हैं। इस समय मैं मनुष्य संसार में आविर्भूत होता हूँ ॥ २२१–२२४ ॥

अयं शालिरहं जातः क्रमात् फलमहं स्थितः।
इत्युदर्कप्रबोधेन बुध्यमानो भविष्यति ॥२२५॥

संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भोभवति मातरि ॥२२६॥

स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः ॥२२७॥

ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम्।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम् ॥२२८॥

ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्च्छनाम्।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डे देहपरिग्रहम् ॥२२९॥

यह मैं कभी धान का अङ्कुर हुआ, फिर बढ़ कर पौधा हुआ, पत्ते लगे, गाभ हुआ, धान की बाल हुआ, इस क्रम से बीज बनकर रहा। भविष्य काल में प्राप्त होने वाले मनुष्य शरीर में श्रुति, पुराण आदि से उत्पन्न बोध से उसे अपने व्रीह्यादिभाव का परिज्ञान होता है। उस बीजरूपता की अवस्था में शरीर न होने से उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण संसुप्त रहते हैं। उसी अवस्था में वह पिता के शरीर में भुक्त अन्न द्वारा प्रवेशकर वीर्य बनता है। तदुपरान्त वह माता के उदर में गर्भ बनता है। अपने पूर्व कर्मों के अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर स्वभाव से युक्त अथवा दुःख दौर्भाग्य, रोग तथा विषम स्वभाव से युक्त मनोहर आकृति वाला बालक होता है। तदुपरान्त वह चन्द्रमा के समान घटने-बढ़ने वाले चञ्चल और मनोहर तथा कामोन्मुख (नारीपरायण) यौवन का अनुभव करता है, फिर कमल के मुँह में गिरे हुए तुषाररूपी वज्र की नाईं बुढ़ापे का अनुभव करता है। यानी जैसे कमल के ऊपर तुषार रूपी वज्र गिर कर उसे मुरझा देता है, वैसे ही बुढ़ापे से जर्जर हो जाता है। उसके बाद भी व्याधिरूपी मरण का अनुभव करता है फिर वह मरणजनित मूर्च्छा को प्राप्त होता है, तदनन्तर बन्धुओं

द्वारा दिए गए पिण्डों से स्वप्न के समान प्राप्त देहग्रहण का अनुभव करता है ॥ २२५–२२९ ॥

यास्यं याति पुनर्लोकं पुनरेवभ्रमक्रमम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति नानायोन्यन्तरोदये ॥२३०॥

इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान् ॥२३१॥

एतान्यन्यानि चोग्राणि दुःखानि मरणे नृणाम् ।
शृणुष्व नरके यानि प्राप्यन्ते पुरुषैर्मृतैः ॥२३२॥

पुनः वह पूर्वोक्त रीति से यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही नाना योनियों की प्राप्ति में भ्रम-क्रम का पुनः अनुभव करता है। आकाश में ही आकाशरूपी जीव इस प्रकार के वेगवान् परिवर्तन का मोक्ष होने तक पुनः पुनः अनुभव करता है। मरणकाल में मनुष्यों को पूर्ववर्णित और ऐसे ही अन्य भी भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं। अब मरणोपरान्त उन्हें पाप कर्मों के फलस्वरूप जो नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, वह सुनो ॥२३०–२३२॥

याम्यकिङ्करपाशादिग्रहणं दण्डताडनम् ।
यमस्यं दर्शनं चोग्रमुग्रमार्गविलोकनम् ॥२३३॥

करम्भवालुकावह्नियन्त्र शस्त्रादिभीषणे ।
प्रत्येकं नरके याश्च यातना द्विज दुःसहाः ॥२३४॥

क्रकचैः पाठ्यमानानां मूषायां चापि दह्यताम् ।
कुठारैः कृत्यमानानां भूमौ चापि निखन्यताम् ॥२३५॥

शूलेष्वारोप्यमाणानां व्याघ्रवक्त्रे प्रवेश्यताम् ।
गृध्रैस्सम्भक्ष्यमाणानां द्वीपिभिश्चोपभुज्यताम् ॥२३६॥

क्वाथ्यतां तैलमध्ये च क्लिद्यतां क्षारकर्दमे ।
उच्चान्निपात्यमानानां क्षिप्यतां क्षेपयन्त्रकैः ॥२३७॥

नरके यानि दुःखानि पापहेतूद्भवानि वै ।
प्राप्यन्ते नारकैर्विप्र तेषां संख्या न विद्यते ।२३८॥

यमकिंकर प्रथम अपने पाशों में बाँधते हैं, फिर उनके दण्ड प्रहार सहने पड़ते हैं। तदनन्तर यमराज का दर्शन होता है तथा वहाँ तक पहुँचने में बड़ा ही दुर्गम मार्ग देखना पड़ता है। फिर तप्तवालुका, अग्नियंत्र और

शस्त्रादि से महाभयंकर नरकों में जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, वे अत्यन्त असह्य होती हैं। आरे से चीरे जाने, मूस में तपाये जाने, कुल्हाड़ी से काटे जाने, भूमि में गाड़े जाने, शूलि पर चढ़ाये जाने, सिंह के मुख में डाले जाने, गृध्रों से नोचने, हाथियों से दलित होने, तेल में पकाये जाने, खारे दलदल में फँसने, ऊपर ले जाकर नीचे गिराए जाने और क्षेपणयन्त्र द्वारा दूर फेंके जाने से नरक निवासियों को अपने पाप कर्मों के कारण जो जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती ॥ २३३–२३८ ॥

एवं कुटुम्बविभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥२३९॥

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम् ॥२४०।

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥२४१॥

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥२४२॥

इस प्रकार अनेक कष्ट भोगकर अपने कुटुम्ब का ही पालन करने वाला अथवा केवल अपना ही पेट भरने वाला पुरुष उन कुटुम्ब और शरीर-दोनों को यहीं छोड़ कर मरने के बाद अपने किए हुए पापों का ऐसा फल भोगता है। अपने इस शरीर को यहीं छोड़कर प्राणियों से द्रोह करके एकत्रित किए हुए पापरूप पाथेय को साथ लेकर वह अकेला ही नरक में जाता है। अपने कुटुम्ब का पेट पालने में जो अन्याय करता है, उस दैवविहित कुफल को वह नरक में जाकर भोगता है। उस समय वह ऐसा व्याकुल होता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो। जो पुरुष निरी पाप की कमाई से ही अपने परिवार का पालन करने में व्यस्त रहता है, वह अन्धतामिस्र नरक में जाता है, जो नरकों में चरम सीमा का कष्टप्रद स्थान है ॥
॥ २३९–२४२ ॥

न केवलं द्विजश्रेष्ठ नरके दुःखपद्धतिः।
स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्तिनिर्वृतिः ॥२४३।

पुनश्च गर्भे भवति जायते च पुनः पुनः।
गर्भे विलीयते भूयो जायमानोऽस्तमेति वै ॥२४४।

जातमात्रश्च म्रियते बालभावेऽथ यौवने।
मध्यमं वा वयः प्राप्य वार्द्धके वाथ वा मृतिः ॥२४५॥

केवल नरक में ही दुःख हों, सो बात नहीं है, बल्कि स्वर्ग में भी पतन के भय से डरे हुए क्षय की आशंका वाले उस जीव को कभी शान्ति नहीं मिलती। नरक अथवा स्वर्ग-भोग के अनन्तर बार-बार वह गर्भ में आता है और जन्म ग्रहण करता है तथा फिर कभी गर्भ में ही नष्ट हो जाता है और कभी जन्म लेते ही मर जाता है। जो उत्पन्न हुआ है, वह जन्मते हीं, बाल्यावस्था में, युवावस्था में, मध्यम वय में अथवा जराग्रस्त होने पर अवश्य मर जाता है॥ २४३–२४५ ॥

गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥२४६॥

यथा जीर्णम जीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेकं देहा शरीरिणाम् ॥२४७॥

यथा च मृण्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते।
किंचित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥२४८॥

छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा ॥२४९॥

उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥२५०॥

पण्डित लोग मरणधर्मा प्राणियों के शरीरों को घर के तुल्य बतलाते हैं। क्योंकि सारे शरीर समय पर नष्ट हो जाते हैं किन्तु उसके भीतर जो एक मात्र सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह नित्य है।

जैसे मनुष्य नये अथवा पुराने वस्त्र को उतार कर दूसरे नूतन वस्त्र को पहनने की रुचि रखता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर उनके द्वारा समय-समय पर त्यागे और ग्रहण किए जाते हैं।

जैसे मिट्टी का बर्तन बनाए जाने के समय कभी चाक पर चढ़ाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर, कभी पूरा बन जाने पर, कभी गीली या सूखी अवस्था में, कभी पकाए जाते समय, कभी पाक-स्थान

से उठाकर ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोग में लाते समय फूट जाता है ऐसी ही दशा देहधारियों के शरीरों की भी होती है ॥

॥ २४६–२५० ॥

गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तरः।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा ॥२५१॥

संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते ॥२५२॥

गर्भ में रहते समय, पैदा हो जाने पर, कोई कई दिनों का होने पर, कोई पन्द्रह दिन का, कोई एक मास का तथा कोई एक या दो साल का होने पर, कोई युवावस्था में, कोई मध्यावस्था में अथवा कोई वृद्धावस्था में पहुँचने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥ २५१–२५२ ॥

यदा प्राज्ञाश्चमूर्खाश्च धनवन्तश्च निर्धनाः।
कुलीनाश्चाकुलीनाश्च मानिनोऽथाप्यमानिनः ॥२५३॥

सर्वे पितृवनं प्राप्ताः स्वपन्ति विगतत्वचः।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ॥२५४॥

विशेषं न प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः।
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ॥२५५॥

यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलुब्धमिह दुर्बुधाः ॥२५६॥

जब ज्ञानी और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, कुलीन और अकुलीन तथा मानी और मानरहित सभी मरघट में जा कर सो जाते हैं, उनकी चमड़ी भी नष्ट हो जाती है और नाड़ियों से बँधे हुए माँसरहित हड्डियों के ढेररूप उनके नग्न शरीर सामने आते हैं, तब वहाँ खड़े हुए दूसरे लोग उनमें कोई ऐसा अन्तर नहीं देख पाते, जिससे एक की अपेक्षा दूसरे के कुल और रूप की विशेषता को जान सकें। जब मरने के बाद श्मशान में डाल दिए जाने पर सभी लोग समान रूप से पृथ्वी की गोद में सो जाते हैं, तब वे मूर्ख मानव इस संसार में क्यों एक दूसरे को ठगने की इच्छा करते हैं ?

॥ २५३–२५६ ॥

अहो बलवतीमाया मोहयत्यखिलं जगत्।
पुत्रमित्रकलत्रार्थं सर्वं दुःखेन योजयेत् ॥२५७॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥२५८॥

यावदर्जयति द्रव्यं बान्धवस्तावदेव हि ।
धर्माधर्मौ सहैवास्तामिहामुत्र न चापरः ॥२५९॥

धर्माधर्मार्जितैर्द्रव्यैः पोषिता येन ये नराः ।
मृतमग्निमुखे हुत्वा घृतान्नं भुंजते हि ते ॥२६०॥

अहो दुःखं मनुष्याणां ममताकुलचेतसाम् ।
महापापानि कृत्वा परान्पुष्यन्ति यत्नतः ॥२६१॥

अर्जितं च धनं सर्वं भुंजते बांधवाः सदा ।
स्वयमेकतो मूढस्तत्पापफलमश्नुते ॥२६२॥

अहो ! माया बड़ी प्रबल है जिसने समस्त जगत् को मोहित कर रक्खा है तभी तो लोग पुत्र, मित्र और स्त्री के लिए सबको दुःखी करते रहते हैं। मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मेरी यह वस्तु—इस प्रकार ममता प्राणियों को व्यर्थ ही पीड़ा देती रहती है। पुरुष जब तक धन कमाता है, तभी तक भाई-बन्धु सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु इस लोक और परलोक में केवल धर्म और अधर्म ही सदा उसके साथ रहते, वहाँ दूसरा कोई साथी नहीं है। धर्म और अधर्म से कमाये हुए धन के द्वारा जिसने जिन लोगों का पालन-पोषण किया है, वे ही मरने पर उसे आग के मुख में झोंक कर स्वयं घी मिलाया हुआ अन्न खाते हैं। अहो ! ममता से आकुल चित्त वाले मनुष्यों का दुःख महान् है; क्योंकि वे बड़े-बड़े पाप करके भी दूसरों का यत्नपूर्वक पालन करते हैं। मनुष्य के कमाए हुए सम्पूर्ण धन को सदा सब भाई-बन्धु भोगते हैं; किन्तु वह मूर्ख अपने पापों का फल स्वयं अकेला ही भोगता है ॥ २५७–२६२ ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति ।
नालं स दुःखमोक्षाय संगो वै दुःखलक्षणः ॥२६३॥
सक्तस्य बुद्धिर्भवति मोहजालविवर्द्धिनो ।
मोहजालावृतो दुःखमिहामुत्र तथाश्नुते ॥२६३॥
पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदंति जन्तवः ।
सरः पङ्कार्णवेमग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥२६५॥
मोहजालसमाकृष्टान्पश्यजन्तून्सुदुःखितान् ॥२६६

कुटुम्बं पुत्रदारं च शरीर द्रव्यसंचयम् ।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किंस्वित्सुकृतदुष्कृते ॥२६७॥

जहाँ सुख का नाम भी नहीं हैं, ऐसे मानव शरीर को प्राप्त कर जो विषयों में आसक्त होता है, वह मोह में डूब जाता है। विषयों का संयोग दुःख रूप है, वह कभी दुःखों से छुटकारा नहीं दिला सकता। आसक्त मनुष्य की बुद्धि चञ्चल हो जाती है और मोहजाल का खूब विस्तार करने वाली होती है। जो उस मोह जाल से घिर जाता है, वह इस लोक और परलोक में दुःख का ही भागी होता है। स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्ब में आसक्त रहने वाले जीव उसी प्रकार कष्ट पाते हैं जैसे जंगल के बूढ़े हाथी तालाब के दलदल में फँस कर दुःख भोगते हैं। जैसे महान् जाल में फँस कर पानी के बाहर आए हुए मत्स्य तड़पते हैं उसी प्रकार स्नेहजाल में फँसकर अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियों की ओर दृष्टिपात करो। कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, शरीर और द्रव्य का संग्रह—यह सब कुछ पराया है, सब अनित्य है। यहाँ अपना क्या है? केवल पुण्य और पाप ॥ २६३–२६७ ॥

सुखात्प्रियतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः ।
जरामरणदुःखेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥२६८॥
भजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ताद्दृढधन्विभिः ॥२६९॥
व्याधितस्य चिकित्साभिस्त्रस्यतो जीवितैषिणः ।
आमयस्य विनाशाय शरीरमनुकृष्यते ॥२७०॥
स्रंसंति न निवर्तन्वे स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥२७१॥
निमेषमात्रमपि हि योधिगच्छन्न तिष्ठति ।
शरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥२७२॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक होता है तथापि जरा और मृत्यु के दुःख महान् हैं। अतः उनसे अपनी आत्मा का उद्धार करे। शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करने वाले वीर पुरुष के छोड़े हुए तीखी धार वाले बाणों की तरह शरीर को पीड़ित करते हैं। तृष्णा से व्यथित दुःखी एवं विवश होकर जीने की इच्छा रखने वाले मनुष्य का नाशवान् शरीर क्षण-क्षण में विनाश को

प्राप्त हो रहा है। जैसे नदियों का प्रवाह आगे की ओर ही बढ़ता जाता है, पीछे की ओर नहीं लौटता; उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्यों की आयु का अपहरण करते हुए एक-एक करके बीतते चले जा रहे हैं। आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पल भर भी विश्राम नहीं लेती। जब अपना शरीर ही अनित्य है तब इस संसार की दूसरी किस वस्तु को नित्य समझा जाय? ॥२६८-२७२॥

आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते।
नीयते तद् वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥२७३॥

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतानि च।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समायना ॥२७४॥

तस्य मार्गोयम द्वेधः सर्वत्यागस्यदर्शितः।
विप्रहाणाय दुःखस्यदुर्गतिर्हि तथा भवेत् ॥२७५॥

आयु के बीते हुए एक क्षण को भी यदि कोई चाहे सुवर्ण आदि के राशि के साथ सकल रत्नों से लौटा लूँ, तो पा नहीं सकता। ऐसी दुर्लभ आयु को जो वृथा गँवाता है उसके प्रमाद का क्या ठिकाना है। उसके लिए खेद है, महा खेद है।

शास्त्रों में द्रव्यत्याग करने के लिए यज्ञ आदि कर्म, भोग का त्याग करने के लिए व्रत, दैहिक सुखों के त्याग के लिए तप और सब कुछ त्यागने के लिए योग के अनुष्ठान की आज्ञा दी गई है। यही त्याग की सीमा है। सर्वस्वत्याग का यह एकमात्र मार्ग ही दुःखों से छुटकारा पाने के लिए उत्तम बताया गया है। इसका आश्रय न लेने वालों को दुर्गति भोगनी पड़ती है ॥२७३-२७५॥

यावज्जीवति तावच्च दुःखैर्नानाविधैः प्लुतः।
तन्तुकारणपक्ष्मौघैरास्ते कार्पासबीजवत् ॥२७६॥

द्रव्यनाशे तथोत्पत्तौ पालने च सदा नृणाम्।
भवन्त्यनेकदुःखानि तथैवेष्ट विपत्तिषु ॥२७७॥

यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति ॥२७८॥

कलत्रपुत्रमित्रार्थ गृहक्षेत्रधनादिकैः।
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसा यथासुखम् ॥२७९॥

इति संसारदुःखार्कतापतापितचेतसाम् ।
विमुक्तिपादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम् ॥२८०॥

सर्वस्व त्याग के अभाव में मनुष्य जब तक जीता है, तब तक नाना प्रकार के कष्टों से घिरा रहता है। जिस तरह कपास का बीज तन्तुओं के कारण सूत्रों से घिरा रहता है।

द्रव्य के उपार्जन, रक्षण, और नाश में तथा इष्ट मित्रों के विपत्तिग्रस्त होने पर भी मनुष्य को अनेकों दुःख उठाने पड़ते हैं। मनुष्यों को जो-जो वस्तुएँ प्रिय हैं, वे सभी दुःखरूपी वृक्ष का बीज हो जाती हैं। स्त्री, पुत्र, मित्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र और धन आदि से पुरुषों को जैसा दुःख होता है वैसा सुख नहीं होता। इस प्रकार सांसारिक दुःखरूप सूर्य के ताप से जिनका अन्तःकरण तप्त हो रहा है, उन पुरुषों को मोक्षरूपी वृक्ष की (घनी) छाया को छोड़कर और कहाँ सुख मिल सकता है ? ॥२७६-२८०॥

तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य वै मम।
गर्भजन्मजराद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः ॥२८१॥

निरस्तातिशयाह्लाद सुखभावैकलक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता ॥२८२॥

तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ॥२८३॥

असारभूतेसंसारे नानादुःखसमन्विते।
विश्वासो नात्र कर्तव्यो निश्चितंमृत्युसंकुले ॥२८४॥

यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य तावद्धर्मं समाचरेत्।
अस्वस्थः प्रेरिताश्चान्यैर्नं किंचित्कर्तुमुत्सहेत् ॥२८५॥

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने हि कूपखनने प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥२८६॥

अतः मेरे मत में गर्भ, जन्म और जरा आदि स्थानों में प्रकट होने वाले आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखसमूह की एकमात्र सनातन औषधि भगवत्प्राप्ति ही है, जिसका एक मात्र लक्षण निरतिशय आनन्दरूप सुख की प्राप्ति ही है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को भगवत्प्राप्ति के लिए ही अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए।

कल्याणकामी पुरुषों को इस नाना दुःखों से समन्वित अवश्यम्भाविनी मृत्यु से व्याप्त असारभूत संसार पर विश्वास न कर, जब तक शरीर स्वस्थ है तभी तक परमात्मप्राप्तिरूप धर्म का अनुष्ठान कर लेना चाहिए। अस्वस्थ हो जाने पर अन्यों द्वारा प्रेरित किए जाने पर भी कुछ करने का उत्साह नहीं होता। अतः जब तक शरीर स्वस्थ तथा नीरोग है, जब तक जरा—वृद्धावस्था दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जब तक आयु अवशेष है तभी तक विद्वान् पुरुष को भगवत्प्राप्तिरूप आत्म-कल्याण के लिए महान् प्रयत्न कर इस दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक कर लेना चाहिए; अन्यथा घर में आग लग जाने पर—पूरे भवन के प्रज्व-लित हो उठने पर उसके बुझाने के लिए कुआँ खोदने के प्रयत्न से क्या लाभ ? जैसे आग लग जाने पर कुआँ खोदना निरीमूर्खता है वैसे तारुण्य—यौवन में श्रेयप्राप्ति का साधन न कर वृद्धावस्था में उसकी चेष्टा करना भी मूर्खता ही है ॥२८१-२८६॥

> व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
> रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
> आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
> लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥२८७॥

> आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
> व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
> दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
> पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥२८८॥

वृद्धता बाघिन की तरह डराती हुई खड़ी रहती है और रोग शत्रुओं के समान शरीर पर प्रहार करते हैं और फूटे घड़े से पानी की तरह आयु भी चू जाती है तथापि मानव अपना अहित अर्थात् परापकार और अपना भी अपकार करता रहता है—यही बहुत बड़ा आश्चर्य है। सूर्य के उदय और अस्त के साथ प्रतिदिन जीवन क्षीण होता जाता है। बहुत से देह-गेह सम्बन्धी कार्यों से, जीवनोपाय के उद्योगों से बीतने वाले समय का भी पता नहीं चलता। जन्म, जरा (बुढ़ापा) के कारण कष्ट तथा मृत्यु को देखकर भी भय नहीं उत्पन्न होता। इससे ज्ञात होता है कि सारा जगत् अर्थात् संसार के सभी प्राणी मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर मतवाले हो गए हैं तभी तो जीव सब कुछ देख सुन कर भी सजग नहीं होता ॥२८१-२८८॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेष व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥२८९॥

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणीधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥२९०॥

मनुष्यों की आयु सौ वर्ष की स्थिर की गई है, उसका आधा भाग अर्थात् पचास वर्ष का तो रात में सोने में चला गया। उसके आधे का आधा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष का काल बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था में बीत जाता है और शेष आयु व्याधि-रोग, वियोग— आत्मीय जन एवं धन का विछोह होने वाले दुःख के साथ अपनी जीविका के लिए श्रीमानों की सेवा में बीतता है। अतः जल की लहरी के समान अत्यन्त चंचल अर्थात् क्षणिक इस जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है ? सुख असंभव है क्योंकि सभी दुःखमय ही दिखाई पड़ता है।

प्रलय काल की अग्नि से जब श्रीमान् सुमेरु पर्वत बलात् गिर पड़ता है और बड़े-बड़े मगर-ग्राहों के स्थान समुद्र सूख जाते हैं और पर्वतों के पग से दबी हुई पृथ्वी नष्ट हो जाती है तब हाथी के बच्चे के कान के कोर समान चञ्चल मनुष्य के शरीर की क्या गणना है ? अर्थात् वह तो अवश्य नष्ट होगा ॥ २८९-२९० ॥

यावन्नेन्द्रियवैकल्यं यावद्व्याधिर्न बाधते।
तावदेवार्चयेद्विष्णुं यदि मुक्तिमभीप्सति ॥२९१॥

मातुर्गर्भाद्विनिष्क्रान्तो यदा जन्तुस्तदैव हि।
मृत्युः संनिहितो भूयात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥२९२॥

अहो कष्टमहो कष्टमहो कष्टमिदं वपुः।
विनश्वरं समाज्ञाय धर्मं नैवाचरत्ययम् ॥२९३॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्यभुजमुच्यते।
दम्भाचारं परित्यज्य वासुदेवं समर्चयेत् ॥२९४॥

जब तक इन्द्रियाँ शिथिल नहीं होती और जब तक रोग—व्याधि नहीं

सताते, तभी तक 'यदि मुक्ति की अभिलाषा हो' तो भगवान् विष्णु की आराधना कर लेनी चाहिए। जब जीव माता के गर्भ से निकलता है तभी मृत्यु उसके साथ हो लेती है। अतः उसे धर्मपालन में लग जाना चाहिए।

अहो! बड़े कष्ट की बात है कि यह जीव इस शरीर को नाशवान् समझ कर भी धर्म का आचरण नहीं करता।

बाँह उठाकर यह सत्य, सत्य, पुनः सत्य बात दुहराई जाती है कि पाखण्डपूर्ण आचरण का त्याग करके भगवान् वासुदेव की आराधना में लग जाय॥ २९१-२९४॥

अहो धैर्यमहो धैर्यमहो धैर्यमहो नृणाम्।
विष्णौ स्थिते जगन्नाथे न भजन्ते मदोद्धताः॥२९५॥

अनाराध्य जगन्नाथं सर्वधातारमच्युत।
संसारसागरेमग्ना कथं पारं प्रयान्ति हि॥२९६॥

अहो मौर्ख्यमहोमौर्ख्यमहो मौर्ख्य दुरात्मनाम्।
हृत्पद्मसंस्थितं विष्णुं न विजानन्ति नारद॥२९७॥

इहामुत्र सुखप्रेक्षुः पूजयेत्सततं हरिम्।
इहामुत्र सुखाप्रेक्षुः परनिन्दापरो भवेत्॥२९८॥

अहो! मनुष्यों का धैर्य कितना अद्भुत कितना विचित्र तथा कितना आश्चर्यजनक है कि जगदीश्वर भगवान् विष्णु के होते हुए भी वे मद से उन्मत्त होकर उनका भजन नहीं करते। सबका धारण-पोषण करने वाले जगदीश्वर भगवान् अच्युत की आराधना किए बिना संसार-सागर में डूबे हुए मनुष्य कैसे पार जा सकेंगे? दुष्ट चित्तवाले मनुष्यों की कितनी भारी मूर्खता है कि वे अपने हृदय में विराजमान भगवान् विष्णु को नहीं जानते। इह लोक में और परलोक में सुख चाहने वाला मनुष्य सदा श्री हरि की पूजा करे तथा इह लोक और परलोक में दुःख चाहने वाला मनुष्य दूसरों की निन्दा में तत्पर रहे॥ २९५-२९८॥

अशुचि दुर्गन्धित एवं दुःखों से पूर्ण इस अनात्मशरीर का मूढ़ों द्वारा अहं-मम रूप से ग्रहण

अथातः संप्रवक्ष्यामि वैराग्यं दुःखनाशनम् ।
येन साक्षाच्छिवज्ञानं जायते मोक्षसाधनम् ॥१॥

शोभनाशोभना भ्रान्तिः कल्पितास्मिन्यथार्थवत् ।
अध्यास्ते शोभनत्वेन पदार्थे मोहवैभवात् ॥२॥

रागो विजायते नृणां भ्रान्तानां मुनिसत्तम ।
रागद्वेषार्गलाबद्ध्वा धर्माधर्मवशं गताः ।
देवतिर्यङ्मनुष्यादि निरयं यान्ति मानवाः ॥३॥

अब मैं दुःखों का नाश करने वाले उस वैराग्य को कहूँगा, जिसके द्वारा मोक्ष का साधनभूत अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। इस संसार में भ्रम भी यथार्थ की भाँति प्रतीत होता है, कहीं शोभन में अशोभन का भ्रम होता है और कहीं अशोभन में शोभन का। यह सब मोह के वैभव से ही होता है। भ्रान्त मनुष्यों का विभिन्न विषयों में राग हो जाता है। मनुष्य राग-द्वेष रूपी अर्गला में आबद्ध हो, धर्म और अधर्म के वशीभूत होते हैं तथा उन्हीं के अनुसार देव, तिर्यक एवं मनुष्यादि योनियों तथा नरकों में पड़ते हैं ॥१-३॥

शुक्रं च शोणितं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा स्मृत्वा तु मानवः ।
उद्गारं कुरुते तद्धि शरीरं चेतनस्य तु ॥४॥

तस्मिञ्शरीरेऽहंबुद्धि सदा कः कुरुते जनः ।
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति विग्रहम् ॥५॥

मनुष्य अपने शरीर से अन्यत्र शुक्र और शोणित (रज) को देखकर तथा उसका स्पर्श एवं स्मरण करके स्वयं जुगुप्सा का उद्गार प्रकट करता है तथा तज्जातीय माता-पिता का शुक्र-शोणित ही इस चेतन का शरीर है,

उस शरीर में कौन मनुष्य सदा अहंबुद्धि करता है? अविद्या के कारण मूढ़ पुरुष ही इस पिण्ड को अहं और मम यानी मैं और मेरा बुद्धियों द्वारा ग्रहण करता है ॥४-५॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा चर्मं भूमितलेस्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥६॥
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्ये शरीरे चर्मं यद्भवेत् ।
तस्मिंश्चर्मण्यहंबुद्धिं सदा कः कुरुते नरः ॥७॥
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा मांसं भूमितलेस्थितम् ॥८॥
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्ये देहे मांसं तु यद्भवेत् ॥९॥
तस्मिन्मांसे त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ।
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥१०॥

चमड़े को पृथ्वीतल पर स्थित देखकर, उसका स्पर्श एवं स्मरण करके मनुष्य स्वयं उसमें दोष-दर्शन के कारण घृणा का उद्गार प्रकट करता है। उसी प्रकार आत्मरूप से अग्राह्य इस शरीर में जो चमड़ा है, उस चमड़े में कौन मनुष्य सदैव अहंबुद्धि करता है? मूढ़ ही इसे निरन्तर अहं और मम बुद्धियों से ग्रहण करता है।

पृथ्वी तल पर रक्खे हुए मांस खण्ड को देखकर, उसका स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोष-दर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना दोषोद्गार प्रकट करता है। उसी प्रकार आत्मरूप से ग्रहण न करने योग्य इस शरीर में जो मांस है, भला उसमें कौन मनुष्य सदा अहंबुद्धि करता सै? केवल मूढ़ पुरुष ही इसे निरन्तर अहं और मम बुद्धियों से ग्रहण करता है ॥४-१०॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा शिरां भूमितलेस्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥११॥
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्या शरीरस्था च या शिरा ।
तस्यामेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ॥१२॥
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा चास्थि भूमितले स्थितम् ॥१३॥

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं शरीरस्यास्थि यद्भवेत् ॥१४॥
तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धि सदा कः कुरुते जनः ।
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्लाति संततम् ॥१५॥

पृथ्वी तल पर स्थित शिरा को देखकर, उसकां स्पर्श और स्मरण करके उसमें दोष-दर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना उद्गार प्रकट करता है। उसी प्रकार आत्मरूप से ग्रहण न की जाने योग्य शरीर में जो शिरा है उसमें कौन मनुष्य सदा आत्मबुद्धि करता है? केवल मूढ़ ही अहं और मम बुद्धियों द्वारा इसे ग्रहण करता है।

पृथ्वी तल पर स्थित अस्थिसमूह को देखकर तथा उसका स्पर्श और स्मरण करके उसमें दोष-दर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपनी जुगुप्सा प्रकट करता है उसी प्रकार आत्मरूप से अग्राह्य इस शरीर में जो अस्थि है उसमें कौन मनुष्य निरन्तर अहंबुद्धि करता है? मूढ़ पुरुष ही इसे लगातार अहं और मम बुद्धियों द्वारा ग्रहण करता है ॥११-१५॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा रोमपुञ्जं भुविस्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥१६॥
तथा देहस्थितं रोमनिचयं यद् द्विजोत्तमाः ।
तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धि सदा कः कुरुते जनः । १७॥
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्लाति संततम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा रक्तं भूमितले स्थितम् ॥ १८॥
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं रक्तं यद्देहसंस्थितम् ॥१९॥
तस्मिन्नेव त्वहं बुद्धि सदा कः कुरुते जनः ।
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्लाति संततम् ॥२०॥

पृथ्वी तल पर स्थित रोम-पुंज को स्थित देखकर, उसका स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोष-दर्शन के कारण मनुष्य स्वयं घृणा-बुद्धि प्रकट करता है, उसी प्रकार जो देह में स्थित रोम-पुञ्ज है, उसमें कौन मनुष्य सदैव अहंबुद्धि करता है? केवल मूढ़ ही उसे सदा अहं और मम बुद्धियों द्वारा ग्रहण करता है।

भूमि तल पर स्थित रक्त को देखकर, उसका स्पर्श और स्मरण करके उसमें दोष-दर्शन के कारण मनुष्य स्वयं उससे घृणा करता है वही आत्म-रूप से अग्राह्य देह में स्थित जो रक्त है उसमें कौन मनुष्य सदा आत्मबुद्धि करता है? मूढ़ पुरुष ही इसे लगातार अहं और मम बुद्धियों से ग्रहण करता है ॥१६-२०॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पूयं भूमितले स्थितम्।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥२१॥
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं पूयं यद्देहसंज्ञिते।
तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ॥२२॥
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम्।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा श्लेमराशिं भुविस्थितम् ॥२३॥
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात्।
तथैव पुरमध्यस्थे श्लेमराशौ विचक्षणः ॥२४॥
कः करोति त्वहंबुद्धिं मनुष्यः पण्डितोत्तमाः।
मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥२५॥

पृथ्वीतल पर स्थित पूय को देखकर तथा उसका स्पर्श और स्मरण करके उसमें दोषदर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना दोषानुभव प्रकट करता है वही देह संज्ञक इस पिण्ड में आत्मरूप से अग्राह्य जो पूय स्थित है, उसमें कौन मनुष्य सर्वदा अहंबुद्धि करता है? केवल मूढ़ ही इसे सतत् अहं और मम बुद्धियों द्वारा ग्रहण करता है।

पृथ्वीतल पर स्थित श्लेष्मराशि को देखकर तथा उसे स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोषदर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना दोषपूर्ण उद्गार प्रकट करता है, उसी देह के मध्य में स्थित श्लेष्मराशि में कौन प्रज्ञावान् पुरुष अहंबुद्धि करता है? केवल मूढ़ ही इसे निरन्तर अहं और मम बुद्धियों द्वारा ग्रहण करता है ॥२१-२५॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पित्तं भूमितलेस्थितम्।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥२६॥
तथा देहस्थिते पित्ते हेये वेदान्तपारगाः।
कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढएव करोति हि ॥२७॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा मूत्रं भूमितलेस्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥२८॥

तथा देहस्थिते मूत्रे हेये वेदान्तपारगाः ।
कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढ एव करोति हि ॥२९॥

पृथ्वीतल पर स्थित पित्त को देखकर तथा उसका स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोषदर्शन के कारण मनुष्य स्वयं घृणा प्रकट करता है। उस देह में स्थित पित्त में कौन अहंबुद्धि करता है? वह तो निश्चय ही मूढ ही करता है। पृथ्वी तल पर स्थित मत्र को देखकर तथा स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोषदर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना घृणित उद्गार प्रकट करता है, उस घृणित मूत्र के देह में स्थित होनेपर उसमें कौन अहंबद्धि करता है? केवल मूढ़ पुरुष ही अहंबुद्धि करता है ॥२६-२९॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पुरीषं भूतलेस्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥३०॥

तथा देहस्थिते हेये पुरीषे मुनिमुत्तमाः ।
कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढ एव करोति हि ॥३१॥

पृथ्वीतल पर स्थित पुरीष (मल) को देखकर तथा उसका स्पर्श एवं स्मरण करके उसमें दोषदर्शन के कारण मनुष्य स्वयं अपना उसके प्रति घृणित उद्गार प्रकट करता है, देह में स्थित उसी घृणित पुरीष में कौन अहं-बुद्धि करता है? केवल मूढ़ पुरुष ही उसमें आत्मबुद्धि करता है ॥३०-३१॥

चन्दनागरुकर्पूरप्रमुखा अपि शोभनाः ।
मलं भवन्ति यत्स्पर्शात्तत्कथं शोभनं वपुः ॥३२॥

भक्ष्यभोज्यादयः सर्वे पदार्थाश्चातिशोभनाः ।
मलं भवन्ति यत्स्पर्शात्तत्कथं शोभनं वपुः ॥३३॥

सुगन्धिशीतलंतोयं मूत्रं यत्संगमाद्भवेत् ।
तत्कथं शोभनं पिण्डं भवेद्ब्रूत द्विजोत्तमाः ॥३४॥

अतीव धवलाः शुद्धाः पट यत्संगमेन तु ।
भवन्ति मलिना वर्ष्म कथं तच्छोभनं भवेत् ॥३५॥

चन्दन, अगरु और कर्पूर आदि अतिशोभन वस्तुएँ भी जिसके स्पर्श से मलरूप धारण कर लेते हैं, तब भला, वह शरीर कैसे शोभनीय

है ? भक्ष्य, भोज्य आदि अत्यन्त सुन्दर सभी पदार्थ जिसके स्पर्श से मल का रूप धारण कर लेते हैं, भला वह शरीर कैसे शोभनीय है ? जिसके संग से सुगन्धित एवं शीतल जल मूत्ररूप हो जाता है, तब भला बतलाओ, वह पिण्ड कैसे शोभनीय है ?

अत्यन्त उज्ज्वल धवल पवित्र वस्त्र जिसके सम्पर्क से पसीने आदि के कारण मलिन हो जाते हैं, भला, वह शरीर कैसे शोभनीय है ।।३२-३५।।

रक्तजाः क्रिमयोऽनन्ता मांसजाः क्रिमयस्तथा ।
क्रिमिकोशमिदं वर्ष्म दुःखाय न सुखाय हि ।।३६।।

गर्भं तु कललावस्थं कृमिभिर्भक्षितं भवेत् ।
दुःखमेव तदा सौख्यं न किंचिदपि विद्यते ।।३७।।

बुद्बुदाकारतापन्नं भक्षयन्ति कलेवरम् ।
क्रिमयो दुःखमेव स्यात्तदा सौख्यं न किंचन ।।३८।।

जठराग्नौ भवेत्तप्तं गर्भं मातुः सदैव तु ।
दुःखमेव तदा तस्य सुखं किंचिन्न विद्यते ।।३९।।

इस शरीर में रक्त से उत्पन्न होने वाले तथा मांस से उत्पन्न होने वाले अनन्त कृमि हैं। कृमियों का कोशरूप यह शरीर सुख का नहीं अपितु दुःख का ही कारण है।

कललावस्था को प्राप्त हुए गर्भ को कृमिगण खाते हैं इसलिए वहाँ दुःख ही है, सुख किंचिन्मात्र भी नहीं है। बुद्बुद के आकार को प्राप्त हुए शरीर को कृमि खाते हैं अतः वहाँ दुःख ही है, सुख कुछ भी नहीं है।

माता का गर्भ उसकी जठराग्नि में सदैव तप्त होता रहता है, उस समय उस गर्भस्थ जीव को केवल दुःख ही मिलता है अतः सुख किंचिन्मात्र भी नहीं है ।।३६-३९।।

जठरेवायुसंचारघूर्णिते गर्भतां गतः ।
दुःखमेव तदा तस्य सुखं किंचिन्न विद्यते ।।४०।।

पुरीषमूत्रसंपूर्णे जठरे गर्भतां गतः ।
दुःखमेव सदा याति न किंचित्सुखमाप्नुयात् ।।४१।।

जरायुमध्ये निश्छिद्रे निमग्नो गर्भतां गतः ।
दुःखमेव सदा याति न किंचित्सुखमाप्नुयात् ।।४२।।

रौरवादिषु यद्दुःखं नरकेषु निरन्तरम् ।
गर्भे तत्कोटिगुणितं भवेद्दुःखं न संशयः ॥४३॥

वायु-संचार से गरजते हुए जठर में गर्भरूपता को प्राप्त जीव को दुःख ही दुःख प्राप्त होता है उस समय सुख किंचित् मात्र भी नहीं होता ।

मल-मूत्र से भरे हुए जठर में गर्भभाव को प्राप्त जीव सदा दुःख को ही प्राप्त होता है, किंचित्मात्र भी सुख को प्राप्त नहीं होता ।

निश्छिद्र जरायु के मध्य में निमग्न गर्भभाव को प्राप्त हुआ जीव सदा दुःख को ही प्राप्त होता है किंचिन्मात्र भी सुख का अनुभव नहीं कर पाता ।

जो दुःख रौरवादि नरकों में पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है वही दुःख कोटि गुणा होकर गर्भ में निरन्तर प्राप्त होता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं ॥४०-४३॥

गर्भे तु जायमानस्य दुःखं वक्तुं न शक्यते ।
अहो दुर्वास एवास्य गर्भवासो मुनीश्वराः ॥४४॥

बाल्येपीडा महातीव्रा गणपीडा महत्तरा ।
पिपीलिकादिपीडा च परिहर्तुं न शक्यते ॥४५॥

व्याधिपीडा महातीव्रा क्षुत्पीडा च दिनेदिने ।
पिपासा च महापीडा कथं याति सुखं नरः ॥४६॥

अक्षरग्रहणे पीडा पीडा च पठने तथा ।
शब्दजालस्य दुःखाब्धेर्न पारो दृश्यते मया ॥४७॥

गर्भ में उत्पन्न होने वाले जीव के दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता । दुःख है उसका गर्भ का वास दुर्वास (कठिनवास, दुर्गन्ध पूर्ण आदि) ही है । बाल्यकाल में महातीव्र पीड़ा होती है, ग्रहगणों की पीड़ा उससे भी तीव्र होती है और चींटी आदिकों की पीड़ा का तो वह परिहार ही नहीं कर सकता । उसे दिनों-दिन भख, प्यास, व्याधि आदि महापीड़ायें प्राप्त होती हैं । भला, मनुष्य उस समय सुख कैसे प्राप्त करे ? अक्षर-ग्रहण करने तथा पढ़ने में पीड़ा होती है । मैं शब्दजाल के दुःखमय समुद्र का कभी अन्त नहीं देखता ॥४४-४७॥

श्रौतस्मार्तसदाचारे महापीडा च दारुणा ।
निषिद्धपरिहारे च कथं याति सुखं नरः ॥४८॥

यौवने च महादुःखं स्त्रीसंसर्गे महत्तरम् ।
स्त्रीभोगात्मकता दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥४९॥

स्त्रीणामाराधने दुःखं तासां संरक्षणेऽपि च ।
तासां परिभवे दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥५०॥

वस्त्रसंपादने दुःखं भूषणानां तथैव च ।
रक्षणे च तथा तेषां दुःखमेव विचारतः ॥५१॥

गृहक्षेत्रधनादीनां दुःखं संपादने तथा ।
रक्षणे च तथा दुःखं तेषामेव विचारतः ॥५२॥

श्रौत-स्मार्तानुसार सदाचार के पालन में महाभयंकर पीड़ा होती है तब भला, निषिद्धों का परिहार करने में मनुष्य को सुख किस प्रकार प्राप्त हो ? यौवन में बहुत बड़ा दुःख है। स्त्रियों के संसर्ग में उससे भी अधिक। स्त्री का भोग भी दुःखपूर्ण है। इस प्रकार विचार करने पर दुःख ही दुःख है। स्त्रियों के आराधन में दुःख है। उनके संरक्षण तथा उनकी हानि में दुःख है। इस प्रकार विचार से दुःख ही दुःख है। उनके लिए वस्त्राभूषण आदि की पूर्ति करने में दुःख है साथ ही उनकी रक्षा करने में भी दुःख है। इस तरह विचार करने से दुःख ही दुःख है। गृह, क्षेत्र, धन आदि का सम्पादन करने में तथा उनकी रक्षा करने में दुःख है। इस प्रकार विचार से उनमें दुःख ही दुःख है ॥४८-५२॥

पुत्रमित्रादिजन्तूनां दुःखे दुःखं तथैव च ।
जन्मनाशभयाद्दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥५३॥

राज्यभारे महद्दुःखममात्यत्वे महत्तरम् ।
दासभावे महद्दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥५४॥

वेदमार्गेतरेमार्गे निष्ठा दुखं तथैव च ।
मार्गोत्कर्षपरिज्ञाने दुःखमेव विचारतः ॥५५॥

स्वदारिद्र्ये महद्दुःखं परस्त्रीदर्शने तथा ।
परैः साम्ये महद्दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥५६॥

पुत्र, मित्रादि प्राणियों के दुःख में दुःख है, उसी प्रकार जन्म और मृत्यु के भय से दुःख होता है। इस प्रकार विचार से सब दुःख ही दुःख है।

राज्यभार में बड़ा दुःख है, अमात्यपद में उससे भी अधिक। दास होने में महान् दुःख है। इस प्रकार विचार से सब दुःख ही दुःख है।

वेदमार्ग से भिन्न मार्ग में निष्ठा का होना दुःख है, उसी प्रकार वेदमार्ग की उत्कृष्टता का ज्ञान होने में भी दुःख है। इस प्रकार विचार से केवल दुःख ही है। स्व दारिद्र्यावस्था में महान् दुःख है, उसी प्रकार पर-स्त्रीदर्शन में भी दुःख है। अन्यों की समता में महान् दुःख है। इस प्रकार विचार से दुःख ही दुःख है ॥५३-५६॥

वायुपीडाऽग्निपीडा च तोयपीडा तथैव च।
सर्पादिदंशनेपीडा दुःखमेव विचारतः।५७॥

भूतप्रेतपिशानां यक्षादीनां तथैव च।
पदप्राप्तौ महादुःखं दुःखमेव विचारतः ॥५८॥

इन्द्रलोके महादुःखं प्रजापत्ये महत्तरम्।
विष्णुलोके च रौद्रे च दुःखमेव विचारतः ॥५९॥

बहुनोक्तेन किं देहेऽहंममज्ञानवान्यदि।
दुःखमेव सदा याति सुखं याति न किंचन ॥६०॥

वायु से, अग्नि से, जल से तथा उसी प्रकार सर्प आदिकों के काट लेने पर भी दुःख होता है। इस प्रकार विचार से दुःख ही दुःख है।

भूतों, प्रेतों, पिशाचों तथा यक्ष आदिकों का पद प्राप्त करने में बड़ा ही दुःख है इस तरह विचार से केवल दुःख ही है।

इन्द्र लोक में महान् दुःख है, ब्रह्मा के लोक में उससे भी महान् है। विष्णु और रुद्र के लोकों में भी दुःख ही है। इस प्रकार विचार से सर्वत्र दुःख ही दुःख है। अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? बस, इतना ही समझ लो कि यदि मनुष्य देह में अहं-मम यानी मैं और मेरा— इस अभिमान से युक्त है तो वह सदा-सर्वदा सर्वत्र केवल दुःख को ही प्राप्त करता है। लेश मात्र भी सुख का कभी अनुभव नहीं कर पाता ॥ ५७—६० ॥

आत्मनस्तु स्वरूपं हि सुखं नान्यद्विचारतः।
तदज्ञानबलेनैव सुखप्रेप्सा नृणां बुधाः ॥६१॥

अज्ञानवैभवादेव दुःखमाप्नोति मानवः।
तदज्ञाननिवृत्तौ तु प्राप्नोति सुखमुत्तमम् ॥६२॥

अज्ञानस्य निवृत्तिस्तु ज्ञानादेव न कर्मणा।
ज्ञानं नाम परं ब्रह्म ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् ॥६३॥

तज्ज्ञान च विरक्तस्य जायते नेतरस्य हि ।
मुख्याधिकारिणः स्तुत्यमाचार्यस्य प्रसादतः ।।६४।।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः ।
तदा मर्त्योऽमृतोऽत्रैव परं ब्रह्म समश्नुते ।।६५।।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर स्वयंप्रकाश आत्मा स्वयं ही सुख-स्वरूप है, इससे भिन्न प्रतीतिमात्र जागतिक विषयों में सुख नहीं है। केवल अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य विषयों में सुख का अभिलाषी होता है। इस प्रकार अज्ञान के प्रभाव से ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसे उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है, किसी प्रकार के भी कर्म से नहीं। ज्ञान परब्रह्म परमात्मा का नाम है। वेदान्त वाक्य के श्रवण और मनन से जो ज्ञान होता है, वह केवल विरक्त पुरुष को ही होता है, दूसरे को नहीं। श्रेष्ठ अधिकारी को आचार्य की कृपा से भी ज्ञान हो जाता है, यह सत्य है। मनुष्य के हृदय में जो जागतिक विषयों की कामनाएँ हैं, वे सब की सब जब छूट जाती हैं, तब वह जीवन्मुक्त होकर इसी जीवन में आत्मस्वरूप पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ।। ६१–६५ ।।

वैराग्यहीनस्य न सत्यवेदनं
न मुक्तिसिद्धिर्न बन्धनच्छिदा ।
न धर्मसिद्धिश्च ततः पुरातनै-
रिदं विशिष्टं कथितं कृपा बलात् ।।६६।।

वैराग्य शून्य व्यक्ति को सत्यस्वरूप ब्रह्म का स्वात्मरूपेण अनुभव नहीं होता, अपरोक्षानुभूति के अभाव में मुक्ति भी सिद्ध नहीं होती और न तो अज्ञानजनित संसार-बंधन का ही उच्छेद होता तथा न धर्म की भी सिद्धि होती। इसीलिए लोकहितार्थ कृपाधिक्य से ज्ञानवृद्धों ने इसका विशेष रूप से वर्णन किया है ।। ६६ ।।

आयु की क्षणभङ्गुरता

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् ।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ॥१॥
विषयाशी विषासङ्गपरिजर्जर चेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥२॥

जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटक रहे जलविन्दु के समान अस्थिर है, वह उन्मत्त के समान असमय में ही इस कुत्सित शरीर को छोड़कर चली जाती है। जिनका चित्त विषयरूपी सर्पों के संसर्ग से सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आत्मविवेक का अभाव है, उन लोगों की आयु उन्हें क्लेश देने वाली ही है ॥ १–२ ॥

ये तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे ।
भावाभावसमाश्वासमायुस्तेषां सुखायते ॥३॥
युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रथनं च तरङ्गाणामास्था नाऽऽयुषि युज्यते ॥४॥
पेलवं शरदीवाऽभ्रमस्नेह इव दीपकः ।
तरङ्गक इवाऽऽलोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥५॥
तरङ्गं प्रतिबिम्बेन्दुं तडितपुञ्जं नभोम्बुजम् ।
ग्रहीतुमास्थां बध्नामि न त्वायुषि हतस्थितौ ॥६॥

जो लोग ज्ञातव्य वस्तु परब्रह्म परमात्मा को स्वात्मरूपेण जान चुके हैं उस अपरिच्छिन्न ब्रह्म पद में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे महापुरुषों की आयु लाभ-हानि एवं सुख-दुःख में चित्त को समान भाव से सुस्थिर रखने वाली होने के कारण सुखदायिनी है।

वायु का घेरा हो सकता है, आकाश के टुकड़े-टुकड़े किए जा सकते हैं और लहरें एक-दूसरे में माला की नाईं गूँथी जा सकती हैं, परन्तु आयु में विश्वास नहीं किया जा सकता।

शरत् ऋतु के बादल के समान स्वल्प, तेलरहित दीपक और तरंग के समान चंचल आयु गई हुई ही देखी जाती है।

तरंग को, जल आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को, विद्युत्पुञ्ज को और आकाश-कमल को हाथ से पकड़ने का मुझे विश्वास है, परन्तु अस्थिर आयु में मेरा विश्वास नहीं है ॥ ३-६ ॥

प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥७॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥८॥

जातास्त एव जागति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥९॥

जिससे अवश्य प्राप्तव्य (परमात्मज्ञान) की प्राप्ति की जाती है, जिससे पीछे शोक प्राप्त नहीं होता और जो परम निर्वाणरूप सुख का स्थान है, वही उत्तम जीवन कहा गया है।

यों तो वृक्ष भी जीते हैं और मृग, पक्षी भी जीते हैं, परन्तु वास्तव में उसी पुरुष का जीवन सफल है जिसका मन मनन के द्वारा जीवित न रहे यानी अमनी भाव को प्राप्त हो जाय।

जगत् में उनका ही उत्पन्न होना सफल है और वे ही प्रशंसनीय जीवन वाले हैं, जो पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेते, शेष प्राणी तो बूढ़े गदहों के समान हैं। अर्थात् गदहे के जीवन के समान उनका जीवन गर्हित है ॥
॥ ७—९ ॥

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनोभारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१०॥

रूपमायुर्मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथेहितम् ।
भारोभारधरस्येव सर्वं दुःखाय दुर्धियः ॥११॥

प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम्।
आखुनेव जरच्छ्वभ्रं कालेन विनिहन्यते ॥१२॥

अपवित्र शरीर में आत्मबुद्धि करने वाले अविवेकी मनुष्य के लिए शास्त्रों का अध्ययन भाररूप है। विषयानुरागी पुरुष के लिए तत्त्वज्ञान भार है। अशान्त पुरुष के लिए मन भार है और अनात्मवान् के लिए

शरीर भार है। दबुद्धि पुरुष के रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा—ये सब भारवाहक के भार के समान दुःखदायक हैं।

जैसे चूहा प्रतिदिन आलस्य का त्याग कर निरंतर धीरे-धीरे पुराने टीले को खोद कर नष्ट कर देता है वैसे ही काल प्रतिदिन आलस्य का त्याग कर धीरे-धीरे आयु को क्षीण कर रहा है ॥ १०—१२ ॥

शरीरविलविश्रान्तैर्विषदाहप्रदायिभिः ।
रोगैरापीयते रौद्रैर्व्यालैरिव वनानिलः ॥१३॥

नूनं निगरणायाऽऽशु घनगर्द्धमनारतम् ।
आखुर्मार्जारकेणेव मरणेनाऽवलोक्यते ॥१४॥

इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्यहो ॥१५॥

आयुषः खण्डखण्डाश्च निपतन्तः पुनः पुनः ।
न कश्चिद्वेत्ति कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥१६॥

जैसे विल में विश्राम करने वाले तथा विष के द्वारा संताप देने वाले भयंकर सर्प वन की वायु का पान करते हैं उसी प्रकार शरीर रूपी विल में रहकर विषतुल्य दाह पैदा करने वाले भीषण रोग रूपी सर्प जीव की आयु का पान करते हैं। जैसे बिल्ली शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषा पूर्वक चूहे को देखती है, वैसे ही मृत्यु शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक आयु की ताक में बैठी रहती है।

आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है—इस प्रकार रात-दिन संकल्प-विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गई और अब मेरी मृत्यु आ गई। आयु के टुकड़े-टुकड़े क्षण-क्षण में बार-बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी काल के द्वारा विनष्ट किए गए आयु के दिनों को जान नहीं पाता ॥ १३—१६ ॥





दारैषणा-दोष





निवृत्ति-प्रकरण

चूँकि देहाभिमान के कारण ही संसार-बन्धन की गाँठ को सुदृढ़ करने वाले, दारैषणा, वित्तैषणा, एवं लोकैषणा रूप एषणात्रय की प्रवृत्ति होती है; क्योंकि एषणात्रयरूपी सुदृढ़ स्थूल स्तम्भों पर ही यह विशाल संसाररूपी अट्टालिका खड़ी है। अतः जो प्रबल विवेक-वैराग्यसम्पन्न वीर केसरी इन एषणात्रयरूप सुदृढ़ खम्भों को ध्वस्त करने में पूर्ण समर्थ है, उसी का यह मायामय, स्वप्नतुल्य संसार स्वप्नोत्थित पुरुष की भाँति सर्वथा बाधित हो जाता है। इसलिए अब तक पूर्व के पाँच अध्यायों में अज्ञानजनित अनात्म-तादाम्यसम्बन्ध की निवृत्ति एवं वैराग्य की प्राप्ति के लिए शरीर के स्वरूप एवं दोषों का विशद वर्णन किया गया। इसके अनन्तर एषणात्रय के अन्तर्गत दारैषणा की निवृत्ति के लिए, स्त्रियों के विभिन्न प्रकार, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव, उनके स्वरूप एवं नरकपात के कारणभूत विभिन्न स्वाभाविक दोषों का विशद निरूपण आगे के अध्यायों में किया जा रहा है।

"विघ्नराज्ञी तु वै नारी लोकेषु परिगीयते"

'इस लोक में नारी समस्त विघ्नों की रानी कही गई है' भगवान् यमराज के इस वचनानुसार, नारी पुरुषों के समस्त श्रेयों का विनाश करती हुई उसके सर्व सद्गुणों पर पानी फेरने वाली होती है। यहाँ तक कि यह अपना सेवन करने वाले का इन्द्रियबल, मनोबल, बुद्धिबल, शरीरबल, विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षुत्व, समता, शान्ति, क्षमा, दया, करुणा, मैत्री आदि दैवी गुणों एवं सत्कर्म, स्वाध्याय, जप, तप, त्याग, योग, भक्ति, ज्ञान, समाधि एवं मोक्ष तक की भी नाशिका है। अहिल्या देवी आदि के कथनानुसार, इनकी सृष्टि भी केवल कामी पुरुषों को मोहित करने के लिए ही की गई है। चूँकि स्त्री कामदेव का निवास स्थान है इसलिए कामदेवरूप बहेलिया सर्वदा अपने गृहभूत स्त्री शरीर पर निवास करता हुआ, वहीं से पुरुषरूप पक्षियों पर, कामबाणों का निशाना बना कर, उनका शिकार करता हुआ, उन्हें निरन्तर प्रेमाग्नि में भूनता रहता है। काष्ठ एवं लोहे की दृढ़ बेड़ियों से जकड़ा हुआ पुरुष तो संभवतः सुगमतया छूट सकता है परन्तु स्त्रीरूप मोहात्मक बेड़ी से आबद्ध पुरुष कदाचित ही छूट पाता है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने यत्र-तत्र पुराणादि धर्मशास्त्रों में इनके जन्मजात स्वाभाविक दोषों को दर्शाकर कल्याणकामी मुमुक्षुओं को नारीरूप सर्प के

दंशनजनित दोषों से बचने के लिए इनके रूप के स्मरण एवं दर्शन का भी निषेध किया है। क्योंकि यह सर्वविश्वविमोहिनी विष्णु की प्रत्यक्ष माया रूप नारी अपने स्वभाववश आत्माराम महापुरुषों पर भी अपना हाथ फेरने पर उद्यत रहती है। इसीलिए इसकी भृकुटिविलासमात्र से बड़े-बड़े सुप्रतिष्ठित सुविख्यात वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एवं अनुभववृद्ध महापुरुष भी अनायास ही विमुग्ध हुए हैं। यह प्रमदा मदिरा से भी अधिक महामादक है जो अपने संकल्प एवं दर्शन आदि से ही पुरुषों को कामोन्मत्त कर परम्परागत शिष्टाचार को भुलाकर सर्वथा निर्लज्ज बना देती है। तथा अपने संग आदि के द्वारा बल वीर्य का शोषण करती हुई विक्षिप्त अशान्तचित्त करती हुई धोखापूर्वक अनायास ही घोर नरकों में ढकेल देती है फिर भी मनुष्य इस पर इतना मुग्ध है कि अपना सर्वनाश हो जाने पर भी विवेकान्ध होने के कारण, उसके मल-मूत्र के कुण्ड में पुनः पुनः रमण करने के लिए व्याकुल हो उठता है। यही नहीं, इस संसार में समस्त देवता, दानव एवं मानव इस प्रत्यक्ष हड्डी, मांस रक्त, मल, मूत्र की पुतली स्त्री को देखकर कामान्ध हो, अपने धन एवं प्राणों की भी आहुति देकर नरकपात के लिए उसमें रमण करते हैं। धिक्कार है! बारम्बार धिक्कार है!! कि मनुष्य जिस योनि से बाहर निकलता है उसी में मतवाला होकर पुनः पुनः रमण करता है और जिस स्तन को पीया है, उसी का पुनः निर्लज्ज होकर सुखास्वादन के लिए बारम्बार मर्दन करता है। यह इस जगत् की विडम्बना नहीं, तो और क्या है? फिर भी, इस अत्यन्त घृणित कृत्य से उसे वैराग्य नहीं होता। इससे बढ़कर भला, दुस्साहस और क्या हो सकता है? आगे के सात अध्यायों में स्त्रीरूप कारागार से सर्वथा मुक्त होने के लिए अत्यन्त ही आकर्षक, मार्मिक, हृदयस्पर्शी शास्त्रीय चित्रण किया गया है, जिसको पढ़कर ऐसा कौन पुरुष है, जो पुनः उसे रसायन की भाँति समझकर विष्ठा एवं मूत्र के भाजन, नरकरूप नारी के मांसखण्डभूत ओठों की मादक मदिरा का सेवन एवं आलिंगन करता हुआ, दुःसह घोर नारकीय कठोर यातनाओं का आलिंगन करना चाहेगा? क्योंकि मायामयी नारी का संग चौरासी लक्ष योनियों को प्रदान करने वाला है, लेकिन मायाच्छन्न, विवेकदृष्टि शून्य, कामांध, कामी लम्पट लोग अपनी दुर्गति की कुछ भी परवाह न कर पतिंगे की भाँति उसके आपातरमणीय रूप पर विमोहित हो, अपने सर्वनाश में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। धिक्कार है इस घृणित श्वानवत् लम्पटता को; क्योंकि वह स्त्रैण पुरुष गधे

की भाँति स्त्री की दुलत्ती सहता हुआ भी समस्त श्रेयोविनाशिनी माया की पिटारीभूत, घृणित हड्डी, मांस, रक्त की पुतलीरूप नारी शरीर के आलिंगनजनित क्षणिक विनश्वर, मोहक, सुखास्वादन से विराम नहीं लेता तथा मोहान्ध होने के कारण यह नहीं जानता कि जब दुष्कर्मों के फल-स्वरूप घोर नरकों में यमभटों के नारकीय दण्डप्रहार होंगे, तो उस समय उन कामिनियों के परस्परसंलग्न स्थूलघनस्तनमण्डलरूप मांसखण्ड एवं मलमूत्र से पूर्ण घृणित योनिकुण्ड आदि अंग तथा उनके मोहक हाव-भाव आदि विभिन्न चेष्टाएँ कभी भी रक्षा नहीं कर सकतीं। आश्चर्य है कि यहाँ पर तुलसी, वृन्दा, अहिल्या, मदालसा, शची, उमा, दुर्गा, पञ्चचूडा, मोहिनी, तिलोत्तमा एवं उर्वशी आदि धन्य माताओं ने निःसंकोच कल्याणा कांक्षी परमार्थमार्गावलम्बी भावुक जिज्ञासु मुमुक्षुओं को विकारभूता मायामयी कामिनियों के शारीरिक आपातरमणीयता से विरत होने के लिए उनके वास्तविक स्वाभाविक दोषों का इतना सुस्पष्ट वर्णन किया है कि उनके निष्पक्ष सुस्पष्टवादितारूप गुण पर बुद्धि बलात् मुग्ध हो जाती है। ये मातायें वास्तविक आत्यन्तिक सुख-शान्ति की प्राप्ति के हेतु, विघ्नभूता नारियों के संसर्गजनित दोषों से बचने के लिए वैराग्योत्पादक उपदेश देने के कारण मुमुक्षुओं के लिए सदा सर्वदा ही वन्दनीय एवं गुरुस्वरूपा हैं।

हाँ! यहाँ एक बात विशेषरूप से ध्यान रखनी चाहिए कि धर्मशास्त्रों में जो स्त्रियों के स्वाभाविक दोषों का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य केवल उनके दोषों के प्रतिपादन में नहीं है, अपितु दोषदर्शन के द्वारा इनकी मिथ्या मोहक आसक्ति से मुक्त होकर आत्यन्तिक सुख-शान्तिस्वरूप स्वरूपभूत परमात्मा की ओर उन्मुख होने में है; क्योंकि यह नियम है कि जहाँ पर मायिक विषयों में गुणों के अध्यारोप से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है वहीं पर उसके विपरीत उन विषयों में दोषों के दर्शन से अनासक्ति यानी वैराग्य उत्पन्न होता है जो स्वरूपभूत परमात्मा की प्राप्ति का निकट-तम साधन है। इसलिए पूर्व के अध्यायों में जिसके कारण स्त्री-पुत्र आदि प्रिय होते हैं उसी शरीर के दोषों का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। जब पुरुष को परमात्मप्राप्ति की उत्कट अभिलाषा जाग उठती है तो वह मायिक संसारबन्धन के कारणभूत तथा बहिर्मुख बनानेवाले, कामाग्नि, लोभाग्नि, मोहाग्नि एवं राग-द्वेषादि रूप विषम अग्नियों में नित्य-निरन्तर भस्मीभूत करने वाले स्त्री, पुत्र, धन आदि अनित्य सांसारिक विषयभोगों में अनित्यत्व, बन्धकत्व, जन्म-मृत्युप्रदायकत्व आदि दोषों के दर्शन के

द्वारा उनसे उपरति को प्राप्त हो. अपनी अन्तर्मुख, राग-द्वेषशून्य, शुद्ध, निर्विकार बुद्धि से सर्वात्मदर्शन के द्वारा सर्वत्र स्वरूपभूत ब्रह्म का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है। उसी प्रकार जब किसी स्त्री को भी अनन्तजन्मों के पुण्यपुञ्ज के फलस्वरूप समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, 'पतिं पतीनाम्' परमपति परमात्मा की प्राप्ति की प्रबल दीवानगी उत्पन्न हो जाती है तो वह भी अपने लोक, कुल, कानि एवं धर्ममर्यादा का अतिक्रमण कर आसक्ति के प्रधान हेतुभूत इन मायामय, स्वप्नतुल्य, असत्, अनित्य पति, पुत्र एवं धन आदि में विनश्वरत्व एवं बन्धकत्व आदि दोषों के दर्शन के द्वारा इनसे पूर्णतया विरत हो, साधनसहित समस्त विनश्वर जागतिक सुखों का परित्याग कर, महाविदुषी सुलभा, मैत्रेयी, अवधूतनी गार्गी एवं मीरा आदि की भाँति प्रबल विवेक-वैराग्य सम्पन्न हो, अपने विशुद्ध अन्तःकरण में उस स्वरूपभूत ब्रह्म का स्वात्मरूपेण साक्षात्कार कर देहातीत जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर, बारम्बार आवागमन रूप संसार-चक्र से मुक्त हो जाती है। इसलिए जैसे पुरुषों को स्त्री-जगत् से वैराग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों को पुरुष-जगत् से वैराग्य होता है, क्योंकि दोनों अज्ञान के कारण ही एक दूसरे के लिए मोह के प्रधान हेतुभूत होते हैं और इस अज्ञानजनित पारस्परिक मोहासक्ति के कारण दोनों का ही जन्म-मरण रूप संसार अविच्छिन्नरूप से निरन्तर चलता रहता है, कभी निवृत्त नहीं हो पाता। इस प्रकार जो अत्यन्त ही बहिर्मुख, विषयी, शिश्नोदरपरायण, केवल हड्डी-मांस के उपासक, मायामुग्ध, कामी, अभागे स्त्री-पुरुष हैं, वे दोनों ही आपस में एक दूसरे के दर्शन एवं संग आदि से सुख की आशा करते हैं, परन्तु पुण्यात्मा सौभाग्यशाली स्त्री और पुरुष विवेक-वैराग्य सम्पन्न होकर अपने तुच्छ घृणित शरीरसहित समस्त जगत् में दोषदर्शन करते हुए, इन्द्रियों के तुच्छ विषय-सुखों से पूर्णतः उपरत, जितेन्द्रिय एवं संयतचित्त हो, अपनी अन्तर्मुख सूक्ष्मवृत्ति से अपने विशुद्धान्तःकरण में नित्यसुख-शान्ति के भण्डार स्वात्मसुख का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाते हैं।



वैराग्यार्थ स्त्रियों के भेद
एवं
उनके विभिन्न स्वभाव का वर्णन

निर्मितं द्विविधं धात्रा स्त्रीरूपंसर्वमोहनम् ।
कृत्यारूपं वास्तवं च प्रशस्यं चाप्रशंसितम् ॥१॥
लक्ष्मी सरस्वती दुर्गा सावित्री राधिकाधिका ।
सृष्टिसूत्रस्वरूपा च आद्या सृष्टिर्विनिर्मिता ॥२॥
एतासामंशरूपं च स्त्रीरूपं वास्तवं स्मृतम् ।
तत्प्रशस्यं यशोरूपं सर्वमङ्गलकारकम् ॥३॥

विधाता ने दो प्रकार की स्त्रियों का निर्माण किया—वास्तवरूपा और दूसरी कृत्यारूपा। ये दोनों ही समानरूप से मनोहर होती हैं, पर एक को प्रशस्त कहते हैं और दूसरी को अप्रशस्त। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सावित्री और राधिका—ये पाँच सर्वश्रेष्ठ देवियाँ सृष्टिसूत्र हैं—सृष्टि की मूल कारण हैं। ईश्वर के द्वारा इनकी सर्व प्रथम सृष्टि हुई है। इन आद्या देवियों के अंश से उत्पन्न स्त्रियों का जो रूप है वह 'वास्तवरूप' है, वह रूप प्रशंसनीय है, यशोरूप है तथा समस्त मङ्गलों का कारण है ॥ १-३ ॥

शतरूपादेवहूतिस्वधास्वाहा च दक्षिणा ।
छायावती रोहिणी च वरुणानी शची तथा ॥४॥
कुबेरवायुपत्नी साप्यदितिश्च दितिस्तथा ।
लोपामुद्राऽनसूया च कैटभी तुलसी तथा ॥५॥
अहल्याऽरुन्धती मेना तारा मन्दोदरी तथा ।
दमयन्ती वेदवती गङ्गा च यमुना तथा ॥६॥
पुष्टिस्तुष्टिः स्मृतिर्मेधा कालिका च वसुंधरा ।
षष्ठी मङ्गलचण्डी च मूर्तिश्च धर्मकामिनी ॥७॥

शतरूपा देवहूति, स्वधा, स्वाहा, दक्षिणा, छायावती, रोहिणी, वरुणानी इन्द्रपत्नी शची, कुबेरपत्नी, वायुपत्नी, अदिति, दिति, लोपामुद्रा, अनसूया,

कैटभी, तुलसी, अहल्या, अरुन्धती, मेना, तारा, मन्दोदरी, दमयंती, वेदवती, गङ्गा, यमुना, पुष्टि, तुष्टि, स्मृति, मेधा, कालिका, वसुन्धरा, षष्ठी, मङ्गल-चण्डी तथा धर्मपत्नी मूर्ति ॥ ४-७ ॥

स्वस्ति श्रद्धा च शान्तिश्च कान्तिः क्षान्तिस्तथापरा ।
निद्रा तन्द्रा क्षुत्पिपासा सन्ध्या रात्रिर्दिनानि च ॥८॥
सम्पत्तिर्धृति कीर्तिश्च क्रिया शोभा प्रभा शिवा ।
यत्स्त्रीरूपं च सम्भूतमुत्तमं च युगे युगे ॥९॥
कृत्या स्वरूपं तद्यत्तु स्ववेंश्यादिकमेव च ।
तदप्रशंस्यं विश्वेषु पुंश्चलीरूपमेव च ॥१०॥
सत्त्वप्रधानं यद्रूपं तच्च शुद्धं स्वभावतः ।
तदुत्तमञ्च विश्वेषु साध्वीरूपं प्रशंसितम् ॥११॥
तद्वास्तवं च विज्ञेयं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१२॥

स्वस्ति, श्रद्धा, शान्ति, कान्ति, क्षान्ति, तथा अन्य निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, पिपासा, सन्ध्या, रात्रि, दिन, सम्पत्ति, धृति, कीर्ति, क्रिया, शोभा, प्रभा और शिवा—यह जो स्त्रियों का रूप उत्पन्न हुआ है वह प्रत्येक युग में उत्तम कहा गया है। परन्तु स्वर्ग की वेश्याओं आदि का जो स्वरूप है वह 'कृत्यास्वरूप' है। वह अप्रशस्त यानी अप्रशंसनीय है तथा विश्व में पुंश्चलीरूप से विख्यात हैं। स्त्रियों का जो रूप सत्त्वप्रधान है वह स्वभाव से ही शुद्ध है और उत्तम है तथा विश्व में प्रशस्त यानी प्रशंसित, साध्वी-रूप है। मनीषी लोग ऐसा कहते हैं कि उसी को 'वास्तवरूप' समझना चाहिए ॥ ८-१२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण

सर्वाजातिरेकविधा चादौ सृष्टा च ब्रह्मणा ।
ताः सर्वाः प्रकृतेरंशा पवित्राः पण्डिताधिकाः ॥१३॥
केदारकन्याशापेन स हि धर्मः क्षयं गतः ।
तदा कोपेन धात्रा च कृत्यास्त्री च विनिर्मिता ॥१४॥
कृत्यास्त्री त्रिविधा जातिर्ब्रह्मणा निर्मिता पुरा ।
उत्तमा प्रथमा सा च मध्यमा चाधमा व्रज ॥१५॥

सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने एक ही प्रकार से सारी स्त्री जातियों की रचना की थी। वे सभी उत्तम बुद्धि वाली पवित्र नारियाँ प्रकृति के अंश से उत्पन्न

हुई थीं। जब केदारकन्या श्री वृन्दा के शाप से 'धर्म' नष्ट हो गया, तब ब्रह्मा ने कुपित होकर पुनः 'कृत्या' स्त्री जाति का निर्माण किया और उसे तीन भागों में विभक्त कर दिया। उनमें पहली उत्तमा, दूसरी मध्यमा और तीसरी अधमा कही जाती है ।। १३-१५ ।।

उत्तमापतिभक्ता सा किंचिद्धर्मसमन्विता।
प्राणान्तेपि न कुरुते तं जारमयशस्करम् ।।१६।।

पूजयेत्सा यथा कान्तं तथा देवद्विजातिथीन्।
व्रतानि चोपवासांश्च कुरुते सर्वपूजनम् ।।१७।।

उत्तमा स्त्री किंचित् धर्मपरायण होती है और पति की भक्ता होती है। वह प्राणों पर आ बीतने पर भी अपकीर्ति पैदा करने वाले जार पुरुष को नहीं स्वीकार करती। वह जैसे पति की पूजा करती है वैसे ही देवताओं की, ब्राह्मणों एवं अतिथि-अभ्यागतों की भी पूजा करती है और व्रत, उपवास आदि श्रेष्ठ कर्मों को भी बड़ी ही श्रद्धा के साथ करती है ।। १६-१७ ।।

गुरुणा रक्षिता यत्नाज्जारं च न भजेद्भयात्।
सा कृत्रिमा मध्यमा च यथा किंचित्पतिं भजेत् ।।१८।।

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति-नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन हे नन्द तासां च सतीत्वमुपजायते।१९।।

जो गुरुजनों द्वारा यत्नपूर्वक रक्षित होने कारण भयवश जार पुरुष के पास नहीं जाती और पति को कुछ-कुछ मानती है, वह कृत्रिमा नारी 'मध्यमा' कही जाती है। ऐसी नारियों का सतीत्व जहाँ स्थानाभाव है, समय नहीं मिलता है और प्रार्थना करने वाला जार पुरुष नहीं है, वहीं स्थित रह सकता है ।। १८-१९ ।।

अधमा परमादुष्टात्यंताऽसद्वंशजा तथा।
अधर्मशीला दुःशीला दुर्मुखा कलहान्विता ।।२०।।

पतिं भर्त्संयते नित्यं जारं च सेवते सदा।
दुःखं ददाति कान्ताय विषतुल्यं च पश्यति ।।२१।।

जारद्वारमुपायेन हन्ति कान्तं मनोहरम्।
धर्मिष्ठं च वरिष्ठं च गरिष्ठं च महीतले ।।२२।।

अत्यन्त नीचकुल में उत्पन्न हुई अधमा स्त्री परम दुष्टा, अधर्मपरायणा,

दुष्ट स्वभाववाली, कटुवादिनी और झगड़ालू होती है। वह सदा उपपति की सेवा करती है और अपने पति की नित्य भर्त्सना करती रहती है उसे दुःख देती है और विषतुल्य समझती है। उसका पति भले ही भूतल पर रूपवान्, धर्मात्मा, प्रशंसनीय और महापुरुष हो, परन्तु फिर भी वह उपाय करके उपपति द्वारा उसे मरवा डालती है ॥ २०-२२ ॥

कामदेवसमं चापि जारं पश्यति कामतः।
शुभदृष्ट्या कटाक्षेण शश्वत्पापीयसी मुदा ॥२३॥
सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा युवानं रतिशूकरम्।
योनिः क्लिद्यति नारीणां कामिनीनां निरन्तरम् ।२४।
ददाति भर्त्रे नाहारं विषोक्ति वक्ति संततम्।
अधर्मं चिन्तयेच्छश्वज्जारं च परमं मुदा ॥२५॥

निरन्तर पाप करने वाली वह स्त्री काम के वशीभूत होने के कारण प्रसन्न होकर कटाक्षपूर्वक सुन्दर दृष्टि से जार पुरुष को कामदेव के समान देखती है। रति में शूकर के समान गुणवाले सुन्दर वेशधारी युवा पुरुष को देखकर कामिनी स्त्रियों की योनि निरन्तर आर्द्र रहती है। यह स्त्री अपने पति को आहार नहीं देती तथा निरन्तर विषभरे बचन बोलती रहती है और पापरूप जार पुरुष का निरन्तर परम प्रेम से चिन्तन करती रहती है ॥
॥ २३-२५ ॥

गुरुभिर्भर्त्सिता सा च रक्षिता च शतेन च।
तथापि जारं कुरुते नापि साध्या नृपैरपि ॥२६॥
नास्ति तस्याः प्रियं किंचित्सर्वं कायवशेन च।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥२७॥
विद्युदाभा जलेरेखा तस्याः प्रीतिस्तथैव च।
अधर्मयुक्ता सततं कपटं वक्ति निश्चितम् ॥२८॥
व्रते तपसि धर्मे च न मनो गृहकर्मणि।
न गुरौ न च देवेषु जारे स्निग्धं च चञ्चलम् ॥२९॥
स्त्रीजाति त्रिविधानां च कथा च कथिता मया ॥३०॥

गुरुजन भर्त्सना करें, सैकड़ों लोग रक्षा किया करें, फिर भी वह जार पुरुष का सेवन कर ही लेती है। राजा लोगों के वश में भी वह नहीं हो

सकती। गाएँ जिस प्रकार जंगल में नई-नई घासें चाहती हैं, उसी प्रकार दुष्टा स्त्रियाँ नए-नए पुरुषों को चाहती हैं। उनके लिए कुछ भी प्रिय नहीं है, सब स्वार्थ के कारण ही प्रिय हैं। उसकी प्रीति विजली की चमक और जल पर खींची हुई रेखा के समान क्षणभंगुर होती है। वह सदा अधर्म में तत्पर रहकर निश्चितरूप से कपटपूर्ण बचन ही बोलती है। उसका मन न तो व्रत, तपस्या, धर्म और गृहकार्य में ही लगता है और न गुरु तथा देवताओं की ओर ही झुकता है। केवल उसका मन जार पुरुष के ही प्रति स्निग्ध और चंचल बना रहता है। यह तीन प्रकार की स्त्री-जाति का वर्णन किया गया ॥ २६-२६ ॥

भगवान् ब्रह्मा | वरं हुतवहेवासः सर्पवक्त्रे च कण्टके।
एतेभ्यो दुःखदोवासः स्त्रियादुर्मुखयासह ॥३१॥

आग में निवास करना उत्तम है, साँप के मुख में तथा काँटे पर भी रह लेना अच्छा है परन्तु मुँह से दुर्बचन निकालने वाली स्त्री के साथ निवास करना कदापि अच्छा नहीं है। वह इन अग्नि, सर्प और कण्टक से भी अधिक दुःखदायिनी होती है ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण | या स्त्री मूढा दुराचारा स्वपतिं हरिरूपिणम्।
न पश्येत्तार्जनं कृत्वा कुम्भीपाके व्रजेद्ध्रुवम् ॥३२॥

वाक्तर्जनाद्भवेत् काको हिंसनात् शूकरो भवेत्।
सर्पो भवति कोपेन दर्पेण गर्दभो भवेत् ॥३३॥
कुक्करी च कुवाक्येनाप्यन्धश्च विषदर्शनात् ॥३४॥

जो दुराचारिणी मूढ़ स्त्री अपने पति को विष्णुरूप नहीं देखती, उल्टे उसको तर्जना देती है, वह निश्चय ही कुम्भीपाक नरक में पड़ती है। वाणी से तर्जन के कारण कौआ होती है, हिंसा करने के कारण शूकर होती है। कोप करने के कारण सर्प होती है और दर्प करने के कारण गर्दभी होती है, कुवाक्य बोलने के कारण कुक्करी होती है और विषरूप देखने के कारण अन्धी होती है ॥ ३२-३४ ॥

उक्ता प्रत्युत्तारं दद्याद्या नारी क्रोधतत्परा।
सरमा जायते ग्रामे शृगाली निर्जने वने ॥३५॥

वाक्पति | या भर्तारं परित्यज्य रहश्चरति दुर्मतिः।
उलूकी जायते क्रूरा वृक्षकोटरशायिनी ॥३६॥

ताडिता ताडितुं चेच्छेत्सा व्याघ्रीवृषदंशिका ।
कटाक्षयति याऽन्यं वै केकराक्षी तु सा भवेत् ॥३७॥

जो स्त्री कुछ कहने पर क्रोधपूर्वक उत्तर देती है, वह गाँव में श्वानी होती है और निर्जन वन में शृगाली। जो दुष्टबुद्धिवाली स्त्री अपने पति को छोड़कर छिपकर आचरण करती है, वह क्रूर उल्लू की योनि में जाती है और वृक्ष के कोटर में शयन करती है। ताड़न किए जाने पर पुनः जो ताड़न करने की इच्छा करती है, वह बैलों को काट खाने वाली व्याघ्री होती है और जो अन्यों पर कटाक्षपात करती है, वह केकराक्षी होती है। ॥ ३५-३७ ॥

श्रीसूतजी। या भर्तारं परित्यज्य मिष्टमश्नाति केवलम् ।
ग्रामे वा सूकरी भूयाद्वल्गुर्वापि स्वविड्भुजा ॥३८॥
या त्वं कृत्वाप्रियं ब्रूते मूका सा जायते खलु ।
या सपत्नीं सदेर्ष्येत दुर्भगा सा पुनः पुनः ॥३९॥
दृष्टिं विलुप्य भर्तुर्या कश्चिदन्यं समीक्षते ।
काणा च विमुखा चापि कुरूपा चापि जायते ॥४०॥
योषितां जारसक्तानां नरके यमकिंकराः ।
सन्तप्तलोहपरिघं क्षिपन्ति स्मरमन्दिरे ॥४१॥

जो अपने पति को छोड़कर अकेले मिष्ठान्न का भक्षण करती है, वह या तो ग्राम में सूकरी होती है या अपना मल भक्षण करने वाली वल्गु। जो 'तुम' कहकर अप्रिय बोलती है, वह निश्चय ही गूँगी हो जाती है और जो अपनी सौत से सदैव ईर्ष्या करती है, वह पुनः पुनः दुर्भाग्यत्व को प्राप्त होती है। जो पति से दृष्टि बचा करके किसी दूसरे की ओर देखती है, वह कानी, मुखहीन और कुरूपा हो जाती है। जो स्त्रियाँ पर पुरुष में आसक्त होती हैं उनकी योनि में नरक के यमदूत जलते हुए लोहे का परिघ डाल देते हैं ॥ ३४-४१ ॥

वैराग्यार्थं पुनः स्त्री-स्वभाव
एवं
उसके बन्धकत्व का वर्णन

नारद ब्रह्मा संवाद

दारग्रहो हि दुःखाय केवलं न सुखाय च।
तपःस्वर्गंभक्तिमुक्तिकर्मणां व्यवधायकः।।१।।

योषितस्त्रिविधा ब्रह्मन्गृहिणां मूढचेतसाम्।
साध्वी भोग्या च कुलटास्ताः सर्वाः स्वार्थतत्पराः।।२।।

परलोकभि या साध्वी तथेह यशसात्मनः।
कामस्नेहाच्च कुरुते भर्तुः सेवां च संततम्।।३।।

स्त्री का ग्रहण केवल दुःख का ही कारण है, उससे सुख नहीं मिलता। वह तपस्या, स्वर्ग, भक्ति, मुक्ति एवं समस्त सत्कर्मों में विघ्न उपस्थित करने वाला होता है। मूढ़चित्त गृहस्थों के घरों में तीन प्रकार की स्त्रियाँ पाई जाती हैं—साध्वी, भोग्या और कुलटा। ये सब के सब स्वार्थपरायण होती हैं। साध्वी स्त्री परलोक के भय से, इस लोक में अपने यश मिलने के लोभ से तथा कामासक्ति से भी निरन्तर स्वामी की सेवा करती है।। १-३ ।।

भोग्या भोगार्थिनी शश्वत्कामस्नेहेन केवलम्।
कुरुते कान्तसेवाञ्च न च भोगादृते क्षणात्।।४।।
वस्त्रालङ्कारसंभोग सुस्निग्धाहारमुत्तमम्।
यावत्प्राप्नोति सा भोग्या तावच्च वशगाप्रिया।।५।

भोग्या स्त्री भोग की अभिलाषिणी होती है, वह सदा केवल कामासक्ति से ही प्रियतम पति की सेवा करती है। भोग के सिवा अन्य किसी हेतु से वह क्षण भर भी पति की सेवा नहीं करती। भोग्या स्त्री जब तक वस्त्र, आभूषण, सम्भोग तथा सुस्निग्ध एवं उत्तम आहार पाती है तब तक ही स्वामी के वश में रह कर प्यारी बनी रहती है।। ४-५ ।।

कुलाङ्गारसमानारी कुलटा कुलनाशिनी।
कपटात्कुरुते सेवां स्वामिनो न च भक्तितः।।६।।

सदा पुंयोगमाशंसुर्मनसा मदनातुरा।
आहारादधिकं जारं प्रार्थयन्ती नवं नवम् ॥७॥

जारार्थे स्वपतिं तात हन्तुमिच्छति पुंश्चली।
तस्यां यो विश्वसेन्मूढो जीवनं तस्य निष्फलम् ॥८॥

कथिता योषितः सर्वा उत्तमाधममध्यमाः।
स्वात्मारामा विजानन्ति मनस्तासां न पण्डिताः ॥९॥

कुलटा नारी कुल में अङ्गार के समान है। वह कुल का नाश करने वाली है। कुलटा स्त्री कपट से ही स्वामी की सेवा करती है, भक्ति से नहीं। ये स्त्रियाँ कामातुरा हो, नित्य पुरुष के संयोग की आशा में, आहारसुख की अपेक्षा मन से नए नए जार पुरुषों की विशेष इच्छा करती हैं। पुंश्चली स्त्री जार पुरुष के लिए अपने पति को भी मार डालने की इच्छा करती है। इन दुष्ट स्त्रियों में जो मूढ़ विश्वास करते हैं उनका जीवन निष्फल—व्यर्थ ही है। यह उत्तम, मध्यम और अधम स्वभाव वाली स्त्रियों के विषय में कहा गया। उनके मन को केवल अपने स्वरूपभूत आत्मा में रमण करने वाले महापुरुष ही विशेष रूप से जानते हैं, न कि केवल शास्त्रज्ञान रखने वाले कोरे विद्वान् ॥ ६-९ ॥

हृदयं क्षुरधाराभं शरत्पद्मोत्सवं मुखम्।
सुधा समं सुमधुरं वचनं स्वार्थसिद्धये ॥१०॥

प्रकोपे विषतुल्यं च विश्वासे सर्वनाशनम्।
दुर्ज्ञेयं तदभिप्रायं निगूढं कर्म केवलम् ॥११॥

सदा तासामविनयः प्रबलं साहसं परम्।
दोषोत्कर्षश्छलोत्कर्षः शश्वन्मायादुरत्यया ॥१२॥

ये स्त्रियाँ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए सुधा के समान मधुर बचन बोलती हैं और मुख शरत् काल के कमल की भाँति खिला हुआ प्रसन्न दिखाई देता है, परन्तु हृदय छुरे की धार के समान अति तेज होता है। क्रोध होने पर उनके मुख से विष के समान दुःसह वचन निकलता है। यदि उनकी बात पर विश्वास कर लिया जाय तो सर्वथा सर्वनाश ही हो जाता है। उनके अभिप्राय को समझना बहुत ही कठिन है, केवल उनका कर्म ही छिपा होता है। ये स्त्रियाँ सदा-सर्वदा विशेषतया अविनीत—उद्धतस्वभाव

वाली, परम साहसी, प्रबल दोष एवं छल से युक्त, नित्य मायावी एवं दुर्विज्ञेय भावों वाली होती हैं ॥ १०-१२ ॥

पुंसश्चाष्टगुणः कामः शश्वत्कामो जगद्गुरो ।
आहारो द्विगुणो नित्यं नैष्ठुर्यं च चतुर्गुणम् ॥१३॥

कोपः पुंसः षड्गुणश्च व्यवसायश्च निश्चितम् ।
यत्रेमे दोषनिवहाः कास्था तत्र पितामह ॥१४।

इनमें पुरुषों की अपेक्षा आठगुना काम, नित्य कामी स्वभावशाली तथा दूना आहार, चौगुनी निष्ठुरता, छः गुना क्रोध एवं ध्रुव निश्चय होता है। जिस स्त्री में इतने दोष भरे हैं उन पर क्या आस्था ? ॥१३-१४॥

का क्रीडा किं सुखं पुंसो विण्मूत्रमलवेश्मनि ।
तेजः प्रणष्टं सम्भोगे दिवालापे यशः क्षयः ॥१५॥

धनक्षयोऽतिप्रीतौ चात्यासक्तौ च वपुः क्षयः ।
साहित्ये पौरुषं नष्टं कलहे माननाशनम् ।
सर्वनाशश्च विश्वासे ब्रह्मन्नारीषु किं सुखम् ॥१६॥

विण्मूत्रादि मलों के स्थानभूत स्त्री शरीर में पुरुष के लिए कौन-सी क्रीड़ा है ? एवं कौन-सा सुख है ? जिसके सम्भोग में तेज का नाश, दिवालाप में यक्ष का क्षय, प्रेमाधिक्य में धन का क्षय, आसक्ति विशेष में शरीर का क्षय, साहित्य में पौरुष का नाश, कलह में मान का नाश, तथा उनमें सर्वथा विश्वास कर लेने में तो सर्वनाश ही हो जाता है। भला, नारी में क्या सुख है ? ॥ १५-१६ ॥

यावद्धनी च तेजस्वी सश्रीकोयोग्यतापरः ।
पुमान्नारीं वशीकर्तुं समर्थस्तावदेव हि ॥१७॥

रोगिणं निर्द्धनं वृद्धं योषिद्वै प्रेक्षतेऽप्रियम् ।
लोकाचारभयात्तस्मै ददात्याहारमल्पकम् ॥१८॥

जब तक पुरुष धनी, तेजस्वी श्रीयुक्त एवं उत्तम गुणों से सम्पन्न होता है तभी तक वह स्त्री को वशीभूत करने में समर्थ होता है। रोगी, निर्धन एवं वृद्ध पुरुष को स्त्री अप्रिय दृष्टि से देखती है तथा घर में ऐसे लोगों को लोकाचार के भय से ही उन्हें थोड़ा-सा आहार उपेक्षापूर्वक दे देती है। ॥ १७-१८ ॥

चाणक्य | अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषा स्वभावजाः ॥१९॥

स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद्बुधः ।
भगवान श्रीकृष्ण | विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते ।२०॥
सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम् ।२१॥

मिथ्या-भाषण, साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभ, अशौचाचार एवं निर्दयता इन जन्मजात स्वाभाविक दोषों से युक्त इन दुष्ट स्त्रियों पर बुद्धिमान् पुरुषों को कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। जो मूढ़ इनका विश्वास करता है, वह नाना प्रकार के दुःखों से आक्रान्त होता है। इनकी वाणी तो अमृत के समान कामियों के हृदय में रस का संचार करती है; किन्तु हृदय छूरे की धार के समान तीक्ष्ण होता है। भला, इन स्त्रियों का संसार में कौन प्यारा है? ॥ १९-२१ ॥

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ।
न विश्वासो हि कर्तव्यः स्त्रीषु चौरेषु पार्थिवैः ॥२२॥
उर्वशी | स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः ।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धंपतिंभ्रातरमप्युत ॥२३॥
विधायालीक विश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः ।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यस्वैरवृत्तयः ।२४॥

स्त्रियों की किसी के साथ मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियों का हृदय और भेड़ियों का हृदय बिल्कुल एक जैसा होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्रियों और चोरों का कभी भी विश्वास न करे। स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता तो उनमें स्वाभाविक ही रहती है। तनिक-सी बात में वे चिढ़ जाती हैं और अपने सुख के लिए बड़े-बड़े साहस के काम कर बैठती हैं, थोड़े-से स्वार्थ के लिए विश्वास दिला कर अपने पति और भाई तक को भी मार डालती हैं। इनके हृदय में सौहार्द्र तो है ही नहीं। भोले-भाले लोगों को झूठ मूठ का विश्वास दिलाकर फाँस लेती हैं और नए-नए पुरुष की चाट से कुलटा और स्वच्छन्दचारिणी बन जाती हैं ॥२२–२४॥

श्री मोहिनी देवी | स्त्रीणां नैव तु विश्वासः कर्तव्यो हि विपश्चिता ॥२५॥
अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।

अशौचं निर्घृणत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥२६॥
निःस्नेहत्वं च विज्ञेयं धूर्तत्वं चैव तत्त्वतः।
स्वस्त्रीणां चैव विज्ञेया दोषा नास्त्यत्र संशयः ॥२७॥

यथैव श्वापदानां च वृका हिंसापरायणाः।
काका यथाण्डजानां च श्वापदानां च जम्बुकाः।
धूर्ता तथा मनुष्याणां स्त्री ज्ञेया सततं बुधैः ॥२८॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह स्त्रियों का विश्वास कभी भी न करे। असत्यभाषण, साहस, छल, मूर्खता, अत्यधिक लोभ, अशौच और निर्दयता ये स्त्रियों के प्राकृतिक दोष हैं। यह निश्चय समझ लेना चाहिए कि स्नेहाभाव और धूर्तता—ये अपनी स्त्री के भी दोष हैं, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। जैसे वन्य पशुओं में हिंसापरायण भेड़िये, पक्षिओं में कौए तथा पशुओं में शृगाल—सियार धूर्त होते हैं, वैसे ही विद्वानों को चाहिए कि वे मनुष्यों में स्त्री को नित्य-निरन्तर धूर्त समझें ॥२५-२८॥

सन्ति कृत्याः स्त्रियः काश्चित्पुंसः सर्वस्वदस्य च।
तत्राप्यरक्षणीयां च मनसापि न धारयेत्। २६।
न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥३०॥
पुमांसं वित्तहीनं च विरूपं गुणवर्जितम्।
अकुलीनं च भृत्यं च कामिनी भजते ध्रुवम् ॥३१॥
भर्तारं च गुणोपेतं कुलीनं च महाधनम्।
सुन्दरं रतिदक्षं च त्यक्त्वा नीचं भजेद्वधूः ॥३२॥

भगवान् श्री हरि

सब कुछ देने वाले पुरुष के लिए भी स्त्रियाँ कोई कृत्याएँ ही हैं। ऐसी स्थिति में उनके अरक्षणीय होने पर भी मन से भी उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए। स्त्रियों का न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय ही, क्योंकि गाएँ जिस प्रकार जंगल में नई-नई घासें ही चाहती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नए-नए पुरुषों की इच्छायें करती हैं। स्त्रियाँ धनहीन, रूपरहित, गुणरहित, नौकर और कुलहीन पुरुष के प्रति भी निश्चितरूप से प्रवृत्त हो जाती हैं। यही नहीं, स्त्रियाँ परम धनवान्, गुणयुक्त, कुलीन, सुन्दर और रतिक्रिया में निपुण अपने पति को भी छोड़कर नीचों के प्रति प्रवृत्त हो जाती हैं ॥२६-३२॥

देवर्षिनारद एवं उमासंवाद

देवि सीमन्तिनीनां तु दुश्चेष्टां ज्ञातुमुत्सहे।
कौतुकेन त्वया चर्या वधूनां सम्प्रयुज्यते ॥३३॥
सर्वासामपि नारीणां स्वान्तं जानासि तत्त्वतः।
तन्मां कथय सर्वेसु विनीतमज्ञमेव च ॥३४॥

देवि ! आप लीला से स्त्रियों का आचरण धारण करने वाली हैं, अतएव मैं आप से स्त्रियों की कुचेष्टाओं को जानने के लिए उत्सुक हूँ। आप सभी स्त्रियों के अन्तःकरणों को, जो तत्त्वतः आप ही के अन्तः-करण हैं, जानती हैं। इसलिए मुझ सर्वाधिक विनीत एवं अज्ञ को उसे बताइए ॥३३-३४॥

भगवती श्री उमादेवी

युवतीनां सदा चित्तं पुंसु तिष्ठत्यसंशयम्।
अस्मिन्योनौ सुसंयोग्ये सङ्गते वाप्यसङ्गते ॥३५॥
सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम्।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद ॥३६॥
स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥३७॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस स्त्री-योनि में युवतियों का चित्त सदैव पुरुषों में ही लगा रहता है। वह पुरुष ठीक उनके उपयोग के योग्य होना चाहिए चाहे उचित हो या अनुचित। हे नारद ! यह बात बिल्कुल सत्य है कि चाहे भाई हो अथवा पुत्र, सुन्दर वेशवाले पुरुष को देखकर स्त्रियों की योनि आर्द्र हो जाती है। हे नारद ! स्थानाभाव, समयाभाव एवं प्रार्थना करने वाले पुरुष के अभाव के कारण ही स्त्रियों में सतीत्व स्थिर रहता है ॥३५–३७॥

घृतकुम्भसमानारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकस्थाने च धारयेत् ॥३८॥
यथैव मत्तमातङ्गं सृणिमुद्गरयोगतः।
स्ववशं कुरुते यन्ता तथा स्त्रीणां प्ररक्षकः ॥३९॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥४०॥

स्त्री घी से भरे हुए घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अंगार के समान। इसलिए इन दोनों घी और अग्नि को एक स्थान पर रखना ही

नहीं चाहिए। जिस प्रकार मतवाले हाथी को अंकुश और मुग्दर के योग से उसका चालक पीलवान् वश में करता है, उसी प्रकार कठिनाईपूर्वक स्त्रियों के रक्षक को उन्हें वश में रखना पड़ता है। स्त्रियों की रक्षा बाल्यावस्था में उनका पिता करता है, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र करता है, क्योंकि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र रखने के योग्य हैं ही नहीं ॥३८-४०॥

ततः स्वातन्त्र्यभावाच्च स्वेच्छया च वराङ्गना ।
पुरुषेणार्थिता धीरा प्रेरणानुचरी भवेत् ॥४१॥

अरक्षणाद्यथा पाकः श्वकाकवशगो भवेत् ।
तथैव युवती नारी स्वच्छन्दाद् दुष्टतां व्रजेत् ॥४२॥

पुनरेव कुलं दुष्टं तस्यास्संसर्गतो भवेत् ।
परबीजेम यो जातः स च स्याद्वर्णसङ्करः ॥४३॥

स्वेच्छाप्रियता तथा स्वतन्त्रता के कारण श्रेष्ठ लक्षणों वाली और धीर स्वभाववाली स्त्री भी चाहने वाले पुरुषों के द्वारा इशारे पर नाचनेवाली बना दी जाती है। यदि रक्षा न की जाय तो बनी-बनाई रसोई भी कुत्तों और कौओं के अधिकार में आ जाती है, वैसे ही युवती स्त्री भी स्वच्छन्द होने के कारण दुष्टा हो जाती है। परिणाम यह होता है कि उसके संसर्ग से पुनः उसका सारा कुल दोषयुक्त हो जाता है; क्योंकि दूसरे के वीर्य से उत्पन्न हुआ बालक वर्णसंकर जो हो जाता है ॥४१-४३॥

जारजः सङ्करः पापो नरके नियतं वसेत् ।
कीटजातो गता जाताः पुनः सर्वे महीतले ॥४४॥

ततो म्लेच्छमुपानीतं कुलं स्याद् द्विजनन्दन ।
कुलक्षयो भवेद्यस्मात्तस्माद् दुष्टां न धारयेत् ॥४५॥

ज्ञात्वैवं योषिता दोषं क्षमते यो नराधमः ।
स तिष्ठेन्निरये घोरे रौरवे पितृभिः सह ॥४६॥

पर पुरुष से उत्पन्न हुआ वह पापरूप वर्णसङ्कर निश्चितरूप से नरक में निवास करता है और इस प्रकार उत्पन्न हुए सभी बच्चे पुनः पृथ्वी तल पर कीटयोनि में चले जाते हैं। इसके बाद वह कुल म्लेच्छभाव को प्राप्त हो जाता है। चूँकि इस प्रकार कुल का नाश हो जाता है इसलिए दुष्टा को कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो नराधम स्त्री के दोष

को इसप्रकार जानकर उसे क्षमा कर देता है, वह अपने पितरों के साथ घोर रौरव नरक में निवास करता है ।।४४-४६।।

काचित्पातयते नारी काचिदुद्धरते कुलम् ।
तस्मात्सर्वंप्रयत्नेन कुलजामुद्वहेद् बुधः ।।४७।।
कुलद्वयं समानारी समयित्वा तु तिष्ठति ।
साध्वीतारयते वंशान्दुष्टा पातयति ध्रुवम् ।।४८।।
यो मोहाद् दुर्भगां कृत्वा साध्वीं त्यजति पापकृत् ।
तस्या वधेन यत्पापं तद्भुक्त्वा नरकं व्रजेत् ।।४९।

कोई स्त्री अपने कुल का उद्धार करती है और कोई कुल का पतन करती है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह हर प्रयत्न से कुलीन स्त्री से विवाह करे । समत्वभाववाली साध्वी स्त्री दोनों कुलों को बराबर करके रहती है । साध्वी दोनों वंश वालों को तार देती है और दुष्टा दोनों का निश्चय ही पतन करती है । जो पापी मोहपूर्वक अपनी साध्वी स्त्री की योनि खराब करके उसे छोड़ देता है उसे उस स्त्री के बध का पाप लगता है उसे भोगकर पुनः वह नरक को जाता है ।।४७-४९।।

परदारान्बलाद्गत्वा धनैर्वासं प्रलोभयेत् ।
स याति नरकं घोरं प्रत्येह च कलत्रहा ।।५०।।
वनिताहरणं कृत्वा चाण्डालकुलतां व्रजेत् ।
तथैव वनिताहानात्पतितो जायते नरः ।।५१।।
रामां विन्यस्य स्कन्धे च चिरं यमपुरे वसेत् ।
मलमूत्रं शिरोदेशे नित्यं तस्य च सम्पतेत् ।।५२।।

जो धन आदि के द्वारा दूसरी स्त्रियों के साथ गमन करता है और उसे निवास का प्रलोभन देता है, वह इस लोक में स्त्री का हरण करने वाला मरकर घोर नरक में जाता है । स्त्रीहरण करने के कारण पुरुष का कुल चाण्डाल कुल के समान हो जाता है । उसी प्रकार स्त्री का परित्याग करने से पुरुष पतित हो जाता है । अपनी स्त्री को अपने कन्धे पर चढ़ा कर वह दीर्घकाल तक नरक में रहता है और उसके शिरोभाग पर नित्य मल-मूत्र गिरता रहता है ।।५०-५२।।

एवं वर्षसहस्राणि भारं वहति दुर्मतिः ।
पुनर्यावन्ति लोमानि तावत्स रौरवं व्रजेत् ।।५३।।

पुनः कीटेषु सन्तीर्णस्तदा मानुषतां व्रजेत् ।
ततश्च कलहं शोकं प्राप्नोति पूर्वकल्मषात् ॥५४॥

एवं जन्मत्रयं प्राप्य मुच्यते पातकान्नरः ।
तत्कालं नरकं भुक्त्वा सा तु काकी च वञ्चकी ।
उच्छिष्टं नरकं भुक्त्वा मानुषे विधवा भवेत् ॥५५॥

इस प्रकार वह दुर्बुद्धि हजारों वर्षों तक यह भार वहन करता है पुनः जितनी रोमों की संख्या है उतने वर्षों तक वह रौरव नरक में निवास करता है। फिर वह कीटों की योनि में जाता है तत्पश्चात् उसे पार करके मनुष्य योनि को प्राप्त होता है और वहाँ वह अपने पूर्व पाप के कारण कलह और शोक को प्राप्त होता है। इस प्रकार तीन जन्म प्राप्त कर वह पाप से मुक्त होता है। तथा पुनः वह कौए की स्वभाव वाली वञ्चक स्त्री तत्काल इह लोक का नरक भोगकर पुनः परलोक में विशेष उच्छिष्ट नामक नरक को भोगकर मनुष्ययोनि में विधवा हो जाती है ॥५३-५५॥

मातलि| परस्त्रीमुखसौन्दर्यं परद्रव्यं च सर्वदा ।
दृष्ट्वा कामाग्निसंखिना दह्यन्ते मूढमानसाः ॥५६॥

स कामाग्निः समाख्याता बलनाशकरो नृप ।
मैथुनस्य प्रसङ्गेन विनाशस्त्वं कलेवरे ॥५७॥

नारीं च संश्रयेत्प्राणी पीडितः कामवह्निना ।
मैथुनस्य प्रसङ्गेन मूर्च्छितः कामकर्शितः ॥५८॥

दूसरों की स्त्री के मुख का सौन्दर्य और दूसरों का धन देखकर मूढ़-अन्तःकरण वाले पुरुष सदैव कामाग्नि से संखिन्न होकर जला करते हैं। इस शरीर में मैथुन-प्रसङ्ग के द्वारा विनाश की स्वरूपभूता यह कामाग्नि बल का नाश करने वाली कही गई है। कामाग्नि से सन्तप्त प्राणी स्त्री का आश्रय लेता है। वह काम द्वारा कृश और मैथुन-प्रसङ्ग द्वारा मूर्च्छित हो जाता है ॥५६-५८॥

तेजोहीनो भवेत्कायो बलहानिश्च जायते ।
बलहीनो यदास्याद्वै दुर्बलो वह्निनेरितः ॥५९॥

स वह्निः प्रचरेत्काये शोणितं शुक्रमेव च ।
शुक्रशोणितयोर्नाशाच्छून्यदेहोऽभिजायते ॥६०॥

अतीव जायते वायुः प्रचण्डो दारुणाकृतिः।
विवर्णो दुखसन्तप्त शून्यबुद्धिस्ततो भवेत् ॥६१॥

उसका शरीर तेजहीन हो जाता है और बल की हानि होती है। जब निश्चय ही बलहीन हो जाता है तो कामाग्नि की प्रेरणा से दुर्बल हो जाता है। वह कामाग्नि शरीर में, रक्त और वीर्य में संचार करता है। वीर्य और रक्त के नाश से शरीर शून्य हो जाता है, वायु अत्यधिक बढ़ जाता है, आकृति अत्यन्त दारुण और प्रचण्ड हो जाती है, वैवर्ण्य आ जाता है, दुःख से जलता रहता है तदनन्तर शून्य-बुद्धि हो जाता है ॥५६ ६१॥

दृष्टा श्रुता तु या नारी तच्चित्तो भ्रमते सदा।
तृप्तिर्न न जायते काये लोलुपे चित्तवर्त्मनि ॥६२॥

विरूपश्च सुरूपश्च ध्यानान्मध्ये प्रजायते।
वलहीनो यदा कामी मांसशोणितसंक्षयात् ॥६३॥

पलितं जायते काये नाशिते कामवह्निना।
तस्मात्सञ्जायते कामी वृद्धो भूत्वा दिने दिने ॥६४॥

जिस-जिस स्त्री को सुने अथवा देखे रहता है, उस-उस में उसका चित्त सदैव चक्कर काटता रहता है। इसके इस स्त्रीबिषयलम्पट चित्तवृत्तिवाले शरीर में तृप्ति यानि सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। जब मांस और रक्त का नाश होने से कामी पुरुप बलहीन हो जाता है तब चिन्तन करते-करते वह कभी अपने को रूपहीन और कभी रूपवान् मानता है कामाग्नि से शरीर के नष्ट कर दिए जाने पर उसके बाल पकने लगते हैं तब वह कामी दिन-प्रतिदिन बूढ़ा होने लगता है ॥६२-६४॥

सुरते चिन्तते नारीं यथा वार्द्धुषिको नरः।
तथा तथा भवेद्धानिस्तेजसोऽस्य नरेश्वर ॥६५॥

तस्मात्प्रजायते कामो नाशरूपं समृच्छति।
अग्निः प्रजायते भूयो जरारूपो न संशयः ॥६६॥

वह वृद्ध पुरुष जैसे-जैसे सुरत में नारी का स्मरण करता है, वैसे-वैसे उसके तेज की हानि होती जाती है। उससे और भी अधिक काम उत्पन्न होता है और शरीर निरन्तर नाश की ओर बढ़ता जाता है तथा पुनः वृद्धावस्था की अग्नि बढ़ जाती है। इसमें कोई संशय नहीं ॥६५-६६॥

अदृष्टौ यादृशं चित्तं दृष्टौ नैतादृशं भवेत् ।
दर्शने यादृश चित्तं संलापे नैव तादृशम् ॥६७॥

संलापे यादृशं चित्तं हास्योक्तौ नैव तादृशम् ।
हास्योक्तौ यादृशं चित्तं स्पर्शनेनैव तादृशम् ॥६८॥

स्पर्शने यादृशं चित्तं योनिदृष्टौ न तादृशम् ।
तद्दृष्टौ यादृशं चित्त योनिस्पर्शे न तादृशम् ॥६९॥

बाहुमूलकुचद्वन्द्वस्वयोनिस्पर्शदर्शनात् ।
कस्य न स्खलते चेतो रेतः स्कन्नं च नो भवेत् ॥७०॥

स्त्री को बिना देखे चित्त की जैसी स्थिति रहती है, देख लेने पर वैसी नहीं रहती। देखने पर जैसी रहती है, वार्तालाप में वैसी नहीं रहती। वार्तालाप में जैसी रहती है, हँसी-विनोद में वैसी नहीं रहती। हँसी-विनोद में जैसी रहती है, स्पर्श में वैसी नहीं रहती। स्पर्श में जैसी रहती है, योनि-दर्शन में वैसी नहीं रहती। योनि देख लेने पर जैसी रहती है, योनि-स्पर्श करने में वैसी नहीं रहती। स्त्री द्वारा अपने बाहुमूलों का, दोनों कुचों का तथा अपनी योनि का स्पर्श करते हुए देखकर किस पुरुष का चित्त स्खलित नहीं होगा और वीर्य स्खलित नहीं होगा? ॥६७-७०॥

भगवान् नारायण

स्त्रीणां निरीक्षणं स्पर्शभाषणं क्रीडनादि च ।
वर्जयेत्सर्वथा वर्णीस्त्रियाश्चाप्यवलेखनम् ॥७१॥

विना न देवप्रतिमां काष्ठचित्रादियोषिताम् ।
अपि नैव स्पृशेद्धीमान्न च बुद्ध्याऽवलोकयेत् ॥७२॥

प्राणिमात्रञ्च मिथुनीभूतं नेक्षेत कर्हिचित् ।
स्त्रीणां गुणांश्चाऽप्यगुणाञ्छृणुयान्नेव नो वदेत् ॥७३॥

अस्पृशन्नेव वन्देत गुरुपत्नीमपि स्वकाम् ।
जनन्याऽपि न तिष्ठेत रहः स्थाने तु कर्हिचित् ॥७४॥

स्त्रियों का दर्शन, उनका स्पर्श, उनके साथ सम्भाषण और क्रीडा आदि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, यहाँ तक कि स्त्री का चित्र भी नहीं बनाना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि देव-प्रतिष्ठादि को छोड़कर स्त्रियों की काष्ठमूर्ति और चित्र का भी बुद्धि से कभी दर्शन न करे और न तो स्पर्श ही करे। मिथुन-भाव को प्राप्त हुए किसी भी प्राणी

को कभी भी नहीं देखना चाहिए। स्त्रियों के गुण भी वस्तुतः दोष ही हैं अतएव न उनका श्रवण करना चाहिए और न तो उनका वर्णन ही करना चाहिए। अपनी गुरुपत्नी की वन्दना भी बिना स्पर्श किए हुए ही करनी चाहिए और अपनी माँ के साथ भी कभी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए ॥७१-७४॥

सम्राट् ययाति | मात्रा स्वस्रादुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥७५॥

भगवान् श्री कृष्ण | न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥७६॥

सम्राट् पुरुरवा | अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥७७॥

तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ॥७८॥

अपनी माता, बहिन और कन्या के साथ भी अकेले एक आसन पर सटकर नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी अपने स्थान से विचलित कर देती हैं। स्त्रियों के संग से और स्त्री सङ्गियों—लम्पटों के संग से पुरुष को जैसे क्लेश और बन्धन में पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट अन्य किसी के भी सङ्ग से नहीं होती। इसलिए अपना कल्याण चाहने वाले विवेकी पुरुष को चाहिए कि स्त्रियों और स्त्री-लम्पट पुरुषों का कभी भी संग न करे। विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन में विकार उत्पन्न होता है अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं है। अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्रीलम्पटों का संग कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिए ॥७५-७८॥

इन विघ्नभूता सर्वश्रेयोविनाशिका कामिनियों के संसर्गज अनर्थों से सर्वथा सुरक्षित रहने की इच्छा वाले कल्याणकामी पुरुषों के लिए सर्वलोक-महेश्वर भगवान् शंकर ने दृढ़ बन्धन उपस्थित करनेवाला शास्त्रसम्मत वैवाहिक सम्बन्ध भी जहाँ तक हो, उचित नहीं माना है।

परमेश्वर शंकर | नोचितं हि विधानं वै विवाहकरणं नृणाम्।
महानिगडसंज्ञो हि विवाहो दृढबन्धनः ॥७९॥

कुसङ्गा बहवो लोके स्त्रीसङ्गस्तत्र चाधिकः ।
उद्धरेत्सकलैर्बन्धैर्नं स्त्रीसङ्गात् प्रमुच्यते ॥८०॥

लोहदारुमयैः पाशैर्दृढबद्धोऽपि मुच्यते ।
स्त्र्यादिपाशसुसम्बद्धो मुच्यते न कदाचन ॥८१॥

कल्याणकामी मनुष्यों को विवाह-सम्बन्धस्थापन का विधान उचित नहीं है, क्योंकि यह विवाह महानिगडसंज्ञक दृढ़ बंधन है। मनुष्य के लिए संसार में बहुत से कुसंग हैं, परन्तु उन सब कुसंगों में स्त्री-सङ्ग ही महाहानिकर है। अन्य समस्त बन्धनों से मनुष्य का उद्धार हो सकता है, परन्तु इस स्त्री-बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता। लोहे एवं दारुमय पाशों से दृढ़ बँधा हुआ भी पुरुष छुटकारा पा सकता है, परन्तु स्त्रीरूप पाश से सुदृढ़ बँधा हुआ पुरुष कभी भी छुटकारा नहीं पा सकता ॥७६-८१॥

वर्द्धन्ते विषयाश्शश्वन्महाबन्धनकारिणः ।
विषयाक्रान्तमनसस्स्वप्ने मोक्षोऽपि दुर्लभः ॥८२॥

सुखमिच्छतु चेत्प्राज्ञो विधिवद्विषयांस्त्यजेत् ।
विषवद्विषयानाहुर्विषयैर्यैर्निहन्यते ॥८३॥

जनो विषयिणा साकं वार्तातः पतति क्षणात् ।
विषय प्राहुराचार्यास्सितालितेंद्रवारुणीम् ॥८४॥

इस स्त्री-संग से महाबन्धन करने वाले विषय निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इस प्रकार विषयाक्रान्त मन वाले पुरुष का स्वप्न में भी मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है। यदि बुद्धिमान् पुरुष को नित्य सुख की अभिलाषा हो तो उसे विधिपूर्वक इन मोक्षविरोधी विषयों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। यह विषय विष के समान कहा गया है जिससे प्राणी निश्चितरूप से मारा जाता है। मनुष्य विषयी पुरुषों के संग वार्तामात्र से ही क्षण भर में पतित हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने स्त्री-सम्बन्धी विषय को मिश्री मिली हुई वारुणी मदिरा कहा है ॥८२-८४॥

अवधूत शिरोमणि श्रीशुकदेव जी

कदाचिदपि मुच्येत लोहकाष्ठादि यन्त्रितः ।
पुत्रदारैर्निबद्धस्तु न विमुच्येत कर्हिचित् ॥८५॥
विण्मूत्रसम्भवो देहो नारीणां तन्मयस्तथा ।
कः प्रीतिं तत्र विप्रेन्द्र विबुधः कर्तुमिच्छति ॥८६॥

किं सुखं तात संसारे निजतत्त्वविचारणात् ।
मूढानां सुखबुद्धिस्तु विट्सुकीट सुखं यथा ॥८७॥

लोहे और काष्ठ आदि से जकड़ा हुआ व्यक्ति कभी छूट सकता है, परन्तु पुत्रों और स्त्रियों के पास से बँधा हुआ व्यक्ति कभी नहीं छूट सकता। स्त्रियों का शरीर मल-मूत्र से उत्पन्न हुआ है और मल-मूत्ररूप है भी। भला, कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष है कि उस मल-मूत्र के भाण्डरूप स्त्री शरीर से प्रेम करना चाहेगा? आत्मतत्त्व का विचार कर लेने पर इस संसार में भला, कौन-सा सुख रह जाता है? परन्तु मूढ़ों को जो स्त्री-शरीर में सुख की प्रतीति होती है, वह ठीक उसी प्रकार से होती है जैसे मल के कीड़ों को मल में होती है ॥८५-८७॥

विट्सुखं किं वाञ्छामि त्यक्त्वाऽऽत्मसुखमद्भुतम् ।
आत्मारामाश्च भूयोऽपि न भवत्यतिलोलुपः ॥८८॥

अधीत्यवेदशास्त्राणि संसारे रागिणश्च ये ।
तेभ्यः परो न मूर्खोऽस्ति सधर्माः श्वाऽश्वसूकरैः ॥८९॥

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य वेदशास्त्राण्यधीत्य च ।
बध्यते यदि संसारे को विमुच्येत मानवः ॥९०॥

अद्भुत आत्मसुख का परित्याग करके मलरूप स्त्री-सुख की इच्छा क्या करूँ? और आत्माराम महापुरुष पुनः विषयों के प्रति अतिलोलुप भी नहीं होते। जो लोग वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके इस संसार में विषयासक्त हैं, उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है तथा उनका जीवन कुत्ते, घोड़े, एवं सूकर के समान व्यर्थ है। जो दुर्लभ मानवशरीर प्राप्त करके तथा वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके भी सांसारिक विषय-भोगों में फँसता है, तो फिर भला, कौन-सा मनुष्य इस संसार-बन्धन से मुक्त होगा? ॥८८-९०॥

नातः परतरं लोके क्वचिदाश्चर्यमद्भुतम् ।
पुत्रदारगृहासक्तः पण्डितः परिगीयते ॥९१॥

न बाध्यते यः संसारे नारीमायागुणैस्त्रिभिः ।
स विद्वान्स च मेधावी शास्त्रपारङ्गतो हि सः ॥९२॥

किं वृथाऽध्ययनेनात्र दृढबन्धकरेण च ।
पठितव्यं तदेवाऽऽशु मोचयेद्भवबन्धनात् ॥९३॥

इससे बढ़कर संसार में कहीं भी कोई अन्य अद्‌भुत आश्चर्य नहीं है कि पण्डित भी पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आसक्त हुआ कहा जाता है। जो संसार में तीनों गुणों की कार्यभूता स्त्रीरूपिणी माया से आबद्ध नहीं होता, वही विद्वान् है, वही मेधावी है और वही शास्त्रों में पारङ्गत है। इस संसार में दृढ़ बन्धन प्रदान करने वाले अन्य व्यर्थ अध्ययन से क्या प्रयोजन ? इसलिए शीघ्रतापूर्वक वही अध्ययन करना चाहिए, जो संसाररूपी बन्धन से मुक्त करा दे ॥ ९१-९३ ॥

जलूकेव सदा नारी रुधिरं पिबतीति वै।
मूर्खस्तु न विजानाति मोहितोभावचेष्टितैः ॥९४॥
भोगैर्वीर्यं धनंपूर्णं मनः कुटिलभाषणैः
कान्ता हरति सर्वस्वं कः स्तेनस्तादृशोऽपरः ॥९५॥
निद्रासुखविनाशार्थं मूर्खस्तु दारसंग्रहम्।
करोति वञ्चितो धात्रा दुःखाय न सुखाय च ॥९६॥

निश्चय ही जोंक की तरह स्त्री सदैव रक्त का पान करती रहती है, किन्तु उसके भावों तथा उसकी चेष्टाओं से मोहित हुआ मूर्ख पुरुष जान नहीं पाता। स्त्री भोगों द्वारा तो पुरुष के सम्पूर्ण वीर्य को और धन को हर लेती है तथा छलयुक्त संभाषणों द्वारा सम्पूर्ण मन को हर लेती है। इस प्रकार वह पुरुष के सर्वस्व का हरण कर लेती है। भला, उसके जैसा दूसरा डाकू और कौन है ? मूर्ख निद्रा-सुख का विनाश करने के लिए तथा दुःख-प्राप्ति के लिए ही स्त्री का संग्रह करता है, न कि सुख के लिए। इस प्रकार वह मूर्ख विधाता द्वारा ठग लिया जाता है ॥ ९४–९६ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त शास्त्रीय प्रबल सर्वानुभूत दृष्टियों से जब व्यावहारिक शास्त्रसमस्त स्वपरिग्रहीत स्त्री भी नाना प्रकार के पतनभूत अनर्थों की जड़ होने के कारण कल्याणकामियों द्वारा सर्वथा सर्वदा के लिए त्याज्य है तब फिर पराई स्त्रियों के विषय में कहना ही क्या ? कहा भी है कि—

महर्षि देवल	स्वभार्यां च परित्यज्य यो गृह्णाति पर स्त्रियम्। यशोधनायुषां हानिर्भवेज्जीवन्मृतस्य च ॥९७॥
सती चन्द्रकला देवी	परस्त्रियं समालिङ्ग्य क्षणमात्र सुखं भवेत्। इहापकीर्तिः शेषं च दुःखं कल्पशताधिकम् ॥९८॥

इन्द्राणी श्रीशची देवी

मलाढ्येषु च क्लेदेषु दुर्गन्धिनिलयेषु च।
साधूनां किं सुखं साधो स्त्रीणां योनिषु मां वद।।९९।।
मधुमत्तः सुरामत्तः काममत्तो विचेतनः।
मृत्युं न गणयेत्कामी कामेनहृतमानसः।।१००।।

जो अपनी पत्नी का परित्याग कर पराई स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करता है, वह जीते-जी मरा हुआ है और उसके यश, धन तथा आयु की हानि होती है। पर-स्त्री का आलिंगन करके मनुष्य को क्षणमात्र के लिए सुख प्राप्त होता है, परन्तु इसके कारण इस संसार में उसकी अपकीर्ति होती है और मृत्यु के पश्चात् इस पापकर्म के फलस्वरूप सौ से अधिक कल्पों तक घोर नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। हे साधो! मुझे बतलाओ तो, कि स्त्रियों की योनि में साधुओं को भला, क्या सुख है? जो एकमात्र दुर्गन्धि का घर है, आर्द्रता से युक्त है और घृणित मल-मूत्र से परिपूर्ण है। काम ने जिसके चित्त को चुरा लिया है, वह विवेकबुद्धिशून्य कामोन्मत्त कामी तथा मधुमत्त एवं सुरामत्त मनुष्य अपनी मौत को भी नहीं गिनता।
।।९७-१००।।

भगवान् नारायण

विहाय स्वकलत्रञ्च यो गृह्णाति परस्त्रियम्।
लोभात् कामसुखाद्वापि सोऽधमो नात्र संशयः।।१०१।।
पातयित्वा स च पतेद्दशपूर्वान् दशापरान्।
त्यक्त्वा स्व स्वामिनं या च परं गच्छति कामतः।।१०२।।

जो अपनी स्त्री को छोड़कर, लोभ से अथवा काम-सुख से, दूसरी स्त्री का ग्रहण करता है, वह अधम है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। अपने से दस पूर्व के और दस पश्चात् के पूर्वजों और वंशजों का पतन कराकर वह स्वयमेव पतित हो जाता है। उसी प्रकार स्त्री भी यदि काम के वशीभूत होकर अपने पति का परित्याग करती है, तो उसे भी उपर्युक्त परिणाम भोगना पड़ता है।।१०१-१०२।।

देवदूत

परस्त्रीषु कृतः सङ्गः प्रीतये दुःखदो हि सः।
मुहूर्तविषयास्वादो जातोऽनेकाब्ददुःखदः।।१०३।।
दुःशीला ये दुराचारा विहाराहारनिन्दिताः।
परापकारिणः पापकारिणो दुर्विहारिणः।।१०४।।

विदारिणो हि मर्मोक्त्या पापाः परहृदां हि ये।
निरये ते विपच्यन्ते ये परस्त्रीविहारिणः ॥१०५॥

आनन्द के लिए किया गया पराई स्त्रियों का संग ही दुःख का कारण बनता है क्षण भर का विषय-सुख कई वर्षों तक दुःख प्रदान करता है। जो दुःशील हैं, दुराचारी हैं, निन्दित आहार-विहार वाले हैं दूसरों का अपकार करने वाले हैं, पापी हैं, दुर्व्यवहारी है, मर्मोक्तियों के द्वारा दूसरों का हृदय विदीर्ण करने वाले हैं और दूसरों की स्त्रियों के साथ विहार करने वाले हैं, वे निश्चय ही घोर नरक में पकाये जाते हैं ॥ १०३-१०५ ॥

श्रीवृन्दादेवी | पतिव्रतानां गमने बलात्कारेण निश्चितम्।
मातृगामी भवेत्सद्यो ब्रह्महत्या शतं भवेत् ॥१०६॥
कुम्भीपाके पच्यते च यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
प्रदग्धस्तैलतप्तेषु न मृतः शूक्ष्मदेहतः ॥१०७॥
ताडितो यमदूतैश्च लोहदण्डेन मूर्धनि।
क्षणं सुखं चिरं दुःखं सर्वनाशस्यकारणम् ॥१०८॥
अगम्यागमनं दुःखं धर्मिष्ठो नैव वाञ्छति ॥१०९॥

जो बलपूर्वक पतिव्रताओं के साथ व्यभिचार करता है, वह मातृगामी कहलाता है और उसे तुरंत ही सौ ब्रह्महत्या का पाप लगता है। यह निश्चित है कि जब तक सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति है तब तक वह कुम्भी-पाक नरक में यातना भोगता है। यमदूत उसके मस्तक पर लोहे के डण्डे से प्रहार करते हैं, वह खौलते हुए तेल में पकाया जाता है, परन्तु उसकी सूक्ष्म देह से प्राण पृथक् नहीं होते। यह क्षणिक स्त्रीसंगजनित सुख चिरकालिक दुःख का दाता और सर्वविनाश का कारण है। इसीलिए अगम्यागमन से होने वाले दुःख को धार्मिक महापुरुष कभी भी नहीं चाहता है ॥१०६-१०९॥

श्रीअहिल्या देवी | को धर्मः किं यशस्तेषां का प्रतिष्ठा च किं तपः।
किं बुद्धिर्विद्यादानं च परस्त्रीषु यन्मनः ॥११०॥
परस्त्रीषु मनो येषां तेषां सर्वं च निष्फलम् ॥१११॥

जिसका मन पर स्त्री में आसक्त है उसका धर्म, यश, प्रतिष्ठा, तप, बुद्धि, विद्या एवं दान—ये सब व्यर्थ–निष्फल हैं ॥ ११०-१११ ॥

महाविदुषी मदालसा

पर दारा न गन्तव्याः पुरुषेण विपश्चिता।
इष्टापूर्तायुषा हन्त्री परदारगतिर्नृणाम् ॥११२॥

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृश पुरुषस्येह परदाराभिमर्षणम् ॥११३॥

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥११४॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥११५॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह पराई स्त्री के साथ गमन न करे। मनुष्यों केलिए परस्त्रीगमन इष्टापूर्त यज्ञ और आयुष्य का नाश करनेवाला है। पुरुषों के लिए इस संसार में आयुष्य का नाश करनेवाला जैसा यह परस्त्री-प्रसंग है वैसा और कुछ भी नहीं है। सभी वर्णों में कभी भी पराई स्त्रियों के साथ गमन नहीं करना चाहिए। ये स्त्रियाँ भयङ्कर कृत्यारूपा हैं, जो अज्ञानियों को मोहित कर लेती हैं। स्त्रियों के शरीरों में जितने भी रोमकूप हैं उतने सहस्र वर्षों तक परस्त्रीगामी पुरुषों को घोर नरक में निवास करना पड़ता है ॥ ११२-११५ ॥



विभिन्न स्त्रीगमनजन्य पापों के चिह्नों का वर्णन

महर्षि शौनक

मातृगामी च पुरुषो जायते लिङ्गवर्जितः।
गुरुजायाभिगमनान्मूत्रकृच्छ्रः प्रजायते ॥१॥
भगिनीं चैव गमने पीतकुष्ठः प्रजायते।
स्वसुतागमने चैव रक्तकुष्ठः प्रजायते ॥२॥
भ्रातृभार्याभिगमने गुल्मकुष्ठः प्रजायते।
स्वामिपत्न्यादिगमने जायते दद्रुमण्डलम् ॥३॥

माँ के प्रति गमन करने वाला व्यक्ति लिंगरहित हो जाता है और गुरु पत्नी के साथ गमन करने से मूत्रकृच्छ्र नामक रोग होता है। भगिनी के साथ गमने करने से पीतकुष्ठ होता है। अपनी पुत्री के साथ गमन करने से रक्तकुष्ठ होता है। भाई की स्त्री के साथ गमन करने से गुल्मकुष्ठ होता है। स्वामी की पत्नी के साथ गमन करने से दद्रु-मण्डल रोग होता है ॥ १-३ ॥

विश्वस्तभार्यागमने गजचर्मा प्रजायते।
पितृष्वस्राभिगमने दक्षिणाङ्गे व्रणी भवेत् ॥४॥
मातुलान्यास्तु गमने वामाङ्गे व्रणवान्भवेत्।
पितृव्यपत्नी गमने कटौ कुष्ठः प्रजायते ॥५॥
मित्रभार्याभिगमने मृतभार्यः प्रजायते।
स्वगोत्रस्त्रीगमने जायते च भगन्दरः ॥६॥

विश्वासपात्र की स्त्री के साथ गमन करने से हाथी—जैसा चर्म हो जाता है। फूआ के साथ गमन करने से दाहिनी ओर फोड़ा होता है। मामी के साथ गमन करने से बायीं ओर फोड़ा होता है। चाची के साथ गमन करने पर कटि में कुष्ठ होता है। मित्र की स्त्री के साथ गमन करने

पर उस पुरुष की स्त्री मर जाती है। अपने गोत्र की स्त्री के साथ गमन करने पर भगन्दर नामक रोग होता है ॥ ४-६ ॥

तपस्विनीप्रसङ्गेन प्रमेहो जायते नरः।
श्रोत्रियस्त्रीप्रसङ्गेन जायते नासिकाव्रणी ॥७॥
दीक्षितस्त्रीप्रसङ्गेन जायते दुष्टरक्तस्रक्।
स्वजातिजायागमने जायते हृदयव्रणी ॥८॥
जात्युन्नतस्त्रीगमने जायते मस्तकव्रणी।
पशुयोनौ च गमनान्मूत्रघातः प्रजायते ॥९॥
एते दोषा नराणां स्युर्नरकान्ते न संशयः।
स्त्रीणामपि भवन्त्येते तत्तत्पुरुषसङ्गमात् ॥१०॥
एते राजन्हि चिह्नानि कीर्तितानि सुपापिनाम् ॥११॥

तपस्विनी के साथ प्रसंग करने पर पुरुष को प्रमेह होता है। श्रोत्रिय की स्त्री से गमन करने पर नाक में घाव होता है। दीक्षित की स्त्री से गमन करने पर रक्त-दोष होता है। अपनी जाति की स्त्री के साथ गमन करने पर हृदय में घाव होता है। अपने से ऊँची जाति की स्त्री के साथ गमन करने पर मस्तक में घाव होता है और पशुयोनि में गमन करने पर मूत्र-घात नामक रोग होता है। मनुष्यों को ये दोष नरक-फल भोग के उपरान्त प्राप्त होते हैं, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। स्त्रियों को भी तत्-तत् प्रकार के पुरुष के साथ संगम करने पर ये उपर्युक्त दोष हो जाते हैं। यहाँ पर निश्चय ही ये बड़े-बड़े पापियों के लक्षण कहे गए हैं ॥ ७-११ ॥



तिलोत्तमा द्वारा पुंश्चली स्त्री-स्वभाव

का

वर्णन

स्त्रीजातीनां च सर्वासामुपहासकरं परम् ॥१॥
सर्वेषामपि दुर्ज्ञेयं चरितं योषितामपि ।
विशेषतोऽपि दुर्ज्ञेयं पुंश्चलीनां मनो वचः ॥२॥
वेदवेदांगशास्त्रांतं सर्वं जानाति पण्डितः ।
कान्त नान्तं विजानाति दिशामाकाशयोषिताम् ॥३॥

समस्त स्त्री-जाति का चरित्र अत्यन्त ही उपहास कराने वाला है जो सर्वथा सभी पुरुषों के लिए दुर्विज्ञेय है। विशेषतया पुरुषमात्र की इच्छा करने वाली स्त्रियों का मन और उनकी वाणी और भी दुर्विज्ञेय होती है। पण्डित लोग वेद-वेदांग और शास्त्रों का अन्त तथा अन्य सब कुछ जान जाते हैं, परन्तु वे भी आकाश की दिशा के समान स्त्रियों के अंत को नहीं जानते ॥ १-३ ॥

विषादप्यप्रियो वृद्धो रत्नादपि च योषिताम् ।
युवा सर्वस्वहर्ता चेत्प्राणेभ्योपि परः प्रियः ॥४॥
युवानं सुन्दरं दृष्ट्वा ह्यार्ता भवति पुंश्चली ।
विशेषतः सुवेशं च दृष्ट्वेव हृतचेतना ॥५॥
निमेषरहिता तस्या लोचनाभ्यां पिवेन्मुखम् ।
योनौ जलं क्षरेत्तस्याः सद्यः कंडूयनं भवेत् ॥६॥

स्त्रियों के लिए वृद्ध पुरुष विष से भी बढ़ कर अप्रिय है और युवक उनका सर्वस्व हरण करने वाला हो, तो भी उनके लिए रत्न से बढ़कर प्रिय है, इतना ही नहीं प्राणों से भी बढ़ कर वह प्रिय है। युवा पुरुष को देखकर पुंश्चली स्त्री आतुर हो जाती है और यदि विशेषतया सुन्दर वेष भी हो, तब तो उसे देखकर उसकी चेतना मारी जाती है। वह निमेष रहित होकर

दोनों नेत्रों से उसके मुख का पान करती है, उसकी योनि में जल का क्षरण होता है और तत्काल उसमें उसे खुजलाहट होती है ॥ ४-६ ॥

मनोऽतिलोलमस्थैर्यं सर्वाङ्गानि च कंपिरे।
जडीभूतं शरीरं च प्रदग्धं मदनानलात् ॥७॥

संप्राप्य तं चेद्रहसि सालापं कुरुते स्फुटम्।
सकटाक्षं स्मरवक्त्रं दर्शयित्वा पुनः पुनः ॥८॥

तथा यदि वशं कर्तुं न शशाक जितेन्द्रियम्।
स्वमङ्गं दर्शयित्वा तमन्तर्वाक्यं स्फुटं वदेत् ॥९॥

उसका मन अत्यन्त चंचल हो जाता है, अस्थिरता आ जाती है और उसके समस्त अंग काँपने लगते हैं, शरीर जड़ीभत हो उठता है और कामाग्नि से जलने लगता है। यदि इसने उसे एकान्त में पा लिया, तब तो उसे कटाक्ष से पुनः-पुन कामयुक्त मुख दिखलाकर उससे स्पष्ट वार्ता करने लगती है और इस प्रकार की चेष्टा से भी यदि उस जितेन्द्रिय पुरुष को वश में न कर सकी, तो उसे अपने अङ्गों को दिखाकर अपने अन्तःकरण की गुप्त अभिलाषा स्पष्टरूप से कह देती है ॥ ७-९ ॥

दुःसाध्ये नायके दुःखं भवेदाजन्मजन्मनि।
तत्तुल्यं तत्परं प्राप्य तं विस्मरति पुंश्चली ॥१०॥

पुंश्चलीनामप्रियः कः कः प्रियो वा महीतले।
योतिशृङ्गारनिपुणः स च प्राणाधिकः प्रियः ॥११॥

पूर्वं जारं पतिं पुत्रं भ्रातरं पितरं प्रसूम्।
विशिष्टं नूतनं प्राप्य सर्वं त्यजति लीलया ॥१२॥

नायक के दुःसाध्य होने पर उस पुंश्चली स्त्री को जन्म-जन्मान्तर में दुःख होता है और वह उसे तभी विस्मृत करती है जब उसी के समान अथवा उससे बढ़कर अन्य नायक उसे प्राप्त हो जाता है। पुंश्चली स्त्रियों के लिए इस पृथ्वी पर कौन अप्रिय है और कौन प्रिय है? इनके लिए वही प्राणों से भी अधिक प्रिय है, जो शृंगार करने में निपुण है। किसी विशेष नूतन जार पुरुष को पाकर वह पूर्व जार पति को, पुत्र को, भाई को, पिता को, और माता को—सबको खेल-खेल में छोड़ देती है ॥ १०-१२ ॥

न दानेन न मानेन सत्येन स्तवनेन वा।
नोपकारेण प्रीत्या वा सा साध्या सुरतिं विना ॥१३॥

शयने भोजने चापि स्वप्ने ज्ञाने दिवानिशम् ।
नित्यं सत्पुरुषाश्लेषं स्मरन्ति कुलटाः स्त्रियः ॥१४॥

शृङ्गारनिपुणानां च ध्यानसाध्या चिरं पदम् ।
दारुणापुंश्चली जातिः प्रार्थयन्ती नवं नवम् ॥१५॥

आत्यन्तिक रमण को छोड़ कर वह दान, मान, सत्य, स्तुति, उपकार अथवा प्रेम किसी से भी वश में नहीं की जा सकती है । कुलटा स्त्रियाँ सोते समय, खाते समय, स्वप्न में, जाग्रत् में रात-दिन नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों के साथ आलिंगन का स्मरण करती रहती हैं । यह दारुण पुंश्चली स्त्रियों की जाति नए-नए पुरुषों की इच्छा करती हुई शृंगारनिपुण पुरुषों को अधिक दिनों तक तथा अत्यधिक ध्यान से साध्य होती है ॥ १३-१५ ॥

यह छोटा-सा अध्याय केवल इसी निमित्त से लिखा गया है कि वे स्त्रियाँ, जो पुरुषों के दर्शनमात्र से चंचल हो उठती हैं, उनके स्वाभाविक आन्तरिक पतन के कारणभूत दुष्ट भावों को समझ कर, उनसे अपनी सर्वदा रक्षा करते हुए, जितेन्द्रिय होने का प्रयास करे । ये मर्यादा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द चेष्टा करने वाली दुष्ट नारियाँ विशेष विघ्नस्वरूपा हैं, जो अपने विभिन्न हाव-भाव एवं चेष्टाओं के द्वारा सर्वथा मोहित कर अपने पंजे में फाँस लेती हैं और नष्ट-भ्रष्ट कर घोर नरकों में बलात् ढकेल देती हैं ।



पुनः वैराग्यार्थ पञ्चचूडा-कथित स्त्री के स्वाभाविक दोषों का सुस्पष्ट वर्णन

[व्यास-सनत्कुमार संवाद]

व्यास उवाच

कुत्सितं योषिदर्थं यत्प्रोक्तं पंचचूडया ।
तन्मे ब्रूहि समासेन यदितुष्टोऽसि मे मुने ॥१॥

व्यास जी ने पूछा—हे मुने ! यदि आप मुझसे सन्तुष्ट हैं तो स्त्रियों के जो दोष पंचचूडा अप्सरा ने कहा है, वह सब संक्षेप से मुझसे कहिए ॥१॥

सनत्कुमार उवाच

स्त्रीणां स्वभावं वक्ष्यामि शृणु विप्र यथातथम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवेद्वैराग्यमुत्तमम् ॥२॥

सनत्कुमार जी ने कहा—हे विप्र ! सुनो, मैं स्त्रियों के स्वभाव को विधिपूर्वक वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवणमात्र से उत्तम वैराग्य उत्पन्न होता है ॥२॥

स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ताः सदा मुने ।
तदासक्तिर्न कर्तव्या मोक्षेप्सुभिरतन्द्रितैः ॥३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पंचचूडया ॥४॥

हे मुने ! ओछी बुद्धिवाली स्त्रियाँ समस्त दोषों की जड़ हैं इसलिए प्रमादरहित मोक्षाभिलाषी पुरुषों को स्त्रियों में आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिए । इस विषय में देवर्षिनारद का अप्सरा पंचचूड़ा के साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहास का यहाँ उदाहरण दिया जाता है ॥३-४॥

लोकान्परिचरन्धीमान्देवर्षिर्नारदः पुरा।
ददर्शाप्सरसं बालां पंचचूडामनुत्तमाम् ॥५॥

पप्रच्छाप्सरसं सुभ्रूं नारदो मुनिसत्तमः।
संशयो हृदि मे कश्चित्तन्मे ब्रूहि सुमध्यमे ॥६॥

एवमुक्ता तु सा विप्रं प्रत्युवाच वराप्सराः।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थां मन्यसेऽथ माम् ॥७॥

पहले की बात है कि सम्पूर्ण लोकों में विचरते हुए बुद्धिमान् देवर्षि नारद जी ने एक अत्यन्त सुन्दरी पंचचूड़ा नामक बाला अप्सरा को देखा। मुनिश्रेष्ठ नारद जी ने उस सुन्दर भौंहों वाली अप्सरा से पूछा—हे सुमध्यमे ! मेरे मन में कुछ संशय है उसके विषय में मुझे यथार्थ बात बतलाओ। ऐसा कहने पर उस सुन्दर अप्सरा ने ब्राह्मण को इस प्रकार उत्तर दिया—यदि आप मुझे उस प्रश्न का उत्तर देने के योग्य मानते हैं और वह यदि बतानेयोग्य है, तो उसे अवश्य बताऊँगी ॥५-७॥

नारद उवाच

न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथञ्चन।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतुं सुमध्यमे ॥८॥

श्रीनारदजी ने कहा—हे भद्रे ! मैं तुझे किसी अविषय में किसी प्रकार भी नहीं प्रवृत्त करूँगा। हे सुमध्यमे ! तुमसे मैं स्त्रियों के स्वभाव को सुनना चाहता हूँ ॥८॥

सनत्कुमार उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा।
प्रत्युवाच मुनीशं तं देवर्षिं मुनिसत्तमम् ॥९॥

श्रीसनत्कुमार जी ने कहा—इस प्रकार उन देवर्षि नारद जी का वचन सुनकर वह उत्तम अप्सरा उन मुनिश्रेष्ठ देवर्षि मुनीश नारद जी से बोली ॥९॥

पंचचूडोवाच

मुने शृणु न शक्या स्त्री सती वै निंदितुं स्त्रिया।
विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृश्यश्च स्वभावतः ॥१०॥

न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं प्रश्नमीदृशम् ।
इत्युक्त्वा साऽभवत्तूष्णीं पञ्चचूडाप्सरोवरा ॥११॥
अथ देवर्षिवर्यो हि श्रुत्वा तद्वाक्यमुत्तमम् ।
प्रत्युवाच पुनस्तां वै लोकानां हितकाम्यया ॥१२॥

पंचचूडा बोली—हे मुने ! सुनो, मैं स्त्री होकर स्त्रियों की निन्दा नहीं कर सकती । संसार में जैसी स्त्रियाँ हैं और उनके जैसे स्वभाव हैं, वे सब आपको विदित हैं । आप मुझे ऐसे प्रश्न में प्रवृत्त करने के योग्य नहीं हैं । ऐसा कह कर वह श्रेष्ठ अप्सरा पंचचूडा मौन हो गई । तब देवर्षि श्रेष्ठ नारद जी ने उस उत्तम वचन को सुन कर लोकों के हित की कामना से बोले ॥१०-१२॥

नारद उवाच

मृषावादे भवेद्दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ।
इति जानीहि सत्यं त्वं वदालस्तत्सुमध्यमे । १३॥

श्रीनारद जी ने कहा—हे सुमध्यमे ! झूठ बोलने में दोष होता है, सत्य कहने में कोई दोष नहीं है । अतः ऐसा जानकर तुम सच्ची बात कहो ॥१३॥

सनत्कुमार उवाच

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी ।
स्त्रीदोषाञ्शाश्वतान्सत्यान्भासितुं संप्रचक्रमे ॥१४॥

श्रीसनत्कुमारजी ने कहा—उनके इस प्रकार समझाने पर उस मनोहर-हास्यवाली अप्सरा ने कहने के लिए दृढ़निश्चय करके स्त्रियों के सच्चे और स्वाभाविक दोषों को बताना आरंभ किया ॥१४॥

पंचचूडोवाच

कुलीना नाथवंत्यश्च रूपवंत्यश्च योषितः ।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥१५॥
न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यद्वै पापीयस्तरमस्ति हि ।
स्त्रियो मूलं हि पापानां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥१६॥

पंचचूडा बोली :—नारद जी ! कुलीन, रूपवती और सनाथ युवतियाँ भी मर्यादा के भीतर नहीं रहती हैं, यह स्त्रियों में दोष है । स्त्रियों से बढ़-

कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। स्त्रियाँ समस्त पापों की जड़ हैं, इस बात को आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥१५–१६॥

समाज्ञानर्थवतः प्रतिरूपान् यथेप्सितान्।
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥१७॥
असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो।
पापीयसो नरान् यद्वै लज्जां त्यक्त्वाभजामहे ॥१८॥
स्त्रियं च यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥१९॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणांभयात्परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियास्तिष्ठन्तिभर्तृषु ॥२०॥

यदि स्त्रियों को दूसरों से मिलने का अवसर मिल जाय, तो वे सद्गुणों में विख्यात, धनवान्, अनुपम सौन्दर्यशाली तथा इच्छानुसार अपने वशीभूत पतियों की भी प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं। प्रभो! हम स्त्रियों में यह सबसे बड़ा पातक है कि हम पापी से पापी पुरुषों को भी लज्जा छोड़कर स्वीकार कर लेती हैं। जो पुरुष किसी स्त्री को चाहता है, उसके निकटतम पहुँचता है और उसकी थोड़ी-सी सेवा कर देता है, उसी को वे युवतियाँ चाहने लगती हैं। स्त्रियों में स्वयं मर्यादा का कोई ध्यान नहीं रहता। जब उनको कोई चाहने वाला पुरुष न मिले और परिजनों का भय बना रहे तथा पति पास हों, तभी ये नारियाँ मर्यादा के भीतर रह पाती हैं ॥ १७–२० ॥

नासां कश्चिदमान्योऽस्ति नासां वयसि निश्चयः।
सुरूपं वा कुरूपं वा पुमांसमुपभुंजते ॥२१॥
न भयादथ वा क्रोशान्नार्थं हेतोः कथञ्चन।
न ज्ञातिकुलसम्बन्धात्स्त्रियस्तिष्ठन्तिभर्तृषु ॥२२॥

इन स्त्रियों के लिए कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है जो अमान्य हो। उनका किसी अवस्था विशेष पर भी निश्चय नहीं रहता। कोई रूपवान् हो या कुरूप, "पुरुष है" बस, इतना ही समझकर स्त्रियाँ उसका उपभोग करती हैं। स्त्रियाँ न तो भय से, न दया से, न धन के लोभ से और न जाति या कुल के सम्बन्ध से ही पतियों के पास टिकती हैं ॥ २१–२२ ॥

यौवने वर्तमानानामिष्टाभरणवाससाम्।
नारीणां स्वैरवृत्तीनां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥२३॥

या हि शश्वद् बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः ।
अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥२४॥

पंगुष्वपि च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः ।
स्त्रीणामगम्यो लोकेषु नास्ति कश्चिन्महामुने ॥२५॥

जो जवान हैं, यथेच्छित वस्त्राभूषण धारण करने वाली हैं—ऐसी स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों के चरित्र को देखकर कितनी ही कुलवती स्त्रियाँ भी वैसे ही बनने की इच्छा करने लगती हैं। जो बहुत सम्मानित और पति की प्यारी स्त्रियाँ हैं, जिनकी सदा अच्छी तरह रखवाली की जाती है, वे भी घरमें आने-जाने वाले कुबड़ों, अन्धों, गूँगों और बौनों के साथ भी फँस जाती हैं।

महामुनि देवर्षे ! जो पङ्गु हैं अथवा जो अत्यन्त घृणित मनुष्य हैं, उनमें भी स्त्रियों की आसक्ति हो जाती है। इस संसार में कोई भी पुरुष स्त्रियों के लिए अगम्य नहीं है ॥ २३-२५ ॥

यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन् कथंचिन्नोपपद्यते ।
अप्यन्योन्यं प्रवर्तन्ते न च तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥२६॥

अलाभात्पुरुषाणां च भयात्परिजनस्य च ।
बधबन्धभयाच्चैव ता भग्नाशा हि योषितः ॥२७॥

ब्रह्मन् ! यदि स्त्रियों को पुरुष की प्राप्ति किसी प्रकार भी संभव न हो और पति भी दूर गए हों, तो वे आपस में ही कृत्रिम उपायों से ही मैथुन में प्रवृत्त हो जाती हैं। पुरुषों के न मिलने से, घर के दूसरे लोगों के भय से तथा बध और बंधन के भय से ही स्त्रियाँ हताश रहती हैं ॥ २६–२७ ॥

चलस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्याभावतस्तथा ।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह तथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥२८॥

नाग्निस्तुष्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकस्सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥२९॥

स्त्रियों का स्वभाव चंचल होता है। उनका सेवन बहुत कठिन काम है। इनका भाव शीघ्र किसी के समझ में नहीं आता, ठीक उसी तरह जैसे विद्वान् पुरुष की वाणी दुर्बोध होती है। काष्ठों से अग्नि कभी तुष्ट नहीं होती, समुद्र कभी नदियों से तृप्त नहीं होता, मृत्यु समस्त प्राणियों को एक साथ

पा जाय, तो भी उनसे तृप्त नहीं होती, इसी प्रकार सुन्दर नेत्रों वाली युवतियाँ पुरुषों से कभी तृप्त नहीं होतीं ॥ २८–२६ ॥

इदमन्यच्चदेवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषं सद्यो योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥३०॥

सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धंमलवर्जितम् ।
योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥३१॥

देवर्षे ! सम्पूर्ण स्त्रियों के सम्बन्ध में दूसरी भी रहस्य की बात यह है कि किसी भी पुरुष को देखते ही शीघ्र ही स्त्री की योनि गीली हो जाती है । अच्छी प्रकार स्नान किए हुए तथा सुगन्धयुक्त निर्मल मनुष्य को देखकर फूटे बर्तन से जल के समान स्त्रियों की योनि बहने लगती है ॥ ३०–३१ ॥

कामानामपि दातारं कर्तारं मनसां प्रियम् ।
रक्षितारं न मृष्यन्ति स्वभर्तारमलं स्त्रियाः ॥३२॥

न कामभोगात्परमान्नालंकारार्थं संचयात् ।
तथा हितं न मन्यन्ते यथा रतिपरिग्रहात् ॥३३॥

सम्पूर्ण कामनाओं के दाता तथा मनचाही करने वाला पति भी यदि उनकी रक्षा में तत्पर रहने वाला हो, तो वे अपने पति के शासन को भी सहन नहीं कर सकतीं । ये न तो काम-भोग की विशेष सामग्री से तथा न अलंकार एवं धन के संचय करने से उस प्रकार का हित मानती हैं जिस प्रकार रति-परिग्रह से हित मानती हैं ॥ ३२-३३ ॥

अन्तकश्शमनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥३४॥

यतश्चभूतानि महान्ति पञ्च
यतश्च लोको विहितो विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मिता-
सदेव दोषः प्रमदासु नारद ॥३५॥

काल, शान्त करने वाला मृत्यु, पाताल, वडवानल, छुरे की धार, विष, सर्प और अग्नि—ये सब विनाश के हेतु एक ओर और स्त्रियाँ अकेली दूसरी ओर—दोनों बराबर हैं । यानी उपर्युक्त काल आदि समस्त विनाश करने वाले साधनों का कार्य अकेली स्त्री स्वयं करती है । नारद ! जहाँ से

पाँचों भूत उत्पन्न हुए हैं, जहाँ से विधाता ने सम्पूर्ण लोक की सृष्टि की है, जहाँ से पुरुषों और स्त्रियों का निर्माण हुआ है, वहीं से स्त्रियों में सदा दोषों का ही विधान किया गया है अर्थात् ये वर्णित स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्या नारदस्तुष्टमानसः।
तथ्यं मत्वा ततस्तद्वै विरक्तोभूद्धि तासु च ॥३६॥

इत्युक्तः स्त्रीस्वभावस्ते पंचचूडोक्त आदरात्।
वैराग्यकारणं व्यास किमन्यच्छ्रोतुमर्हसि ॥३७॥

श्री सनत्कुमार जी ने कहा :—ऐसा उसका वचन सुनकर नारद जी संतुष्टचित्त हो, यह सब सत्य मानकर स्त्रियों से विरक्त हो गए।

हे व्यास जी ! इस प्रकार पंचचूडा द्वारा कथित स्त्री-स्वभाव आदर पूर्वक कह दिया, जो वैराग्य का कारण है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ३६-३७ ॥



वैराग्यार्थ स्त्री-स्वरूप का वर्णन

भगवान् श्रीराम १–२९

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिवशोभनम् ॥१।

त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम्।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥२॥

इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदा तनुः।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥३॥

यन्त्र के समान चंचल अंगरूपी पिंजरे में मांस की पुतली के समान स्नायु तथा अस्थि की ग्रन्थियों से निर्मित स्त्री के शरीर में कौन-सी वस्तु है, जिसे सुन्दर कहा जाय ?

त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजल को पृथक् करके नेत्र को देखो, यदि वह रमणीय है तो उस पर आसक्ति करो। यदि रमणीय नहीं है तो क्यों उस पर व्यर्थ ही मोहित होते हो ? अर्थात् नेत्र त्वचा, मांस, रक्त और आँसू—इनके अतिरिक्त वस्तु नहीं है, इन्हीं के समुदाय का नाम नेत्र है। भला, बतलाओ तो, त्वचा आदि में गर्हितता के सिवा रमणीयता क्या है ?

इधर केश हैं, उधर रक्त और मांस है—यही तो युवती स्त्री का शरीर है, इन सबमें रम्यता कहाँ ? ये सब नितान्त घृणास्पद और हेय हैं, इस कारण विवेक-सम्पन्न प्राज्ञ पुरुष को स्त्री के शरीर से क्या काम है ? ॥१-३॥

वासो विलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः।
तान्यङ्गान्यङ्ग लंठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥४॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥५॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्डइवाऽन्धसा। ६॥

बहुमूल्य वस्त्र और केशर, कस्तूरी आदि के लेप से जो सम्पूर्ण मनुष्यों

के शरीर कभी बार-बार सुशोभित हुए थे, उन्हें समय पाकर गृध्र, शृगाल आदि मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं। यही उनका अंतिम परिणाम है। जिस स्तनमण्डल पर मेरु पर्वत के शिखर प्रान्त से सोल्लास प्रवाहित होनेवाले गंगाजल के समान मोतियों के हार की शोभा देखी गई थी, मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओं की श्मशान भूमियों में नारी के उसी स्तन का, कुत्ते भात के छोटे पिण्ड की भाँति, अस्वादन करते हैं ॥५-६॥

रक्तमांसास्थिदिग्धानि करभस्य यथा वने।
तथैवाऽङ्गानि कामिन्यास्तां प्रत्यपि को ग्रहः ॥७॥

आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नाऽस्त्यत्र मुने मोहैककारणम् ॥८॥

विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम्।
को विशेषोविकारिण्या मदिरायाः स्त्रियास्तथा ॥९॥

जैसे वन में चरने वाले गदहे या ऊँट के अङ्ग रक्त, मांस और हड्डियों द्वारा बने हैं, वैसे ही स्त्री के अङ्ग भी उन्हीं उपकरणों द्वारा बने हैं, फिर उसी के लिए इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है?

केवल अविचार से ही लोगों ने स्त्री में रमणीयता की कल्पना कर रक्खी है, परन्तु मेरे मत से स्त्री-शरीर में अविचारजनित रमणीयता भी नहीं है; क्योंकि स्त्री में जो रमणीयता की प्रतीति होती है उसका कारण एकमात्र मोह है।

मन में विकार उत्पन्न करनेवाली मदिरा में और युवती स्त्री में क्या अन्तर है? एक जहाँ मद (नशे) के द्वारा मनुष्य को प्रचुर उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी काम का भाव जगा कर पुरुष के लिए आनन्ददायिनी बनती है। अतः श्रेय चाहने वाले पुरुष के लिए जैसे मदिरा हेय है, वैसे ही स्त्री भी हेय है ॥७-९॥

ललनालानसंलीना मुने मानवदन्तिनः।
प्रबोधं नाऽधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥१०॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखानार्यो दहन्ति तृणवन्नरः ॥११॥

ज्वलतामपि दूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥१२॥

ललना रूपी आलान में (हाथी को बाँधने के स्तम्भ में) मदरूपी मोह से सोए-जैसे मनुष्यरूपी हाथी परिपक्व शमरूपी अंकुश के प्रहारों से विवेक को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जैसे बन्धन-स्तम्भ में मद से सुप्तप्राय हाथी कठोर अंकुश के प्रहारों से नहीं जागता, वैसे ही स्त्री के समीप मोह वश सुप्तप्राय मनुष्य तीव्र शम, दम आदि से विवेक को प्राप्त नहीं होते।

जैसे काजल को धारण करने वाली, दाहक होने के कारण छूने के अयोग्य और नेत्रों को प्रिय लगने वाली अग्नि की ज्वाला तिनकों को जला डालती है, वैसे ही केश और काजल को धारण करनेवाली, छूने के अयोग्य नेत्रों को प्रिय लगने वाली (मनोहर) पाप रूपी अग्नि की ज्वालारूप स्त्रियाँ मनुष्य को जला डालती हैं।

वासनाओं से पूर्ण होने के कारण आपाततः सरस मालूम पड़ने वाली, लेकिन वास्तव में नीरस यहाँ स्थित स्त्रियाँ अति दूरवर्तिनी यमपुरी में भीषणरूप से धधक रही नरकाग्नियों की उत्तम लकड़ियाँ हैं ॥१०-१२॥

सत्कार्योच्छ्वासमात्रेण भुजङ्गदलनोत्कया।
कान्तयोद्ध्रियते जन्तुः करभ्येवोरगो विलात् ॥१३॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम्।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्ग बन्धनवागुराः ॥१४॥

ललना विपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः।
रतिश्रृङ्खलया ब्रह्मन् बद्धस्तिष्ठति मूकवत् ॥१५॥

जैसे टुकड़े-टुकड़े करने की इच्छावाली रीछनी (भालू की स्त्री) अपनी साँस से बिल में स्थित साँप को बिल से निकालकर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगों का धन और मन हरकर विनाश करने के लिए उत्कण्ठित स्त्री दिखावे के लिए किए गए मिथ्याभूत सत्कार द्वारा आश्वासन देकर मनुष्य को अपने वश में कर लेती है।

कामरूपी व्याध ने मूढ़-बुद्धि मनुष्यरूप पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्रीरूप जाल फैला रक्खे हैं।

स्त्रीरूप विशाल आलान में रतिरूपी जंजीर से बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगे के समान चुपचाप बैठा रहता है। अर्थात् असमर्थ

होने के कारण अपने छुटकारे के लिए किसी उपाय का अवलम्बन नहीं करता ॥१३-१५॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां वित्ताकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासना रज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥१६॥

मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानामिव दन्तिनाम् ।
पुंसा मन्त्र इवाऽहीनां बन्धनं वामलोचना ॥१७॥

नानारसवती चित्रा भोगभमिरियं मुने ।
स्त्रियमाश्रित्म संयाता परामिह हि संस्थितिम् ॥१८॥

जन्मस्थान रूपी छोटे-छोटे जलाशयों में उत्पन्न हो, धनरूपी पंक में विचरने वाले पुरुषरूपी मत्स्यों को फँसाने के लिए नारी वंशी के काँटे में लगी हुई आटे की गोली के समान है और दुर्वासना ही उस वंशी की डोर है। जैसे घोड़ों के लिए अश्वशाला बन्धन है, हाथियों के लिए आलान बन्धन है और साँपों के लिए मन्त्र बन्धन है, वैसे ही पुरुषों के लिए नारी बंधन है। विविध रसों से पूर्ण भोग की भूमि यह विचित्र पृथ्वी स्त्रियों ही के सहारे दृढ़स्थिति को प्राप्त हुई है। इस संसार की हेतु स्त्री ही है, यदि स्त्री न होती तो संसार कभी का विलीन हो गया होता ॥ १६–१८ ॥

किं स्तनेन किमक्ष्णा वा किं नितम्बेन किं भ्रुवा ।
मांसमात्र कसारेण करोम्यहमवस्तुना ॥१९॥

इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनोति वासरैः ।
ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्री विशरारुताम् ॥२०॥

यास्तात पुरुषैः स्थूलैर्लालिता मनुजैः प्रियाः ।
ता मुने प्रविभक्ताङ्ग्यः स्वपन्ति पितृभूमिषु ॥२१॥

स्त्री के स्तन से, नेत्र से, नितम्ब से (कमर का पिछला उभरा हुआ भाग) अथवा भौंह से, जिसमें सारवस्तु के नाम पर केवल मांस है, अतएव जो किसी काम की वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन ? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा ? इधर मांस, इधर रक्त और इधर हड्डियाँ हैं, यही नारी का शरीर है, जो कुछ ही दिनों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है।

जिन्हें अदूरदर्शी पुरुषों ने बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा था, वे प्रियतमाएँ समय पाकर श्मशान में छिन्न-भिन्न होकर सोती हैं ॥ १९–२१ ॥

यस्मिन् घनतरस्नेहं मुखे पत्राङ्कुराः स्त्रियः।
कान्तेन रचिता ब्रह्मन् पीयते तेन जङ्गले ॥२२॥

केशाः श्मशानवृक्षेषु यान्ति चामरलेखिकाम्।
अस्थीन्युडुवदाभान्ति दिनैरवानि मण्डले ॥२३॥

पिबन्ति पांसवो रक्तं क्रव्यादाश्चाप्यनेकशः॥
चर्माणि च शिवा भुङ्क्ते खं यान्ति प्राणवायवः ॥२४॥

इत्येषा ललनाङ्गानामचिरेणैव भाविनी।
स्थितिर्मया वः कथिता किं भ्रान्तिमनुधावथ ॥२५॥

प्रिया के जिस मुख में प्रियतम पति ने बड़े प्रेम से कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दनादि से भाँति के तिलक आदि बनाए थे, वही मुख थोड़े दिनों में निर्जन बन में सूखता है। उनके सिर के बाल राख से धूसर होने के कारण श्मशान के वृक्षों में चँवर—ऐसे मालूम होते हैं और उनकी मांस और रक्त से शून्य सफेद हड्डियाँ पृथ्वी में तारों के समान चमचमाती मालूम पड़ती हैं। उनके शरीर के रक्त को धूल सुखाती है और मांसाहारी जीव भी झुण्ड के झुण्ड उन पर टूट पड़ते हैं, उनके चाम को शृगाल नोच-नोच कर खाते हैं और उनका प्राणवायु आकाश में चला जाता है।

ऐ संसार के मनुष्यों! स्त्री के अंगों का थोड़े ही काल में होने वाला यह परिणाम मैंने आप लोगों से कहा। उसमें आप लोग क्यों भ्रांति कर रहे हैं? ऐसे नाशवान् स्त्री के शरीर की सुन्दरता और सत्यता का भ्रम निर्मूल है।
॥ २२-२५ ॥

भूतपञ्चकसंघट्टसंस्थानं ललनाभिधम्।
रसादभिपतत्वेतत्कथं नाम धियाऽन्वितः ॥२६॥

शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः।
निबद्धः करिणी लोलो विन्ध्यखाते यथा गजः ॥२७॥

को नामाऽतिशयः पुंसां स्त्रीनाम्न्यपर नाम्नि च।
पेलवे भूतसंघाते प्रोद्भूतजन पातव्रत ॥२८॥

पाँच भूतों के सम्मिश्रण से बना हुआ अंगों का संगठन ही "नारी" नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। अतः विवेकबुद्धि सम्पन्न कोई भी पुरुष आसक्ति से प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा?

जैसे हथिनी के लिए चंचल हुआ हाथी, विन्ध्याचलपर्वत पर उसे फँसाने के लिए बनाए गए गड्ढे में गिर कर बँध जाता है और परम शोचनीय अवस्था को पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी स्त्री के मोह में फँसे हुए तरुण पुरुष की होती है। जिसका "स्त्री" नाम यह दूसरा अभिधेय है, ऐसे तुच्छ भूतों के समूह में यानी स्त्री शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसा कौन विशेष प्रतीत होता है, जिससे की उनकी अग्नि में फतिङ्गे की नाईं विषयाग्नि में व्यामोह और राग से दृश्यमान गिरने की चेष्टा युक्ति-संगत कही जाय ॥ २६–२८ ॥

संनिवेशांशवैचित्र्यमज्ञानामेव तुष्टये।
तज्ज्ञानां तु यथाभूत भूतपञ्चक दर्शनम् ॥२९॥

पुत्रिकारक्तमांसस्य कान्तेयमिति सादरम्।
स्वदेहनाम्नाऽस्थिचये श्लिष्यते मोहकक्रमः ॥३०॥

अङ्गमङ्गेनसम्पीड्य मांसंमांसेन च स्त्रियः।
पुराऽहमभवं प्रीतो यत्तन्मोहविजृम्भितम् ॥३१॥

सुकुमार और सुन्दर अवयवों के संनिवेश अंश को लेकर वैलक्षण्य का जो उपपादन करते हैं, वह तो केवल अज्ञानियों के लिए ही संतोष का विषय हो सकता है, पर जो तत्त्वज्ञ हैं उनको तो उसमें उपस्थित पाँच भूतों का ही दर्शन होता है। हड्डियों के समूह में 'देह' नाम वाला पुरुष रक्त और मांस की पुतली का 'यह मेरी प्रेयसी है' इस बुद्धि से जो आदर सहित आलिंगन करता है, वह मोहक काम का क्रम है।

पहले मैं स्त्री के अंग से अंग का, मांस से मांस का संमर्दन कर जो प्रसन्न हुआ था, वह मेरा अज्ञान-विलास ही था ॥२९–३१॥

योगी भर्तृहरि

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुल श्रोणीभरेत्युत्सुकः
पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽतिरमते प्रस्तौति जानन्नपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥३२॥

अहो! मोह की कैसी विचित्र महिमा है कि बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित भी प्रत्यक्ष ही अपवित्रता की पुतली—स्त्री को देखकर मोहित हो जाते हैं, उसकी स्तुति करते हैं, आनन्दित होते हैं, रमण करते हैं और उत्कण्ठित होकर हे कमलनयनी! हे विशाल नितम्बोंवाली! हे विशालाक्षी! हे

कल्याणि ! हे शुभे ! हे पुष्टपयोधरवाली ! हे सुन्दर भौंहोंवाली ! प्रभृति नाना प्रकार के सम्बोधनों से उसे सम्बोधित करते हैं ॥३२॥

महर्षि वसिष्ठ

क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेय कवलाङ्गिकाः ।
स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥३३॥

सौवर्णं कलशाम्भोज कलिका मातुलुङ्गवत् ।
दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥३४॥

रसायनेन्दु निस्यन्द मधुविम्बासव द्रवैः ।
ओष्ठाभिधो मांसलवो लालक्त उपमीयते ॥३५॥

अल्पाल्पाष्ठीवदाकारा भुजाक्रास्थिशङ्कवः ।
महाबाहुलताशब्दैर्वर्ण्यन्ते कविभिः शुभैः ॥३६॥

कदलीस्तम्भसम्भार सुन्दरीभिस्तथा भृता ।
कुचशोभोचितानन्दा तोरणालिर्विराजते ॥३७॥

अज्ञान की विभूतियों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए बताया गया है कि—कच्चे मांस का भक्षण करने वाले गीध, गीदड़, कुत्ता आदि के कवल (कौल) के योग्य अंगोंवाली स्त्रियों का चन्द्र, चन्दन और कमल से जो सादृश्य दिया जाता है, वह भी अज्ञान का ही विलास है।

वास्तव में रक्त पूति गंध या लहू या पीप का दुर्गन्ध ही जिसका सुगन्ध है, ऐसी स्त्रियों की स्तन-श्रेणी, जो लोक में स्वर्ण-कलश, कमल कुड्मल एवं विजौरा नीबू के सदृश दिखाई पड़ती है, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है। लार से आर्द्र ओष्ठ नामक मांस का टुकड़ा जो रसायन, अमृत, मधु, विम्ब एवं मद्य के साथ उपमित होता है, वह भी अज्ञान का ही विलास है। प्रत्येक का विभाग कर यदि देखा जाय तो छोटे-छोटे पोर के सदृश आकार वाले जो भुजात्मक क्रूर हड्डीरूपी बर्छियाँ हैं उनका सुन्दर भुजलता आदि उत्तम शब्दों से कवि लोग जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान की ही विभूति है। इसी प्रकार कदली के स्तम्भ युगलरूपी जंघों की सामग्री से युक्त सुन्दर रमणियों के द्वारा धारण की गई तथा स्तनरूपी कलशों की शोभा से द्रष्टाओं के नेत्रों को आनन्द देनेवाली तोरण-पंक्ति यानी काम-मन्दिर की तोरणमाला रूप करधनी सुशोभित हो रही है, इत्यादि रूप से कवि लोग करधनी का जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है। ॥३३—३७॥

महर्षि अगस्त

सुवर्णगौरीदूर्वायादलवच्छ्यामलापि वा।
पीनोत्तुङ्गस्तनाभोगभुग्नसूक्ष्मविलाग्निका ॥३८॥
बृहन्नितम्बजघना रक्तपादसरोरुहा।
राकाचन्द्रमुखी विम्बप्रतिविम्बरदच्छदा ॥३६॥
नीलेन्दीवरनीकाश नयनद्वयशोभिता।
मत्ताकोकिलसंल्लापा मत्ताद्विरदगामिनी ॥४०॥
कटाक्षैरनुगृह्णाति मां पञ्चेषुशरोत्तमैः
इति यां मन्यते मूढः स तु पञ्चेषु शासितः ॥४१॥

जिसके स्वर्ण के समान गौरवर्ण अथवा दूर्वादल के समान श्यामरूप है, कुचकलश जिसके उन्नत हैं, मध्यभाग सूक्ष्म है, बड़े नितम्ब और जाँघों वाली है तथा जिसका चरणतल कमल के सदृश रक्त वर्ण है, मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है, पके विम्वाफल के समान अधरोष्ठ हैं, नील-कमल के समान जिसके विशाल नेत्र हैं, मत्त कोकिला के समान जिसके वचन और मत्त हाथी के समान जिसकी चाल है—ऐसी स्त्री कामदेव के वाण के समान कटाक्षों से मेरे ऊपर कृपा कर रही है, इस प्रकार जो मूर्ख मानता है, वही काम का शिष्य है तथा वही काम के द्वारा शासित होता है ॥३८—४१॥

भगवान् श्री राम

अनुरक्ताङ्गना लोललोचनालोकिताकृति।
स्वस्थी कर्तुं मनः शक्तो न विवेको महानपि ॥४२॥

सती श्रीपद्मादेवी

स्त्रीजित स्पर्शमात्रेण सर्वं पुण्यं प्रणश्यति।
न भूमौ पातकी पापात् पापिनां स्त्रिजितात्परः ॥४३॥

अनुरागयक्त महिलाओं के चंचल लोचनों के कटाक्ष-विक्षेप के लक्ष्य बने हुए मन को महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर सकता।

स्त्री के द्वारा जीते हुए पुरुष को स्पर्श करके सारा पुण्य नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण पृथ्वी पर के पापियों में स्त्री के द्वारा जीते गए पापी से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥४२–४३॥

महर्षि कश्यप

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसा मतिर्हृता ॥४४॥
शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥४४॥

न हि कश्चित्प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् ।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥४६॥

सृष्टि के प्रभात में ब्रह्मा जी ने देखा कि सभी जीव असंग हो रहे हैं, तब उन्होंने अपने आधे शरीर से स्त्रियों की रचना की और स्त्रियों ने पुरुषों की मति अपनी ओर आकर्षित कर ली। सच है, स्त्रियों के चरित्र को भला, कौन जानता है। इनका मुँह तो ऐसा होता है जैसे शरद ऋतु का खिला हुआ कमल। बातें सुनने में ऐसी मीठी होती हैं मानो अमृत घोल रक्खा हो; परन्तु हृदय! वह तो इतना तीखा होता है मानो छूरे की पैनी धार हो। इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियाँ अपनी लालसाओं की कठपुतली होती हैं। सच पूछो, तो वे किसी से प्यार नहीं करतीं। स्वार्थवश वे अपने पति, पुत्र और भाई तक को मार डालती हैं या मरवा डालती हैं। ॥४४-४६॥

चक्रवर्ती सम्राट् पुरुरवा

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥४७॥
तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियाः ॥४८॥

कहाँ तो यह मैला-कुचैला दुर्गन्ध से भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध और पुष्पोचित गुण। परन्तु अज्ञानवश असुन्दर में सुन्दरता का आरोप किया गया है। श्वान, शृगाल एवं गृद्धों आदि तुच्छ जीवों के आहारभूत इस मल-मूत्र से पूर्ण अत्यन्त ही अपवित्र शरीर पर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि अहो! इस स्त्री का मुखड़ा कितना सुन्दर है, नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुसुकान कितनी मनोहर है ॥४७-४८॥

भगवान् ब्रह्मा

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोऽस्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥४९॥

क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः ।
क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥५०॥

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥५१॥

चमड़ी, मांस, रक्त, नाड़ी, मज्जा, मेद और हड्डियों के समुदायरूप इस स्त्री-शरीर में रमने वाले पुरुषों तथा मल-मूत्र और पीब में रमण करने वाले कीड़ों में कितना अन्तर है ? सम्पूर्ण कफ आदि घृणित वस्तुओं की महाराशिरूप यह शरीर कहाँ और अङ्गशोभा, सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण कहाँ ? मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियों के समुदायरूप इस स्त्री-शरीर में यदि प्रीति करता है तो नरक में भी उसकी अवश्यमेव प्रीति होगी ॥४६-५१॥

स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपिमनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥५२॥

चर्मखण्डंद्विधाभिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहस किमतः परम् ॥५३॥

स्त्रियों के उच्चारण न करने योग्य गुप्त अंग और सड़े हुए नाड़ी के घाव में कोई भेद न होने पर भी मनुष्य अपने मन की मान्यता के भेद से प्रायः ठगा जाता है। स्त्रियों का वह गुप्त अङ्ग क्या है ?—दो भागों में विदीर्ण हुआ चर्मखण्डमात्र। वह भी अपानवायु के निकलने से दुर्गन्ध-पूर्ण रहता है। जो लोग उसमें रमण करते हैं उन्हें नमस्कार है ? भला, इससे बढ़कर दुस्साहस और क्या हो सकता है ? ॥५२-५३॥

देवर्षि नारद ५४-५७

नन्वाग्निः प्रमदानाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥५४॥
कल्पयित्वाऽऽत्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।
द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥५५॥
जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः ॥५६॥

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीय रतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥५७॥

स्त्रियाँ आग के समान हैं और पुरुष घी के घड़े के समान। एकान्त में तो अपनी कन्या के साथ भी नहीं रहना चाहिए। जब वह एकान्त में न हो, तब भी आवश्यकता के अनुसार ही उसके पास रहना चाहिए। जब तक यह जीव आत्मसाक्षात्कार के द्वारा इन देह और इन्द्रियों को प्रतीतिमात्र निश्चय करके स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक 'मैं पुरुष हूँ

और यह स्त्री है'—यह द्वैत नहीं मिटता और तब तक यह भी निश्चित है कि ऐसे पुरुष यदि स्त्री के संसर्ग में रहेंगे, तो उनकी उनमें भोग-बुद्धि हो ही जाएगी। लोग जिस स्त्री के लिए अपने प्राण तक दे डालते हैं, यहाँ तक कि अपने माँ-बाप और गुरु को भी मार डालते हैं, उस स्त्री से जिसने अपनी ममता हटा ली, उसने स्वयं नित्यविजयी भगवान् पर भी विजय प्राप्त कर ली। यह शरीर अन्त में कीड़े, विष्ठा या राख की ढेरी होकर रहेगा। कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और इसके लिए जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री, और कहाँ अपनी महिमा से आकाश को भी ढक रखने वाला अनन्त आत्मा ! ॥५४-५७॥

लिङ्ग पुराण में भी कहा गया है कि :—

स्त्रियः सदा परित्याज्याः स्त्रीसंगं न च कारयेत्।
कुणपेषु यथा चित्त तदा कुर्याद्विचक्षणः ॥५८॥
विण्मूत्रोत्सर्गकालेषु बहिर्भूमौ यथा मतिः।
तथा कार्या रतौ चापि स्वदारे चान्यतः कुतः ॥५९॥
भोगेन तृप्तिर्नैवास्ति विषयाणां विचारतः।
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनसाकर्मणागिरा ॥६०॥
अविरक्तो यतो मर्त्यो नानायोनिषु वर्तते ॥६१॥

स्त्रियाँ सदैव परित्याज्य हैं, स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिए। विद्वान् पुरुष को चाहिए कि शव के प्रति मन में जो भाव हो सकता है वही भाव स्त्रियों के भी प्रति रक्खे। मल-मूत्र का उत्सर्ग करने के समय बाह्य भूमि में जैसी बुद्धि रहती है वैसी ही बुद्धि अपनी स्त्री के साथ रमण करने में भी करनी चाहिए। तो फिर दूसरी स्त्रियों में भिन्न-बुद्धि कहाँ से होगी ? विचार करके देखा जाय तो मनुष्य को विषयों से तृप्ति कभी होती ही नहीं। इसलिए मन, वाणी और शरीर से इन विषयों के प्रति सर्वदा वैराग्य ही करना चाहिए; क्योंकि वैराग्यशून्य मनुष्य नाना योनियों में केवल चक्कर ही काटता रहता है ॥५८–६१॥

आत्मपुराण में भी मोक्षाश्रमी पुरुषों के लिए बताया गया है कि ।—

आत्मनः क्षेममन्विच्छंश्चतुर्थाश्रममागतः।
न कुर्याद्योषितां सङ्गं मनसावपुषेन्द्रियैः ॥६२॥

विलीयते घृतं यद्वदग्नेः संसर्गतस्तथा।
नारी संसर्गतः पुंसो धैर्यं नश्यति सर्वथा ॥६३॥

एक एव प्रतीकारो नारीसर्पविषे भुवि।
आसाञ्च स्मरणं तद्वद्दर्शनादेश्च वर्जनम् ।६४॥

जो अपने आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति के लिए संन्यास-आश्रम को स्वीकार किया है उसको चाहिए कि वह मन, शरीर तथा इन्द्रियों से कभी भी स्त्री का संग न करे, क्योंकि वह उस आश्रम से च्युत करने वाला है। जैसे अग्नि के सम्पर्क से घृत पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्री के संसर्ग से पुरुष की धीरता सर्वथा नष्ट हो जाती है। इस पृथ्वीतल में स्त्रीरूपी सर्प के विष के हटाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य स्त्रियों के रूप का स्मरण एवं प्रत्यक्ष दर्शन कभी भी न करे ॥६२–६४॥

भगवान् ब्रह्मा ६५-६६

न संभाषेत्स्त्रियं काचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥६५॥
एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥६६।

कल्याणकामी पुरुष कभी भी स्त्री से संभाषण न करे, पूर्वपरिचित किसी भी स्त्री का स्मरण भी न करे, स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित कोई चर्चा भी न सुने; क्योंकि मोहपूर्वक की गई स्त्री सम्बन्धी चर्चा, उसका स्मरण, स्त्रीचित्रावलोकन तथा सम्भाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति अवश्यमेव होती है और वह उसकी योगभ्रष्टता का कारण होता है ॥६५-६६॥

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्त्रीषु न विश्वसेत्।
सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥६७॥

वासना यत्र यस्य स्यात्स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासनातो वपुर्नृणाम् ॥६८।

कामिनां कामिनीनां च सङ्गात्कामी भवेत्पुमान्।
देहान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते ॥६९॥

कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति ॥७०॥

अत्यन्त वृद्ध हुआ विद्वान् संन्यासी सुवृद्धा स्त्री का भी विश्वास न करे, क्योंकि पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा ही लगाया जाता है।

जिसमें जिसकी वासना रहती है, वही उसको स्वप्न में दीखता है। स्वप्न की भाँति मरण में भी समझ लेना चाहिए। मरण काल में जिसकी वासना जिसमें रहती है उसी को या उसी रूप को वह प्राप्त होता है क्योंकि वासनामय ही इसका वपु है। कामी पुरुषों के और स्त्रियों के संग से पुरुष भी कामी हो जाता है उसके परिणामस्वरूप जन्मान्तर एवं देहान्तर में भी क्रोधी, लोभी और मोही हो जाता है। इस प्रकार काम-क्रोधादिकों के सम्बन्ध से मन भी अशुद्ध हो जाता है और अशुद्ध मन में उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान भी सर्वथा विनष्ट हो जाता है ॥६७–७०॥

कामक्रोधादिसंसक्तो ब्रह्मज्ञानविवर्जितः।
मार्गद्वयपरिभ्रष्टस्तृतीयं मार्गमाव्रजेत् ॥७१॥
तृतीयेऽध्वनि संप्राप्तः पुण्यविद्याविवर्जितः।
कीटादिदेहभाजी सन्नरकाच्च न निःसरेत् ॥७२॥
श्रेयस्कामस्ततो नित्यं चतुर्थाश्रममागतः।
कामिनां कामिनीनां च संगं सर्वात्मना त्यजेत् ॥७३॥

जो पुरुष काम, क्रोधादिकों में संसक्त एवं ब्रह्मज्ञान से शून्य है वह ज्ञान और उपासनारूप मार्गद्वय से परिभ्रष्ट हुआ, तृतीयमार्ग को यानी कृमि-कीट आदि योनियों को ही प्राप्त होता है। तृतीय मार्ग को प्राप्त होकर पुनः वह पुण्यविद्या से सर्वथा रहित हो जाता है इसके फलस्वरूप केवल कीट आदि शरीर को ही प्राप्त करने वाला वह पुरुष नरक से कभी निस्तार को प्राप्त नहीं हो पाता। इसलिए चतुर्थाश्रमावलम्बी कल्याणकामी पुरुष को चाहिए कि वह सर्व प्रकार से प्रयत्नपूर्वक स्त्रियों एवं स्त्री-लम्पट कामी पुरुषों का संग परित्याग कर दे ॥७१–७३॥

अवधूतशिरोमणि श्री शुकदेवजी ७४

उत्तानोच्छिन्नमण्डूकपाटितोदरसंनिभे।
क्लेदिनीच्छाव्रणे शुक्तिसंनिभे कस्य जायते ॥७४॥

उत्तान करके काटे गए मेढक के फटे हुए पेट के समान, आर्द्र व्रण के समान, सीपी के समान, उस स्त्री की योनि में रमण की किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ? ॥७४॥

जिताहारोऽथवा वृद्धोविरक्तो व्याधितोऽपि वा ।
यतिर्न गच्छेत्तं देशं यत्र स्यात्प्रतिमास्त्रियः ।७५॥

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत्तु मैथुनम् ।
षष्टिवर्ष सहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥७६॥

विषयासक्तचित्तो हि यतिर्मोक्षं न विन्दति ।
यत्नेन विषयासक्ति तस्माद्योगी विवर्जयेत् ॥७७॥

विषवल्ली मर्हाद्रिध्ये बाधते प्राणिनं यथा ।
योषित्स्पर्शी तथा वायुर्बाधते मस्करीश्वरम् ॥७८॥

यति जिताहार हो अथवा वृद्ध, विरक्त हो या रोग के द्वारा पीड़ित हो,— किसी भी अवस्था में उस क्षेत्र में न जाय, जहाँ पर स्त्रियों का रूप दृष्टिगोचर होता हो। जो संन्यासी होकर पुनः स्त्री के साथ मैथुन का सेवन करता है वह इस पाप के फलस्वरूप साठ हजार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा होता है। जिस यति का चित्त विषयों में आसक्त रहता है, वह विदेह कैवल्यरूप मोक्ष को कदापि नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए साधन-सम्पन्न योगी को चाहिये कि वह प्रयत्नपूर्वक अपने चित्त को विषयासक्ति से पूर्णतया निवृत्त करे। जिस प्रकार विष की लता विन्ध्याचल पर्वत पर प्राणियों को अपने स्पर्श से पीड़ित करती है उसी प्रकार स्त्री को स्पर्श करने वाली वायु बुद्धिमान् को भी पीड़ित करती है ॥ ७५-७८ ॥

संभाषणावलोकादि दूरे तिष्ठति योषिताम् ।
अहिदंशस्मृतिरिव स्मृतिस्तासां मृतिप्रदा ॥७९॥

योषिन्मूला बुधैः प्रोक्ता सर्वेऽनर्थाः शरीरिणाम् ।
अपि ब्रह्मेन्द्रचन्द्रादि देवानां का कथा नृणाम् ॥८०॥

अपि राज्यं नरकवत्स्वर्णं पश्येच्च लोष्ठवत् ।
स्त्रियं कुणपवत्पश्येद्यस्तादृश दुर्लभो यतिः ॥८१॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्तईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥८२॥

स्त्रियों के सम्भाषण एवं अवलोकन आदि से सर्वथा दूर रहना चाहिए। कल्याणकामियों के लिए उनकी स्मृति भी सर्पदंश की स्मृति की भाँति

मृत्युप्रद होती है। विद्वानों का कथन है कि सभी शरीरधारियों के लिए एकमात्र स्त्रियाँ ही समस्त अनर्थों की मूल कारण हैं। यहाँ तक कि जब ब्रह्मा, इन्द्र एवं चन्द्र आदि देवताओं के लिये भी अनर्थकारक सिद्ध हुई हैं तो फिर सामान्य मनुष्यों की क्या बात है?

जो राज्य को नरक के तुल्य, स्वर्ण को मिट्टी के ढेले के तुल्य एवं स्त्री को शव के तुल्य देखता है ऐसा यति इस भूमण्डल पर अत्यन्त ही दुर्लभ है। अतः मोक्षाभिलाषी पुरुष को चाहिए कि वह विषयभोगलम्पट प्राणियों का संग दूर से सर्वथा परित्याग कर दे और क्षणभर के लिये भी अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने दे। वह एकाकी विचरण करता हुआ, एकान्त में अपने चित्त को स्वरूपभूत सर्वव्यापी परमात्मा में जोड़े। यदि संग करने की अपेक्षा ही हो, तो वह अपने साधन में सहायकभूत परमात्मनिष्ठासम्पन्न महापुरुषों का ही केवल संग करे ॥ ७६-८२ ॥

पुनः वैराग्यार्थं मनुष्यों के नरकपात का हेतुभूता स्त्रियों के स्वाभाविक दोषों का विशद् वर्णन

श्रीतुलसी देवी १-२१

आपातमधुरामन्ते चान्तकां पुरुषस्यताम् ।
विषकुम्भाकाररूपाममृतास्याञ्च संततम् ॥१॥

हृदये क्षुरधाराभां शश्वन्मधुरभाषिणीम् ।
स्वकार्यंपरिनिष्पत्तितत्परां सततं सदा ॥२॥

कार्यार्थे स्वामिवशगामन्यथैवावशां सदा ।
स्वान्तर्मलिनरूपां च प्रसन्नवदनेक्षणाम् ॥३॥

श्रुतौ पुराणे यासां च चरित्रमतिदूषितम् ।
तासु को विश्वसेत्प्राज्ञो. ह्यप्राज्ञ इव सर्वदा ॥४॥

देखने में सुन्दर लगने पर भी अन्त में पुरुषों का नाश करने वाली, सदा अमृततुल्य मुख होने पर भी विषपूर्ण घट के सदृश रूपवाली, हृदय में छुरे की धार की आभा वाली, सदैव मधुरभाषण करने वाली, नित्य-निरन्तर अपने कार्य की सिद्धि करने में तत्पर रहने वाली, अपने स्वार्थ के लिए ही अपने स्वामी के वश में रहने वाली, अन्यथा सर्वदा वश में न रहने वाली, मलिन अन्तःकरणवाली, प्रसन्न मुख और नेत्रों वाली उस स्त्री का, जिसका अति दूषित चरित्र श्रुतियों एवं पुराणों में सर्वत्र निरूपण किया गया है, कौन प्रज्ञावान् पुरुष प्रज्ञाहीन की भाँति विश्वास करे ? ॥ १-४ ॥

तासां को वा रिपुर्मित्रं प्रार्थयन्तीं नवं नवम् ।
दृष्ट्वा सुवेशं पुरुषमिच्छन्तीं हृदये सदा ॥५॥

बाह्ये स्वात्मसतीत्वं च ज्ञापयन्तीं प्रयत्नतः ।
शश्वत्कामां च रामां च कामाधारां मनोहराम् ॥६॥

बाह्ये छलाच्छादयन्तीं स्वान्तर्मैथुनलालसाम् ।
कान्तं ग्रसन्तीं रहसि बाह्येऽतीव सुलज्जिताम् ॥७॥

मानिनीं मैथुनाभावे कोपिनीं कलहाङ्कुराम् ।
संभीतां भूरिसम्भोगात्स्वल्प मैथुनदुःखिताम् ॥८॥

सुमृष्टान्नं शीततोयमाकाङ्क्षन्तीं च मानसे।
सुन्दरं रसिकं कान्तं युवानं गुणिनं सदा ॥९॥

सुतात्परमतिस्नेहं कुर्वन्तीं रतिकर्त्तरि।
प्राणाधिकं प्रियतमं सम्भोगकुशलंप्रियम् ॥१०॥

पश्यन्तीं रिपुतुल्यं च वृद्धं वा मैथुनाक्षमम्।
कलह कुर्वन्तीं शश्वत्तेनसार्द्धं सुकोपनाम् ॥११॥

शश्वत्कपटरूपां च सर्वदोषाश्रयां सदा।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां दुस्त्यज्यां मोहरूपिणीम् ॥१२॥

तपोमार्गार्गलां शश्वन्मुक्तिद्वारकपाटिकाम्।
हरेर्भक्तिव्यवहितां सर्वमायाकरण्डिकाम् ॥१३॥

संसारकारागारे च शश्वन्निगडरूपिणीम्।
इन्द्रजालस्वरूपां च मिथ्या च स्वप्नरूपिणीम् ॥१४॥

बिभ्रतीं बाह्यसौन्दर्यमध्याङ्गमतिकुत्सितम्।
नाना विण्मूत्रपूयानामाधारं मलसंयुतम्।
दुर्गन्धिदोषसंयुक्तं रक्ताक्तं चाप्यसंस्कृतम् ॥१५॥

मायारूपं मायिनां च विधिना निर्मितं पुरा।
विषरूपां मुमुक्षूणामदृश्यां चैव सर्वदा ॥१६॥

भला, उन स्त्रियों का कौन शत्रु है और कौन मित्र है ? जो कि नित्य नए-नए पुरुषों की याञ्चा करने वाली, सुन्दरवेषयुक्त पुरुष को देखकर हृदय में सदा उसकी इच्छा रखने वाली, बाहर से प्रयत्नपूर्वक अपना सतीत्व प्रदर्शित करने वाली, सदैव काम-भाव से युक्त रहने वाली, रमण के लिए सदैव उद्यत रहने वाली, काम की आधारभूता होकर मन का हरण करने वाली, बाह्यरूप में अपने अन्दर की मैथुन-लालसा को छल-पूर्वक छिपानेवाली, एकान्त में प्रियतम को ग्रस लेने वाली, बाह्यरूप में अत्यधिक लज्जावाली, मैथुन का अभाव होने पर मान करने वाली, कोपन-शीलवाली, कलह के लिए अंकुररूपवाली, अत्यधिक संभोग से भयभीत रहनेवाली, अत्यल्प मैथुन से दुःखी रहने वाली, मन में अच्छे मिष्ठान्न एवं शीतल जल की आकांक्षा करने वाली, सदैव गुणयुक्त, सुन्दर, युवक, रसिक, रतिकर्त्ता प्रियतम पर पुत्र से भी अधिक स्नेह करने वाली, सम्भोग में कुशल प्रियतम को प्राणों से भी अधिक प्रिय समझनेवाली, वृद्ध अथवा मैथुन में असमर्थ पुरुष को शत्रु तुल्य देखनेवाली, उसके साथ सदा-सर्वदा

कलह करनेवाली, अत्यन्त अधिक कोपवाली, निरन्तर कपटरूपवाली, सर्वदोषों के आश्रयरूपवाली, ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि के लिए भी कठिनाई से त्यागी जाने वाली, मोहरूपवाली, तपोमार्ग के लिए अर्गलास्वरूपिणी, मुक्ति के द्वार के लिए सर्वदा किवाड़ीरूपवाली, विष्णु की भक्ति में व्यवधानरूपवाली, सब प्रकार की मायाओं की पिटारीरूपवाली, संसार रूपी कारागार में जकड़ने के लिए नित्यबेड़ीरूपवाली स्त्री इन्द्रजालस्वरूपा एवं स्वप्न के समान मिथ्या कही गई है। यह बाहर से तो अत्यन्त सुन्दरता धारण करती है परन्तु उसके भीतर के अङ्ग अतिकुत्सितभावों से परिपूर्ण हैं। उसका शरीर विष्ठा, मूत्र, पीब और मल आदि नाना प्रकार की दुर्गन्धपूर्ण वस्तुओं का आधार है। रक्तरञ्जित तथा दोषपूर्ण यह नारी शरीर कभी भी पवित्र नहीं रहता। सृष्टि की रचना के समय भगवान् ब्रह्मा ने मायावी व्यक्तियों के लिए ही इस मायास्वरूपिणी स्त्री का सृजन किया है। मोक्षाभिलाषी मुमुक्षुओं के लिए यह सर्वदा ही विषवत् काम करती है। इसलिए मोक्षकामी पुरुषों के लिए कभी भी स्त्रियाँ दर्शनीय नहीं हैं ॥५-१६॥

निन्दति पितरोदेवाबान्धवाः स्त्रीजितं जनम्।
स्त्रीजितं मनसावाचा पिता भ्राता च निन्दति ॥१७॥

शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन जातके मृतके तथा।
भूमिपोद्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहतः ॥१८॥

शूद्रो मासेन वेदेषु भातृवद्वर्णसङ्करः।
अशुचिः स्त्रीजितः शुद्धयेच्चितादाहनकालतः ॥१९॥

न गृह्णन्तीच्छया तस्य पितरः पिण्डतर्पणम्।
न गृह्णन्तीच्छया देवास्तस्य पुष्पजलादिकम् ॥२०॥

किं तस्य ज्ञान तपसा जप होमप्रपूजनैः।
किं विद्यया वा यशसा स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम् ॥२१॥

स्त्रीजित मनुष्य की तो पितर, देवता तथा बान्धव आदि सभी निन्दा करते हैं। यहाँ तक कि माता, पिता तथा भ्राता भी मन ही मन तथा वाणी द्वारा भी उसकी निन्दा करने से नहीं चूकते।

जिस प्रकार जन्म तथा मृत्यु के अशौच में ब्राह्मण दस दिनों पर शुद्ध हो जाता है, क्षत्रिय बारह दिनों पर और वैश्य पन्द्रह दिनों पर शुद्ध होते हैं तथा शूद्रों की शुद्धि एक महीने पर होती है, वैसे ही गान्धर्व-विवाह-

सम्बन्धी पति-पत्नी की सन्तान भी समयानुसार शुद्ध हो जाती है, उसमें वर्णसंकर दोष नहीं आता, यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है। परन्तु स्त्रीजित मनुष्य की तो आजीवन शुद्धि नहीं होती। चिता पर जलते समय ही वह इस पाप से मुक्त होता है। स्त्रीजित मनुष्य के पितर उसके दिए हुए पिण्ड और तर्पण को इच्छापूर्वक ग्रहण नहीं करते। देवता भी उसके समर्पण किए हुए पुष्प और जल आदि लेने में सम्मत नहीं होते। जिसके मन को स्त्री ने हरण कर लिया है उस व्यक्ति को ज्ञान, तप, जप, होम, पूजन, विद्या अथवा यश से क्या लाभ हुआ? अर्थात् स्त्रीजित पुरुष का उपर्युक्त सब व्यर्थ हो जाता है उसके उस ज्ञान आदि अर्जन से कोई फल सिद्ध नहीं हुआ ॥१७-२१॥

महर्षि दुर्वासा २२-२७

नारीरूपं त्रिभुवने मुक्तिमार्गनिरोधकम्।
व्यवधानं तपस्यायाः सततं मोहकारणम् ॥२२॥
कारागारे च संसारे दुर्वहंनिगडं परम्।
अच्छेद्यं ज्ञानखड्गैश्च महद्भिः शंकरादिभिः ॥२३॥

संगिच्छायातिरिक्तं च कर्मभोगात्परात्परम्।
इन्द्रियाणीन्द्रियाधाराद्विद्यायाश्च मतेरपि ॥२४॥

आदेहं संगिनी छाया भोगान्तं भोग एव च।
देहेन्द्रियाणि जीवान्तं विद्या चैवावशीलिनम् ॥२५॥

मतिश्चैवावशीलांता सुखीजन्मजन्मनि।
यावज्जीवी च सुखीको न तावज्जन्मखण्डनम् ॥२६॥

यावच्च जीविनो जन्म तावद्भोगः सुखावहः।
परं मुनीन्द्र सर्वस्माद्धरिपादाब्जसेवनम् ॥२७॥

नारी का रूप त्रिभुवन में सर्वदा मुक्ति का निरोधक है तथा तपस्या में व्यवधान डालनेवाला और सदा ही मोह का कारण है। यह संसाररूपी कारागार में बड़ी भारी बेड़ी है जिसका भार वहन करना अत्यन्त दुष्कर है। शंकर आदि महापुरुष भी ज्ञानमय खड्ग से उस बेड़ी को काट नहीं सकते। नारी सदा साथ देने वाली छाया से भी अधिक सहगामिनी है। वह कर्म-भोग, इन्द्रिय, इन्द्रियाधार, विद्या और बुद्धि से भी अधिक बाँधने वाली है। छाया शरीर के रहने तक ही साथ देती है। भोग तभी तक साथ देते हैं जब तक उनकी समाप्ति न हो जाए। देह और इन्द्रियाँ

जीवनपर्यन्त ही साथ रहती हैं। विद्या जब तक उसका अनुशीलन होता है तभी तक साथ देती है। यही दशा बुद्धि की भी है। परन्तु सुन्दरी स्त्री जन्म-जन्म में मनुष्य को बन्धन में डाले रहती है। सुन्दरी स्त्री वाला पुरुष जब तक जीता है, तब तक अपने जन्म-मरण रूपी बन्धन का निवारण नहीं कर सकता। जब तक जीवधारी का जन्म होता है तब तक उसे भोग सुखप्रद जान पड़ते हैं परन्तु सबसे अधिक सुखदायिनी है श्री हरि के चरणों की सेवा ॥२२-२७॥

तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥१८॥

प्रकृत्याक्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽतोयाद् विशेषतः ॥२६॥

कृत्याह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥३०॥

तस्मात् तदात्मकाद् रागाद् बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वदेहजान् स्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात्कृमींस्त्यजेत् ।
स्वसंज्ञान् स्वकांस्तद्वत् सुत संज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥३१॥

तृष्णा से अभिभूत तथा कामक्रोधादि दोषों से बद्ध होकर उन्हीं का अनुसरण करता हुआ मनुष्य (महान् दुःख उठाता है। यदि उनसे छूटने की इच्छा हो तो) स्त्रियों को संसाररूपी वस्त्र को बुनने वाली तन्तुवाहिनी समझे और उनसे दूर रहे। स्त्रियाँ प्रकृति के तुल्य हैं अतः क्षेत्रस्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञस्वरूप है। (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुषों को बाँधती है उसी प्रकार ये स्त्रियाँ भी पुरुषों को अपने मोह-जाल में बाँध लेती हैं) इसलिए सामान्यतः प्रत्येक पुरुष को विशेषपूर्वक स्त्री के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। ये स्त्रियाँ भयानक कृत्या के समान हैं, अतः अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डाल देती हैं। इन्द्रियों में विकार उत्पन्न करने वाली यह सनातन नारी-मूर्ति रजोगुण से तिरोहित है। अतः स्त्री-सम्बन्धी अनुराग के कारण पुरुष के वीर्य से जीवों की उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य अपनी ही देह से उत्पन्न हुए जूँ और लीख आदि स्वेदज कीटों को अपना न मानकर त्याग देता है उसी प्रकार अपने कहलाने वाले जो अनात्मा 'पुत्र' नामधारी कीट हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिए ॥२८-३१॥

शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः।
स्वभावात् कर्मयोगाद् वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥३२॥

योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विसेद्रजः ॥३३॥

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति ॥३४॥

पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद् देह संकल्पजैः खजैः ॥३५॥

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनः संकल्पजं रजः।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा ॥३६॥

इस शरीर से वीर्य द्वारा अथवा पसीनों द्वारा स्वभाव से अथवा प्रारब्ध के अनुसार जन्तुओं का जन्म होता है। बुद्धिमान् पुरुषों को उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। स्त्रियों की चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्था में न देखे; क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्था में उन पर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बल हृदय वाले पुरुषों के मन में रजोगुण—राग या कामभाव का प्रवेश हो जाता है। हृदय के मध्य भाग में एक मनोवहा नाम की नाड़ी है जो पुरुषों के काम-विषयक संकल्प के द्वारा सारे शरीर से वीर्य को खींच कर बाहर निकाल देती है। जिस प्रकार दूध में छिपे हुए घी को मथानी से मथ कर अलग किया जाता है, उसी प्रकार देहस्थ संकल्प और इन्द्रियों से होने वाले स्त्रियों के दर्शन एवं स्पर्श आदि से मथित होकर पुरुष का वीर्य बाहर निकल जाता है। जैसे स्वप्न में संसर्ग न होने पर भी मन के संकल्प से उत्पन्न हुआ स्त्री-विषयक राग उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार 'मनोवहा' नाड़ी पुरुष के शरीर से संकल्पजनित वीर्य का निःसारण कर देती है। ॥ ३२-३६ ॥

भगवान् श्री कृष्ण

उरोमुखं स्तनं स्त्रीणां कटाक्षं हास्यमेव च।
विनाशबीजं रूपं च विपदां कारणं सदा ॥३७॥

भगवान् ब्रह्मा

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति।
तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥३८॥

महर्षि विश्वामित्र ३६-४७

न केवलं व्रतोपेताः स्त्रीसङ्गात्पापमाप्नुयुः।
व्रतबाह्या अपि नराः सक्ताः स्त्रीषु पतन्त्यधः ॥३६॥
संसारभ्रमणं नारी प्रथमेति समागमे।
वह्निप्रदक्षिणाव्याजन्यायेनैव प्रदर्शयेत् ॥४०॥
तस्मात्स्त्रीभिस्समं प्राज्ञ सम्भाषणमपि वर्जयेत्।
आस्तां तावत्समासङ्गो य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥४१॥

स्त्रियों का उरु, मुख, स्तन, कटाक्ष एवं हास्यादि न देखे, क्योंकि ये सब विनाश के बीज हैं। उनका रूप सदा-सर्वदा ही विपत्ति का कारण होता है। मनुष्य मदिरा को तो पीने पर मतवाला होता है, परन्तु तरुणी स्त्री को देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिए दर्शनमात्र से विष का-सा प्रभाव डालने वाली नारी को दूर से ही त्याग दे।

केवल व्रतसंयुक्त पुरुष ही स्त्री के संग से पाप को प्राप्त नहीं होते, बल्कि व्रत से बाहर वाले भी मनुष्य स्त्रियों में आसक्त होकर नीचे गिरते हैं यानी नरक को प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्रथम मिलाप में ही स्त्री अग्नि की प्रदक्षिणा के व्याज (बहाने) के न्याय से संसार में भ्रमण को दिखाती है। इसलिए जो बुद्धिमान् पुरुष अपना आत्यन्तिक कल्याण सम्पादन करना चाहता हो, उसके लिए स्त्रियों से सम्भाषण भी वर्जित है ॥ ३७-४१ ॥

अङ्गारसदृशीनारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
अस्पर्शाद् दृढतामेति तत्सम्पर्काद्विलीयते ॥४२॥
स्त्रियो मूलमनर्थानां सर्वेषां प्राणिनां भुवि।
तस्मात्त्याज्याः सुदूरेण ताः स्वर्गस्यनिरोधकाः ॥४३॥

स्त्री अंगार के सदृश एवं पुरुष घृत के घड़े के तुल्य है। जैसे घृत अग्नि के सम्पर्क के अभाव में कठोर रहता है तथा सम्पर्क से पिघल जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी स्त्रीसम्पर्क के अभाव में कठोर रहता है तथा उसका सम्पर्क प्राप्त होने पर काम से द्रवीभूत हो जाता है। भूतल पर स्त्रियाँ सब प्राणियों के लिए अनर्थों की जड़ हैं इसलिए स्वर्गापवर्ग की निरोधिका स्त्रियाँ बहुत दूर से ही त्यागने योग्य हैं ॥ ४२-४३ ॥

कुलीना वीरवत्यश्च नाथवत्योपि योषितः।
एकस्मिन्न नरे रागं कुर्वन्त्येताः सुचञ्चलाः ॥४४॥

न स्त्रीभ्यः किञ्चिदन्यद्धि पापाय विद्यते भुवि ।
सङ्गं यासां समासाद्य संसारे भ्रमते जनः ॥४५॥

नीचोपि कुरुते सेवां यस्तासाँ दैवतेष्वपि ।
विरूपं वापि नीचं वा तं सेवन्ते नरं स्त्रियः ॥४६॥

अनर्थत्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥४७॥

कुलीन एवं नाथवती भी अति चंचल ये स्त्रियाँ एक पुरुष में स्नेह नहीं करतीं हैं। इस पृथ्वी पर पाप के लिए स्त्रियों से बढ़कर निश्चय ही अन्य कोई नहीं है जिनके संग को प्राप्त कर मनुष्य जन्म-मरण रूप इस संसार में निरन्तर भ्रमण करता रहता है। नीच भी जो पुरुष, देवताओं में भी, स्त्रियों की सेवा करता है उस कुरूप या अधम मनुष्य को ये स्त्रियाँ सेवन करती हैं। मनुष्यों के अनर्थ से तथा परिवार के भय से मर्यादाहीन स्त्रियाँ मर्यादा में पतियों के समीप स्थित रहती हैं ॥ ४४-४७ ॥

श्री स्कन्द जी

स्वभावश्चञ्चलः स्त्रीणां दोषः पुंसामतः स्मृतः ।
प्रमदासु प्रमाद्यन्ति क्वचिन्नैव विपश्चितः ॥४८॥

विद्वांसमप्यविद्वांसं यतस्ताघर्षयन्त्यलम् ।
स्ववशं वापि कुर्वन्ति सूत्रबद्धशकुन्तवत् ॥४९॥

देवर्षि नारद जी ५०-५८

यत्संगात्संक्षयं याति पुमानाग्निगतो यथा ।
रचिता देवमायेयं विमोहाय नृणामिह ॥५०॥

स्त्रियों का स्वभाव चंचल होता है, इसी से पुरुष के लिए दोष कहा गया है। अतः बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियों में कभी भी विश्वास नहीं करते। अपने उस स्वभाव से ही मूर्ख या पण्डित सभी को पूर्णरूपेण क्षुब्ध कर दिया करती हैं और सूत्र में बँधे हुए पक्षी की भाँति उन्हें अपने वश में अनायास ही कर लेती हैं। जिसके संग से पुरुष अग्निगत कीड़े की भाँति सर्वथा विनाश को प्राप्त होता है, वह स्त्रीरूपिणी देवताओं की माया इस लोक में केवल पुरुषों को विमोहित करने के लिए ही रची गई है ॥४८-५०॥

स्त्रीसङ्गाज्जायते पुंसां सुतागारादिसंगमः ।
यथा बीजांकुराद् वृक्षो जायते फलपत्रवान् ॥५१॥

एकया योषिता लोका अन्धे तमसि पातिताः ।
यथा गजो मदोन्मत्तः करिण्या पङ्कपातितः ॥५२॥

अहो जनानां मोहोऽयं स्वविनाशं न पश्यताम् ।
सङ्गो भवति योषित्सु पतंगानामिवाग्निषु ॥५३॥

स्त्री-संग से ही पुरुष को पुत्र एवं गृह आदि का संग प्राप्त होता है जैसे बीजाङ्कुर से ही फल एवं पत्र से युक्त वृक्ष उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी हथिनी के संग के कारण ही पंक में गिराया जाता है वैसे ही एकमात्र स्त्री-संग के कारण ही पुरुष घोर अन्धतामिस्र नरक में गिराया जाता है। अहो ! यह मनुष्यों का कितना बड़ा व्यामोह है कि अपने विनाश को न देखकर स्त्रियों में आसक्त होता है जैसे पतंग अपने विनाश को न देखकर अग्नि के रूप पर सर्वथा विमोहित हो, उसमें गिर कर नष्ट हो जाता है ॥५१-५३॥

अहो आभिः किं न कृतमनिष्टं पुरुषेष्विह ।
याभिर्वंशं समानीताः खरा इव नराधमाः ॥५४॥

स्त्रिया मोहिकया के न निहता भुवनत्रये ।
कच्छो यथा ज्वलद्वह्निं दृष्ट्वोल्लसितो भवेत् ॥५५॥

दाह दुःखं न जानाति स्त्रियं दृष्ट्वा तथा पुमान् ।
देहं मूत्रपुरीषैश्च पूरितं मन्यते वरम् ॥५६॥

मेदोऽस्थिरक्तमज्जाढ्यं रमते तत्र मोहितः ।
यथा विष्ठासमुद्भूतः कीटस्तत्रैव मोदते ॥५७॥

तथापवित्रे स्त्रीदेहे मोदते मोहितो भृशम् ।
तदर्थं दुःखमाप्नोति सुखवन्मन्यते गृहे ॥५८॥

भला, इस पृथ्वी पर स्त्रियों ने पुरुषों के साथ क्या-क्या अनिष्ट नहीं किया। ये दुराचारिणियाँ पुरुषों को अपने वशीभूत कर गर्दभ के तुल्य नीच बना देती हैं। ऐसा त्रिलोकी में कौन है जो स्त्रियों की मोहिनी शक्ति से मोहित होकर नाश को न प्राप्त हुआ हो। कच्छ अर्थात् झिल्ली कीड़ा जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि को देखकर प्रफुल्लित होता है और फिर उसकी गोदी में गिरकर उससे उत्पन्न हुए दाहजनित दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार पुरुष स्त्री को देखकर उस पर मुग्ध हो, उसके संग से प्राप्त होने

वाले घोर नारकीय कष्टों का अनुभव नहीं करता, बल्कि मल-मूत्र से पूर्ण उस स्त्री-देह को ही श्रेष्ठ मानता है। उस मेद, अस्थि, रक्त, एवं मज्जा आदि घृणित वस्तुओं से पूर्ण स्त्री-शरीर पर विमोहित हो, उसी में रमण करता है। जिस प्रकार विष्ठा से उत्पन्न कीड़ा उस विष्ठा में ही आनन्द मानता है उसी प्रकार यह पुरुष स्त्री की शरीर से उत्पन्न होकर, पुनः उसी अपवित्र स्त्री-शरीर में ही अज्ञान से मोह को प्राप्त हो, रमण करता हुआ आनन्दित होता है। इसी कारण विशेष से मनुष्य को महान् दुःखों की प्राप्ति होती है, परन्तु फिर भी वह गृह में ही रहकर उसको सुख के समान ही मानता है ॥ ५५-५८ ॥

श्री वृन्दा देवी

यथा दीपशिखां दृष्ट्वा कीटः पतति निश्चितम् ।
मिष्टं दृष्ट्वा वडीशाग्रे लुब्धमीनो मृगो यथा ॥५६॥

यथा विषाक्तं भक्ष्यं च भुङ्क्ते भोक्ता बुभुक्षितः ।
गृह्णाति दुष्टो दुष्टं च विषकुम्भं पयोमुखम् ॥६०॥

तथा दृष्ट्वा परस्त्रीणां मुखपद्मं मनोहरम् ।
विनाशबीजं मोहेन भ्रान्तो भवति लम्पटः ॥६१॥

जैसे दीपक की लौ देखकर पतिङ्गा निश्चय ही उस पर टूट पड़ता है, लोभी मीन और मृग काँटे के अग्रभाग में मिष्ठान्न को देखकर उसे निगलना चाहता है, भूखा मनुष्य विषमिश्रित भोजन को खा जाता है और दुष्ट पुरुष मुख पर छलछलाते हुए दूध वाले दूषित विषकुम्भ को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार लम्पट पुरुष पराई स्त्रियों के मनोहर मुख-कमल को, जो विनाश का कारण है, देखकर मोहवश भ्रान्त हो जाता है ॥ ५६-६१ ॥

मुखं च रुचिरं स्त्रीणां श्रोणियुग्मं स्तनौ तथा ।
कामाधारं नाशबीजमधर्मस्थलमेव च ॥६२॥

भगं नरककुण्डं च लालामूत्रसमन्वितम् ।
दुर्गन्धियुक्तं पापं च यमदण्डस्य कारणम् ॥६३॥

यथा लिङ्गं विशत्येव पापयोनौ च योषिताम् ।
तथा पुमान्विशत्येव रौरवे च युगे युगे ॥६४॥

स्त्रियों का सुन्दर मुख, दोनों नितम्ब तथा दोनों स्तन कामवासना के आधार, नाश के कारण और अधर्म के स्थान हैं।

जो लार और मूत्र से संयुक्त है, जिसमें से सदा दुर्गन्ध निकलती रहती है और जो पाप तथा दमदण्ड का कारण है, स्त्रियों का वह मूत्र-स्थान (योनि) नरक-कुण्ड के सदृश है। जैसे-जैसे पुरुष का लिंग स्त्री की उस पापमयी योनि में प्रवेश करता है वैसे-वैसे वह पुरुष अनेकों युगों के लिए घोर रौरव नरक में प्रवेश करता है ॥६२–६४॥

विदुषी रानी मदालसा

हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तर्ज्जनमङ्गनायाः।
कुचादिपीनंपिशितंघनं तत् स्थानं रतेः किं नरकं न योषित।६५।

स्त्रियों का हास अस्थिसन्दर्शनमात्र है, अत्यन्त उज्ज्वल उनके नेत्रद्वय तर्जन सदृश हैं, उनके स्थूलघनस्तनमण्डल आदि मांस के लोथड़े हैं, और उनका वह रति का स्थान—इन सबकी प्रत्यक्ष मूर्ति वह स्त्री क्या साक्षात् नरक नहीं है ? ॥६५॥

भगवान् वेदव्यास ६६–७२

पत्तनं साहसानां च नरकस्यैव कारणम्।
योनिकुंडमिदं सृष्टं कुम्भीपाकसमं भुवि ॥६६॥
नेत्ररज्ज्वा दृढं बद्ध्वा घर्षयन्ति मनस्विनः।
कुचरूपैर्महादण्डैस्ताड्यमानमचेतसाम् ॥६७॥
कृत्वा वै पातयन्त्याशु नरकं नृपसत्तम।
मोहनं सर्वभूतानां नारीं चैव विनिर्मिता ॥६८॥

स्त्री का यह योनिकुण्ड पृथ्वी पर साक्षात् कुम्भीपाक नरक की भाँति बनाया गया है। यह साहसों का नगर है तथा एकमात्र नरक-प्राप्ति का कारण है। ये स्त्रियाँ अपने नेत्ररूपी रस्सी से दृढ़तापूर्वक बाँधकर मनस्वियों को घसीट ले जाती हैं और अपने कुचरूपी दण्डों से मार-मार कर उन्हें बेहोश कर देती हैं इस प्रकार बेहोश करके ये शीघ्र ही उन्हें नरक में ढकेल देती हैं। इससे विदित है कि स्त्री सम्पूर्ण प्राणियों को विमूढ़ करने के लिए ही बनाई गई है ॥६६–६८॥

तावद्धन्तमनःस्थैर्यं श्रुतं सत्यमनाकुलम्।
यावन्मत्ताङ्गनाग्रे न वागुरेव सुचेतसाम्।६९॥
तावत्तपोभिवृद्धिस्तु तावद्दानं दया दमः।
तावत्स्वाध्यायवृत्तं च तावच्छौचं घृतं व्रतम् ॥७०॥

यावत्त्रस्तमृगीदृष्टिं चपलां न विलोकयेत् ।
तावन्माता पिता तावद् भ्राता तावत्सुहृज्जनः ॥७१॥

ज्ञानमौदार्यमैश्वर्यं तावदेव हि भासते ।
यावन्मत्ताङ्गनापाशैः पातितो नैव बन्धनैः ॥७२॥

हा दुःख है कि तभी तक मन में स्थिरता रहती है, श्रवण किया हुआ शास्त्रीय ज्ञान रहता है और अविकल सत्य रहता है, जब तक सुन्दर चित्त-वाले पुरुषों के आगे जाल की नाईं मत्ता स्त्री नहीं होती। तभी तक तप की वृद्धि होती है, तभी तक दान, दया और दम रहते हैं, तभी तक स्वा-ध्याय की वृत्ति रहती है और तभी तक शौच और धारण किया हुआ व्रत रहता है, जब तक पुरुष भयभीत मृगी के सदृश दृष्टिवाली चंचल स्त्री को नहीं देख लेता। तब तक ही उसके अन्दर माता, पिता, भाई और सुहृद के प्रति शिष्टाचार का भाव रहता है, तभी तक ज्ञान, उदारता, एवं ऐश्वर्य की प्रतीति होती है, जब तक वह मत्ताङ्गना के जालरूपी बन्धन से बाँध कर गिरा नहीं दिया जाता॥ ६६–७२॥

विवेकिनोऽपिमुनयस्तावदेव विवेकिनः ।
यावन्न हरिणाक्षीणामपाङ्गैरभिलक्षिताः ॥७३॥

विवेकी मुनि लोग भी तभी तक विवेक-सम्पन्न होते हैं जब तक कि वे मृगनयनियों के कटाक्षों से नहीं देखे जाते ॥७३॥

श्री मोहिनी देवी

मां दृष्ट्वापि क्षितौ देव भूधरश्चापि मुह्यति ।
किं पुनश्चेतनोपेतः श्वासोच्छ्वासी नरस्त्विति ॥७४॥

तथा चोक्तं पुराणेषु नारीवीक्षणवर्णनम् ।
उन्मादकरणं नृणां दुश्चरव्रतनाशनम् ॥७५॥

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रचापाक्षेपयुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥७६॥

पृथ्वी पर मुझे देखकर पहाड़ भी मोहित हो जाएगा, फिर श्वांस लेने वाले जङ्गम प्राणी के लिए तो कहना ही क्या ? इसीलिए पुराणों में नारी की ओर देखना, उसके रूप की चर्चा करना मनुष्यों के लिए उन्मादकारी

बतलाया गया है। वह कठिन से कठिन व्रत का भी नाश करने वाला है। मनुष्य तभी तक सन्मार्ग पर चलता रहता है, तभी तक अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, तभी तक दूसरों से लज्जा करता है और तभी तक विनय का आश्रय लेता है, जब तक कि धैर्य को छीन लेने वाले युवतियों के नीली पाँख वाले नेत्ररूरी वाण हृदय में गहरी चोट नहीं पहुँचाते ।।७४-७६।।

धिक्कस्य मूढमनसः कुकवे कवित्वं
यः स्त्रीमुखं च शशिनं च समीकरोति ।
भ्रूक्षेप विस्मित कटाक्ष निरीक्षितानि
कोपप्रसादहसितानि कुतः शशांके ।।७७।।

उस मूढ़ान्तःकरण कवि के कवित्व को धिक्कार है जो स्त्री के मुख की तुलना चन्द्रमा से करता है। भला, चन्द्रमा में भ्रूक्षेप, विस्मिति, कटाक्ष-निरीक्षण, कोप, प्रसाद और हास—ये कहाँ से आ सकते हैं ।। ७७ ।।

पीतं हि मद्यं मनुजेन नाथ
करोति मोहं सुविचक्षणस्य ।
स्मृता च दृष्टा युवती नरेण
विमोहयेदेव सुराधिका हि ।।७८।।

मदिरा को तो जब मनुष्य पी लेता है, तब वह चतुर पुरुष के मन में मोह उत्पन्न करती है, परन्तु युवती नारी दूर से दर्शन और स्मरण करने पर ही मनुष्य को मोह में डालती है। अतः वह युवती स्त्री मदिरा से भी बढ़कर उन्मत्त करने वाली है ।। ७८ ।।

भगवान् ब्रह्मा

यदिदं वर्तुलं वक्त्रं सोन्नतं दृश्यते शुभम् ।
अस्थिपञ्जरमेतद्धि चर्ममांसावृतं त्विति ।।७९।।

वसाहृतेथ नयने सोज्वले स्त्रीषु संस्थिते ।
अत्युच्छ्रितमिदं मांसं स्तनयोः समवस्थितम् ।।८०।।

निम्नांसतां दर्शयति त्रिवलीजठरस्थिता ।
पुनरेवाधिकं क्षिप्तं मांसं जघनवर्त्मनि ।।८१।।

मूत्रद्वारमिदं गुह्यं यत्र मुग्धं जगत्त्रयम् ।
अपानवायुना जुष्टं सदैव प्रतिकुत्सितम् ।।८२।।

यह जो गोल-गोल और कुछ ऊँचाई लिए हुए सुन्दर मुख दिखाई देता है, वह हड्डियों का ढाँचामात्र ही तो है, जो चर्म और मांस से मढ़ा हुआ है। स्त्रियों के शरीर में जो दो नेत्र स्थित हैं वे वसा और मेद के सिवा और क्या हैं ? छाती पर दोनों स्तनों में यह अत्यन्त ऊँचा मांस ही तो है। जठर पर स्थित त्रिवली इस प्रकार दिखाई देती है मानो झुके हुए स्कन्द हों और पुनः उस जघन देश में भी अधिक मांस ही भरा हुआ है। जिस योनि पर तीनों लोकों के प्राणी मुग्ध रहते हैं, वह छिपा हुआ अपान-वायु से युक्त अत्यन्त कुत्सित मूत्र का ही तो द्वार है ॥७६–८२॥

कृतं यद्वद्द्विधा काष्ठं तद्वज्जंघा द्विधा ध्रुवम् ।
शुक्रास्थिपूरितं मांसैः कथं सौन्दर्यतां व्रजेत् ॥८३॥

मांसमेदोवसासारे किं सारं देहिनां वद ।
विष्ठामूत्रमलैः पुष्टे को देहे रज्यते नरः ॥८४॥

दो भागों में विभक्त हुआ जंघा ठीक वैसे ही प्रतीत होता है जैसे काष्ठ दो भागों में विभक्त कर दिया गया हो। शुक्र और हड्डियों से भरा हुआ शरीर केवल मांस से ढका होने के कारण कैसे सुन्दर कहा जा सकता है ? मांस, मेद और चर्बी ही जिसका सार-सर्वस्व है, देहधारियों के उस शरीर में सार तत्त्व क्या है, बताओ ? विष्ठा, मूत्र और मल से पुष्ट हुए शरीर में कौन मनुष्य अनुरक्त होगा ? ॥ ८३-८४॥

श्री सनत्कुमार जी

अर्गलं ज्ञानमार्गस्य भक्तिद्वारकपाटकाम् ।
मोक्षमार्गव्यवहितं चिरं बन्धनकारणम् ॥८५॥
पीयूषबुद्ध्या गरलं भुङ्क्ते पापी नराधमः ।
परं नारायणं त्यक्त्वा यस्यास्ते विषये मनः ॥८६॥

स वञ्चितो मायया चामृतं त्यक्त्वा विषं भजेत् ॥८७॥

स्त्री ज्ञानमार्ग की साँकल, भक्तिद्वार का किवाड़, मोक्षमार्ग का व्यवधान और चिरकालिक बन्धन का कारण है, फिर भी पापी नराधम अमृत-बुद्धि से उस विषस्वरूपा स्त्री का सेवन करते हैं। जिसका मन परम पुरुष नारायण को छोड़कर केवल विषय में ही रचा-पचा रहता है, उसे मानो माया ने ठग लिया, जिससे वह अमृतस्वरूप परमात्मा को छोड़कर विषस्वरूप विषयों का सेवन करता है ॥८५–८७॥

श्रीअहिल्या देवी ८८–९२

किं तज्जेपन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन तीर्थेन स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम् ॥८८॥
स्त्रीरूपं निर्मितं सृष्टौ मोहाय कामिनां मनः।
अन्यथा न भवेत्सृष्टिः स्रष्ट्रा तेन पुरा ज्ञया ॥८९॥

सर्वं मायाकरण्डश्च धर्ममार्गार्गलं नृणाम्।
व्यवधानं च तपसां दोषाणामाश्रयं परम् ॥९०॥

कर्मबन्धनिबन्धानां निगडं कठिनं स्मृतम्।
प्रदीपरूपं कीटानां मीनानां वडिशं यथा ॥९१॥

विषकुम्भं दुग्धमुखमारम्भे मधुरोपमम्।
परिणामे दुःखबीजं सोपानं नरकस्य च ॥९२॥

जिसका मन स्त्री के द्वारा अपहृत कर लिया गया है यानी जिसका मन स्त्री में आसक्त है, उसके उस जप, तप, मौन, व्रत, देवार्चन तथा तीर्थ-सेवन आदि से क्या लाभ ? यानी उस स्त्रैणपुरुष का, जप, तप आदि सब व्यर्थ-निष्फल है। सृष्टि के पूर्व जगत् की रचना करते समय सृष्टिकर्ता सर्वज्ञ भगवान् ब्रह्मा के द्वारा कामियों के मन को विमोहित करने के लिए ही स्त्री का रूप बनाया गया है अन्यथा इसकी सृष्टि ही न हुई होती।

स्त्री सब मायाओं की पिटारी, धर्ममार्गावलम्बी मनुष्यों के लिए अर्गलारूपा, तपस्या के लिए विघ्नरूपा, समस्त दोषों की परम आश्रयभूता, कर्मबन्धन में विशेषरूप से बाँधने के लिए कठिन बेड़ीरूपा, पुरुषरूपी कीटों के लिए प्रदीपरूपा, तथा पुरुषरूपी मछलियों के फँसाने के लिए वडिशरूपा है। यह स्त्री विष से भरे हुए ऐसे घड़े के तुल्य है जिसके मुख मात्र पर दुग्ध भरा हुआ हो। इस कारण जो स्त्रीरूपी बिषपूर्णघट आरंभ में यानी आपाततः मधुर यानी आकर्षक प्रतीत होती है परन्तु सेवन किए जाने पर पुरुष के लिए परिणाम में दुःख का बीज एवं नरकप्राप्ति के लिए सोपान के तुल्य है।
॥ ८८-९२ ॥

स्मरणाज्जायते कामो बधूनां धैर्यनाशनः।
दर्शनाद्वचनात्स्पर्शात्कस्मादेष न संभवेत् ॥९३॥

दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम्।
मैथुनाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ॥९४॥

चर्मखण्डं द्विधाछिन्नमपानोद्गारवासितम् ।
तत्र मूढा रमन्ते ये प्राणैरपि धनैरपि ॥६५॥

ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः ॥६६॥

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम् ॥६७॥

जब स्त्री के स्मरणमात्र से धैर्य का नाश करने वाला 'काम' उत्पन्न होता है, तब उसके दर्शन से, संभाषण से तथा स्पर्श से 'काम' क्यों नहीं उत्पन्न होगा ? यानी अवश्य ही होगा। यह अपने दर्शन से पुरुष के चित्त को हर लेती है, स्पर्श से उसके बल का नाश करती है तथा सम्भोग करने से यह पुरुष के शरीर के वीर्य को खींच लेती है यानी शोषण कर लेती है। इस प्रकार यदि विचार से देखा जाय तो स्त्री पुरुष का सर्वनाश करने के कारण प्रत्यक्ष राक्षसी ही है।

स्त्री का वह अनिर्वचनीय गुप्त स्थान दो भागों में विभक्त हुआ केवल चर्मखण्ड मात्र है जो नित्य निकलने वाले अपानवायु से अत्यन्त ही दूषित—दुर्गन्धित रहता है उसके उस घृणित योनिकुण्ड में जो मूढ़ अपने धन एवं प्राणों का त्याग कर रमण करते हैं, वे अवश्यमेव घोर नरकों को प्राप्त होते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं ॥

जिसका मन स्त्री द्वारा अपहृत कर लिया गया है उसकी विद्या व्यर्थ है तथा इसमें संदेह नहीं कि उसका तप, त्याग, शास्त्र-श्रवण, एकान्तसेवन और मौन आदि भी सब निष्फल हैं ॥६३–६७॥

योगी भर्तृहरि

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मल विवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरंग चक्षुसां ताड्यते चपललोचनाञ्चले ॥६८॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजबधेऽपि दक्षाः ।
किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरलाः मनुष्याः ॥६९॥

पुण्यात्माओं का भी निर्मल सदसद्विचार रूपी दीपक तभी तक प्रकाशित होता रहता है जब तक मृगनयनियों के चंचल कटाक्षों से बिद्ध नहीं होता।

कुछ धीर पुरुष इस पृथ्वी पर मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थल का दलन करने वाले हैं और कुछ लोग प्रचण्ड सिंह का वध करने में अत्यन्त दक्ष एवं समर्थ हैं; किन्तु बलवानों के समक्ष अत्यन्त दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि कामदेव के गर्व को चूर्ण करने में समर्थ विरले ही पुरुष हैं ॥६८-६६॥

संसार तव निस्तारपदवी न तवीयसी।
अंतरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणा ॥१००॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपि वाढं,
संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम्।
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती,
वामाक्षीणां भवति कुटिल भ्रूलता कुञ्चिकेव ॥१०१॥

ऐ संसार! तुम्हारी अन्तिम सीमा बहुत दूर नहीं है यानी समीप ही है, यदि बीच में पार करने में अशक्य महानदियों की तरह मदिरा से पूर्ण नेत्रवाली ये सुन्दरियाँ दुस्तर न होतीं। यानी स्त्रियाँ संसार को पार करने में अत्यन्त ही प्रतिबन्धक हैं, इसलिए इनके सर्वथा त्याग में ही महान् कल्याण है।

इस संसार में शास्त्रों के रहस्य-ज्ञाता भी, विनय सम्पन्न भी तथा आत्म-बोध प्राप्त भी पुरुष हैं, परन्तु उनमें से भी कोई विरला ही मोक्षरूप सद्गति की प्राप्ति का भाजन होता है। क्योंकि इस संसार में सुन्दर नयनों वाली स्त्रियों की टेढ़ी-टेढ़ी भ्रुकुटि-लता नरकपुरी के बन्द दरवाजे को खोलने के लिए ताली के सदृश है। यानी स्त्रियों के कटाक्षपातरूपी बाणों से घायल पुरुष सद्गति से विमुख होकर दुर्गति को ही प्राप्त करता है ॥१००-१०१॥

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्द्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ॥१०२॥

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तन साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
स्वर्गद्वारस्यविघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ॥१०३॥

जो स्मरण किए जाने पर संताप की हेतु होती है तथा दिखाई देने पर कामोन्माद को बढ़ाने वाली होती है और यदि उसका स्पर्श कर लिया

जाय तो मोहित कर बुद्धि-भ्रंश का कारण बनती है। ऐसी दशा में भला, वह स्त्री प्रिया कैसे हो सकती है?

समस्त संदेहों का आवर्त (भँवर) अशिष्टता का घर, साहस के कार्यों का नगर (अविचारित कर्मों की नगरी), सम्पूर्ण दोषों की अक्षयनिधि, सैकड़ों कपटों की मूर्ति, अविश्वासों का क्षेत्र यानी उत्पत्ति स्थान, स्वर्गद्वार का विघ्नरूप, नरक नगरी का मुख्य प्रवेश मार्ग, सब प्रकार की मायाओं की पेटिका (सन्दूक), अमृतमयविषरूप यानी बाहर से अमृतवत् आपात-रमणीय एवं भीतर से विषरूप तथा समस्त प्राणियों के लिए मोहपाश (बन्धन) रूप यह स्त्री रूपी यन्त्र किसने बनाया है? ॥१०२–१०३॥

सत्यत्वेन शशांक एष वदनीभूतो नवेन्दीवर,
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्ग यष्टिः कृता।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि,
त्वङ्मांसास्थिमयंवपुर्मृगदृशां मंदो जनः सेवते ॥१०४।

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलयाप्रोत्तुङ्गपीनस्तन,
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्राराशया नेष्यते,
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम् ।१०५।

यह प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला चन्द्रमा वस्तुतः मृगनयनियों का मुख नहीं हुआ, न तो दो नीले कमल ही उसके नेत्रद्वय हुए और न यह देह-लता भी स्वर्णों से बनाई गई; किन्तु इस प्रकार कवियों द्वारा जिनका मन ठगा गया है, ऐसे मूर्ख लोग वास्तविक बात तो ठीक प्रकार जानते हुए भी घृणित त्वचा, मांस एवं हड्डियों से युक्त मृगनयनी कामिनियों के शरीर का सेवन करते हैं।

ऊपर उठने वाली त्रिवलीरूप तरङ्गों से पूर्ण, ऊँचे और पुष्ट स्तन-युगल के कारण उछलते हुए युगल चक्रवाक पक्षी वाली, मुख-कमल से सुशोभित होने वाली, क्रूरा अर्थात् सर्वथा कुटिल हृदयवाली अथवा चारों ओर से टेढ़ी प्रवाह की गति वाली, सुन्दर रूपवाली स्त्रीरूपिणी यह नदी है। यदि संसार-सागर में डूबना न चाहते हो, तो दूर से ही इसका त्याग करना उचित है अन्यथा इस स्त्रीरूपी नदी का आश्रय लेने से संसार-समुद्र में डूबना ही निश्चित है ॥१०४–१०५॥

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंज्ञितं वडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्यं-
मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥१०६॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥१०७॥

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥१०८॥

इस संसार में कामरूपी मछुवे ने स्त्री नामक वडिश—मछली फँसाने का काँटा या वंशी को फैला रक्खा है जिसके द्वारा वह शीघ्र ही कामिनी के अधररूपी मांस के लिए लालायित पुरुषरूपी मीनों को खींचकर प्रेमाग्नि में भूँजता है ।

स्त्रियाँ किसी एक दूसरे के साथ बातचीत करती हैं, विलास यानी हाव-भाव आदि के साथ दूसरे की ओर देखती हैं तथा मन में बसने वाले किसी अन्य के विषय में सोचा करती हैं। फिर बतलाइए कि, स्त्रियों का प्यारा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं।

हे मनरूपी पथिक ! कुचरूपी पर्वतों के कारण अप्रवेश्य कामिनी के शरीररूपी दुर्गम मार्ग या वन में मत फिर, क्योंकि वहाँ कामरूपी लुटेरा निवास करता है ॥१०६-१०८॥

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षशिखानला-
त्प्रकृतिविषमाद्योषितसर्पाद्विलास फणाभृतः।
इतर फणिना दष्टा शक्याश्चिकिरिसतुमौषधे-
श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः ॥१०९॥

विरमत बुधा योतिरसङ्गात्सुखात्क्षणभङ्गुरा-
त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजन संगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीविम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥११०॥

हे मित्र ! कटाक्षरूप विषाग्निज्वाला वाले, स्वभावतः कुटिल, विलास की चेष्टारूप फणाओं को धारण करने वाले, इस स्त्री रूपी सर्पसे दूर ही से

हट जाओ; क्योंकि दूसरे सर्प द्वारा काटा हुआ व्यक्ति औषधियों द्वारा स्वस्थ किया जा सकता है किन्तु मान्त्रिक लोग चतुर स्त्रीरूपी सर्प से काटे हुए व्यक्ति को छोड़ देते हैं। क्योंकि ऐसे स्थान पर उनके मणि, मंत्र और औषधि आदि उपाय कुछ भी सफल नहीं होते।

बुद्धिमानो! स्त्रियों के संग से पैदा हुए क्षणिक नश्वर सुख से विश्राम लो यानी हटो और मैत्री, करुणा एवं प्रज्ञारूपी वधू से संगम करो। नरक में जब ताड़ना होगी, उस समय हारों से विभूषित स्त्रियों के परस्पर संलग्न स्तनमण्डल और क्षुद्रघंटिका से शोभित करधनीवाला नितम्बभाग निश्चित रूप से रक्षक नहीं हो सकता ॥१०९-११०॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन-
महो निन्द्यं रूपं कविजन विशेषैर्गुरुकृतम् ॥१११॥

धन्यास्त एव तरलायतलोचनानां
तारुण्यरूपघनपीनपयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवलीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥११२॥

वक्षःस्थल पर रहने वाले ये दोनों कुच तो मांस की गाँठें हैं, पर स्वर्ण कलश के समान बतलाए गए हैं। मुख तो कफ आदि का निवास स्थान है, परन्तु उसको चन्द्रमा की उपमा दी गई है। बहने वाले मूत्र से भीगी हुई जाँघों को श्रेष्ठ हाथी के सूँढ़ की उपमा से शोभित किया गया है। इस प्रकार कुछ विशिष्ट कवियों ने अत्यन्त निन्दनीय कामिनी के रूप को अत्यन्त गौरवपूर्ण बनाया है।

सुन्दर एवं विशाल नेत्रों वाली, यौवन के गर्व से अत्यन्त पुष्ट एवं स्थूल स्तनों वाली, क्षीण उदर पर शोभायमान त्रिवली लतावाली विलासिनियों के आकार को देखकर भी जिनका मन विकार (चंचलता) को नहीं प्राप्त होता, वे ही महापुरुष धन्य हैं ॥१११-११२॥

सदा योगाभ्यासव्यसनवशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमुतैः।

प्रियाणामालापैरधरमधुभिवक्र विधुभिः
सनिःश्वासामोदैः सकुचकलशाश्लेष सुरतैः ॥११३॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रय जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥११४॥

जिस समय यम-नियम आदि योगाभ्यास के साधनों से क्षीण चित्तवृत्तियों वाले पुरुष के आत्मा और मन की मैत्री अविच्छिन्न प्रकाशित होती है उस धन्यात्मा को, उन प्रियाओं के मधुर पारस्परिक भाषणों से, अधरामृतपान से, निःश्वास से उत्पन्न सुगन्धिपूर्ण मुखचन्द्रों से तथा कुचकलशों के सहित आलिङ्गन-क्रीडाओं से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् विवेकवैराग्यादि साधन-सम्पन्न महापुरुष को इन तुच्छ घृणित सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है।

स्त्री के कटाक्षरूपी तीर जिसके चित्त को छेड़ते नहीं, क्रोधाग्नि का ताप भी जिसको जलाता नहीं, लोभ के पाशों से नाना प्रकार के विषय जिसके चित्त को दुःखित नहीं करते—ऐसा धीर महापुरुष इस सम्पूर्ण त्रिलोकी को जय कर लेता है ॥११३-११४॥

भगवान् दत्तात्रेय

मनसा कर्मणा वाचा त्यजतां मृगलोचना।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि ॥११५॥

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षसुखार्गलाम् ॥११६॥

मूत्रशोणितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते।
चर्मकुण्डे ये रमन्ति ते लिप्यन्ते न संशयः ॥११७॥

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचविवर्जिता।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम् ॥११८॥

मन, कर्म एवं वाणी से मृगनयनी स्त्री का त्याग करो। यदि उसके प्रति हृदय आनन्दयुक्त है तो तुझे कदापि स्वर्ग और अपवर्ग कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

मैं नहीं जानता कि मृग के सदृश नेत्रवाली स्त्री को उसने क्यों बनाया ? उसको विश्वासघात करने वाली तथा स्वर्ग एवं मोक्षसुख के लिए नित्य अर्गलारूप समझो।

मूत्र एवं रुधिर से दुर्गन्धित, अपवित्र दूषित स्त्री-योनिद्वाररूप चर्म-कुण्ड में जो रमण करते हैं वे अवश्य ही पापों से लिप्त होते हैं इसमें संदेह नहीं। कुटिलता और दम्भ से संयुक्त, सत्य और शौचाचार से रहित समस्त प्राणियों के लिए बन्धनस्वरूपा नारी का निर्माण किसने किया? ॥११५-११८॥

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगी नरकं ध्रुवम्।
तस्यां जातो रतस्तत्र हा हा संसार स्थितिः ॥११९॥

जानामि नरकं नारीं ध्रुवं जानामि बन्धनम्।
यस्यां जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति ॥१२०॥

भगादिकुचपर्यन्तं संविद्धि नरकार्णवम्।
ये रमन्ति पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम् ॥१२१॥

विष्ठादिनरकंघोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यति रे चित्त कथं तत्रैव धावसि ॥१२२॥

तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाली एवं धारण-पोषण करने वाली स्त्री निश्चय ही प्रत्यक्ष नरक है। हा! हा!! यह संसार की कैसी विचित्र स्थिति है कि मनुष्य उसी से उत्पन्न होकर पुनः उसी में रमण करता है।

मैं जानता हूँ कि नारी निश्चय ही साक्षात् नरक है तथा इसको पुरुष के लिए दृढ़ बन्धनरूप भी जानता हूँ। आश्चर्य है कि मनुष्य जिस स्त्री-योनि से उत्पन्न होता है उसी में रमण करता है। उसके फलस्वरूप पुनः पुनः जन्म लेकर रमण के लिए उसी की ओर बार-बार दौड़ता है। फिर भी उस निर्लज्ज को इस घृणित कृत्य से विरति नहीं होती।

स्त्री की योनि से लेकर कुच तक के भाग को साक्षात् नरक का समुद्र समझो। जो मनुष्य उसमें रमण करते हैं भला, वे नरक को कैसे तर सकते हैं?

यह घोर नरकरूप स्त्री की योनि विष्ठा आदि दुर्गन्धित घृणित वस्तुओं से निर्मित है। इसलिए हे चित्त! तू ऐसे घृणित स्थान की ओर क्यों देखता है? और उसको श्रेष्ठ समझकर क्यों बार-बार उधर ही दौड़ता है? ॥११९-१२२॥

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च।
खण्डितं हि जगत्सर्वं देवासुरमानुषम् ॥१२३॥

देहार्णवे महाघोरे पूरितं चैव शोणितम् ।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम् ॥१२४॥

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमण्डितम् ।
ललितामिह पश्यन्ति महामन्त्रविरोधिनीम् ॥१२५॥

अज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम् ।
अहो जातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना ॥१२६॥

सड़े हुए दुर्गन्धित घाव के समान चर्मकुण्डरूप स्त्री की योनि से देवता, असुर एवं मनुष्य आदि के सहित सारा जगत् खण्डित हुआ है ।

जिसके महाघोर देहरूप समुद्र में रुधिर भरा हुआ है, ऐसी अधोमुख भग वाली नारी किसके द्वारा निर्मित हुई है ?

इसके शरीर में भीतर नरक समझो । यह वास्तव में कुटिल स्वभाव वाली होने पर भी बाहर से श्रृंगारयुक्त होने के कारण सुन्दर प्रतीत होती है और मोक्ष-प्राप्ति में यह सर्वथा विघ्न डालने वाली है ।

मनुष्य स्वरूपज्ञान के अभाव में, उसी से उत्पन्न होकर, उसी से जीवन प्राप्त किया । फिर भी, आश्चर्य है कि जिससे यह उत्पन्न हुआ उसी में पुनः रमण करता है । अहो ! यह कैसी संसार की विडम्बना है ॥१२३–१२६॥

तत्र मुग्धा रमन्ते च सदेवासुरमानवाः ।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः ॥१२७॥

अग्निकुण्डसमानारी घृतकुम्भसमोनरः ।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥१२८॥

गौडी पैष्ठी तथा माध्वी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
चतुर्थी स्त्री सुराज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ॥१२९॥

मद्यपानं महापापं नारी सङ्गस्तथैव च ।
तस्माद्द्वयं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः ॥१३०॥

उस स्त्री पर मुग्ध होकर जो देवतासहित असुर एवं मनुष्य रमण करते हैं, वे अवश्य ही घोर नरक को प्राप्त होते हैं, यह ध्रुव सत्य है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं । स्त्री अग्नि के कुण्ड के समान तथा पुरुष घृतकुम्भ के समान है । जैसे अग्नि के संसर्ग से घृत द्रवीभूत हो जाता है, वैसे ही पुरुष भी स्त्री-संसर्ग से द्रवीभूत हो, कामादि विकारों से निश्चित-

रूप से दूषित हो जाता है। इसलिए कल्याणकामी पुरुषों को आत्मकल्याणार्थ उन विकारों से मुक्त होने के लिए स्त्री का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

गौड़ी, माध्वी एवं पैष्ठी—यह तीन प्रकार की मदिरा लोक में प्रसिद्ध है। इससे भिन्न चौथी अत्यन्त ही मादक मदिरा स्त्री है, जिसके द्वारा सारा संसार मोहित हो रहा है।

जैसे मद्यपान करना महापाप माना गया है, वैसे ही स्त्री का संग भी महान् पाप है। इसलिए मननशील विवेकी पुरुष को इन दोनों का त्याग करके तत्त्वनिष्ठ होना चाहिए ॥१२७–१३०॥

अवधूत शिरोमणि श्रीशुकदेव जी

प्रीत्यर्जितं सर्वसुखंविनश्वरं
दुःखप्रदं कामिनीभोगसेवितम्।
एवं विदित्वा न धृतो हि योगो
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥१३१॥

मायाकरण्डी नरकस्यहण्डी
तपोविखण्डी सुकृतस्यभण्डी।
नृणांविखण्डी चिरसेविता चेत्
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥१३२॥

स्त्री की प्रीति एवं उसके सम्भोगजनित सकल सुख विनश्वर तथा परिणाम में अत्यन्त दुःखप्रद हैं, ऐसा समझकर जिस मनुष्य ने परमात्मप्राप्ति के लिए योगाभ्यास नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ गया। माया की करण्डी (पिटारी), नरक की हाँड़ी, तप का विशेष रूप से खण्डन करने वाली, पुण्य को भण्ड (भ्रष्ट) करनेवाली, मनुष्यों का नाश करनेवाली स्त्री का सेवन चिरकालपर्यन्त जिसने किया, उसका जीवन व्यर्थ हुआ।
॥१३१–१३२॥

समाधिहन्त्री जनमोहयित्री
धर्मकुमन्त्री कपटस्यतन्त्री।
सत्कर्महन्त्री कलिता च येन
वृथा गतं तस्त नरस्य जीवितम् ॥१३३॥

चिन्ताव्यथादुःखमयी सदोषा
संसारपाशा जनमोहकर्त्री।
संतापकोशा भजिता च येन
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥१३४॥

समाधि का नाश करने वाली, मनुष्यों को मोहित करने वाली, धर्म को नष्ट करने वाली, कपट के लिए वीणारूपिणी, सत्कर्मों की विनाशिका स्त्री का जिसने सेवन किया उसका जीवन व्यर्थ गया।

चिन्तामयी, व्यथामयी, दुःखमयी, दोषों से पूर्ण, संसारबंधन के लिए पाशरूपा, मनुष्य को विमोहित करने वाली, संताप की कोशरूपा स्त्री का जिसने सेवन किया, उसका जीवन व्यर्थ हुआ ।।१३३–१३४।।

कापट्यवेषा जनवञ्चिका सा
विण्मूत्रदुर्गन्धदरी दुराशा ।।
संसेविता येन सदा मलाढ्या
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।।१३५।

उन्मत्तवेषा मदिरासुमत्ता
पापप्रदा लोकविडम्बनीया ।
योगच्छला येन विभाजिता च
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।।१३६।।

कपट-वेष धारण करने वाली, मनुष्यों की वञ्चना करने वाली (ठगने वाली), विष्ठा, मूत्र और दुर्गन्ध की कन्दरा, दुष्ट अभिलाषा वाली, मलों से सदा परिपूर्ण स्त्री का सेवन जिसने किया, उसका जीवन व्यर्थ ही गया।

उन्मत्तवेषवाली, मद्य पीकर अत्यन्त उन्मत्त, पाप प्रदान करने वाली, लोकविडम्ब यानी पाखण्ड करने के स्वभाववाली, संयोग से छल करने वाली स्त्री का जिसने सेवन किया, उसका जीवन व्यर्थ हुआ ।।१३५–१३६।।

अशौचदेहा पतितस्वभावा
वपुः प्रगल्भा बललोभशीला ।
मृषावदन्ती कलिता च येन
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।।१३७।

संसारसद्भावन भक्तिहीना
चित्तस्यचोरा हृदि निर्दया च
विहाय योगं कलिता नरेण
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।।१३८।।

अशुद्ध शरीरवाली, पतितस्वभाववाली, शरीर से धृष्टता रखने वाली, अत्यन्त लोभ के शीलवाली, मिथ्याभाषण करने वाली स्त्री का जिसने सेवन किया, उसका जीवन व्यर्थ हो गया।

संसार में उत्तम प्रेम का प्रदर्शन करने वाली, भक्ति को निर्मूल करने वाली, चित्त को चुराने वाली, दयाशून्य हृदय वाली स्त्री का, जिस मनुष्य ने योग-साधन का त्याग करके सेवन किया, उसका जीवन व्यर्थ ही हुआ ॥१३७–१३८॥

यत्र जाता रतास्तत्र
ये पीतास्ते च मर्दिता।
अहोलोकस्य मूर्खत्वं
वैराग्यं नैव जायते ॥१३९॥

अमेध्यपूयक्रिमिजन्तुसंकुले
स्वभावदुर्गन्धिनि शौचवर्जिते।
कलेवरेमूत्रपुरीषभाजने
रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिता ॥१४०॥

अहो ! लोक की मूर्खता तो देखो, कि मनुष्य जिस योनिद्वार से उत्पन्न होता है, पुनः उसी में रमण करता है और उत्पन्न होकर जिस स्तन का पान किया है, उसी का मर्दन करता है; फिर भी इस अत्यन्त ही निन्दित कर्म से उसे वैराग्य नहीं होता। धिक्कार है ऐसे निर्लज्ज घृणित जीवन को। अपवित्र पीब एवं कृमि आदि जीवों से परिपूर्ण, स्वभाव से ही दुर्गन्धित, शौचाचार से रहित, मल-मूत्र के भाण्डरूप इस घृणित स्त्री-शरीर में केवल मूर्ख पुरुष ही रमण करते हैं, पण्डित या सदसद्विवेक-सम्पन्न ज्ञानी महापुरुष इससे वैराग्य को प्राप्त होते हैं ॥१३९–१४०॥

भगवती श्री दुर्गा देवी का भी स्त्री-शरीर के सम्बन्ध में कथन है कि:—

श्री दुर्गादेवी

मूर्खस्त्वमसि मन्दात्मन्यत्स्त्रीसङ्गं चिकीर्षसि।
नरस्य बन्धनार्थाय शृंखलास्त्री प्रकीर्तिता ॥१४१॥

लोहबद्धोऽपिमुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते।
किमिच्छसि च मन्दात्मन्मूत्रागारस्य सेवनम् ॥१४२॥

शमं कुरु सुखाय त्वं शमात्सुखमवाप्स्यसि।
नारीसङ्गे महद्दुःखं जानन्कि त्वं विमुह्यसि ॥१४३॥

हे दुरात्मन्! तुम मूर्ख हो, जो स्त्री-संग करने की इच्छा करते हो। स्त्री पुरुष को बाँधने के लिए श्रृंखला के समान कही गई है। लोहे से बँधा हुआ भी पुरुष छूट जाता है परन्तु स्त्री में बँधा हुआ कभी नहीं छूटता। दुरात्मन्! मूत्र के घर का सेवन करना क्यों चाहते हो? सुख-प्राप्ति के लिए तुम अपने मन को वश में करो। मन वशीभूत होने से तुम सुख को प्राप्त करोगे। स्त्री-संग में बहुत ही बड़ा दुःख है, यह जानते हुए भी तुम क्यों मूढ़ हो रहे हो ॥१४१-१४३॥

भगवान् श्रीअग्निदेव

मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यं तदष्टधा।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥१४४॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१४५॥
ब्रह्मचर्यं क्रियामूलमन्यथा विफला क्रिया।
वशिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्य्यः पितामहः ॥१४६॥
तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः ॥१४७॥

मैथुन का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है और वह मैथुन आठ प्रकार का माना गया है। स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उससे क्रीडा, उसका बार-बार दर्शन, स्त्री-सम्बन्धी गुह्य बातचीत, उसकी प्राप्ति का संकल्प, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास एवं मैथुन-क्रिया की पूर्णता—यह आठ अंगों वाला मैथुन मनीषियों द्वारा कहा जाता है। सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल यह ब्रह्मचर्य ही है अन्यथा सभी क्रिया निष्फल हो जाती है। वशिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्राचार्य, बृहस्पति एवं ब्रह्मा—ये सबके सब तपस्या और वयस में वृद्ध होने पर भी स्त्रियों के द्वारा विमोहित हुए ॥ १४४-१४७ ॥

क्योंकि श्री कामदेव का कथन है कि:—

श्री कामदेव

कामिनीनामहं देव अङ्गेषु निवसाम्यहम् ॥१४८॥
भाले कुचेषु नेत्रेषु कचाग्रेषु च सर्वदा।
नाभौ कट्यां पृष्ठदेशे जघने योनिमण्डले ॥१४९॥

अधरे दन्तभागेषु कक्षायां हि न संशयः।
अंगेष्वेवं प्रत्यङ्गेषु सर्वत्र निवसाम्यहम् ॥१५०॥
नारी मम गृहं देव सदा तत्र वसाम्यहम्।
तत्रस्थः पुरुषान्सर्वान्मारयामि न संशयः ॥१५१॥

मैं कामिनियों के अंगों में सर्वदा निवास करता हूँ। ललाट पर, स्तनों पर, आँखों में, बालों के अग्रभाग पर, नाभि पर, कमर में, पीठ में, जाँघ में, योनिमण्डल में, ओठ पर, दाँतों के भागों में, उनकी कक्षाओं में मैं निवास करता है, इसमें कोई संशय नहीं। इस प्रकार मैं उनके अंग-प्रत्यंग में सब स्थान पर निवास करता हूँ। स्त्री तो मेरा घर है, मैं वहाँ सर्वदा निवास करता हूँ वहीं रहते हुए मैं सभी पुरुषों को मारता रहता हूँ, इसमें कोई संशय नहीं ॥१४८–१५१॥

इसीलिए,

गाधिसम्भवपराशरादयः कण्डुदेवलमुखाश्च ये द्विजाः।
तेऽपि योगिवलिनो विमोहिता लीलया तदबलाभिरद्भुतम् ॥१५२॥
योषितां नयनतीक्ष्णसायकैर्भ्रूलता सुदृढचापनिर्गतैः।
धन्विनामकरकेतुना हृतःकस्य नो पतति वा मनोभृशम् ॥१५३॥

गाधिपुत्र विश्वामित्र, पराशर आदि और कण्डु, देवल, जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हुए हैं वे भी योगबलसम्पन्न होने पर भी लीलापूर्वक अबलाओं द्वारा विमोहित कर लिए गए हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। किसका मन है जो धनुर्धर कामदेव के द्वारा छोड़े गए, भौंहों के दृढ धनुष से छूटे हुए स्त्री के नेत्ररूपी तीखे बाणों से मारा हुआ अत्यन्त घायल नहीं हो जाता। ॥१५२–१५३॥

मेधावी

तावदेव नयधीर्विराजते तावदेव जनताभयंभवेत्।
तावदेव धृतचित्तता भृशं तावदेव गणना कुलस्य च ॥१५४॥
तावदेव तपसः प्रगल्भता तावदेव शमसेवनं नृणाम्।
यावदेव ललनेक्षणासवैर्माद्यते द्रुतमदेनं पूरुषः ॥१५५॥
मोहयन्ति मदयन्ति रागिणं योषितः स्वललितैर्मनोहरैः।
मोहयन्ति मदयन्ति मामिमं धर्मरक्षणपरं हि स्वैर्गुणैः ॥१५६॥
मांसरक्तमलमूत्रनिर्मिते योषितां वपुषि निर्गुणेऽशुचौ।
कामिनस्तु परिकल्प्य चारुतामाविशन्ति सुविमूढचेतसः ॥१५७॥

तभी तक नीतियुक्त बुद्धि रहती है, तभी तक लोगों का भय रहता है, तभी तक चित्त अधिक धैर्यवान् रहता है, तभी तक कुल की गणना होती है, तभी तक तपस्या की तीव्रता रहती है और तभी तक मनुष्यों का मन शम-सेवन से युक्त रहता है, जब तक पुरुष स्त्री की दृष्टिरूपी द्रवीभूत मदवाले आसव से मतवाला नहीं कर दिया जाता। स्त्रियाँ अपनी मनोहर लीलाओं से रागी पुरुषों को तो मोहित कर ही देती हैं, उन्हें मतवाला कर ही देती हैं, मुझ-जैसे धर्मरक्षा के परायण रहने वाले को भी ये अपने गुणों से मुग्ध कर देती हैं, मत्त कर देती हैं। इस प्रकार विमोहितचित्त वाले कामी पुरुष मांस, रक्त, मल, मूत्र से बने हुए, गुणरहित, अपवित्र स्त्रियों के शरीर में सुन्दरता की मिथ्या कल्पना करके उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥१५४–१५७॥

पुराणवक्ता श्री सूतजी

नार्यस्तत्सङ्गिनश्चापि हरिभक्तिविघातकाः।
नारीणां नयनादेशः सुराणामपि दुर्जयः ॥१५८॥

स येन विजितो लोके हरिभक्तः स उच्यते।
माद्यन्ति मुनयोऽप्यत्र नारीचरितलोलुपाः ॥१५९॥

हरिभक्तिः कुतः पुंसां नारीभक्तिजुषां द्विजाः।
राक्षस्यः कामिनीवेषाश्चरन्ति जगति द्विजाः ॥१६०॥

स्त्रियाँ और उनमें आसक्त रहने वाले कामी पुरुष—दोनों ही भगवान् श्री विष्णु की भक्ति के विशेष घातक हैं। स्त्रियों के नेत्र का संकेत तो देवताओं के लिए भी दुर्जय है। जिसने उसे जीत लिया, वही इस संसार में विष्णुभक्त कहा जाता है। मुनिजन भी स्त्रीचरित्र के लोलुप होकर यहाँ उन्मत्त हो जाते हैं। स्त्री भक्ति से युक्त पुरुषों को हरिभक्ति कहाँ से आ सकती है? ये राक्षसियाँ ही तो हैं जो जगत् में स्त्रियों का वेष धारण कर विचर रही हैं ॥१५८–१६०॥

नराणां बुद्धिकवलं कुर्वन्ति सततं हि ताः।
तावद्विद्या प्रभवति तावज्ज्ञानं प्रवर्तते ॥१६१॥

तावत्सुनिर्मला मेधा सर्वशास्त्रविधारिणी।
तावज्जपस्तपस्तावत्तावत्तीर्थनिषेवणम् ॥१६२॥

तावच्च गुरुशुश्रूषा तावद्धितरणे मतिः।
तावत्प्रबोधो भवति विवेकस्तावदेव हि ॥१६३॥

तावत्सतांसङ्गरुचिस्तावत्पौराणलालसा ।
यावत्सीमन्तिनी लोलनयनान्दोलनं न हि ॥१६४॥

निश्चय ही वे स्त्रियाँ निरन्तर पुरुषों की बुद्धि को ग्रास बनाती रहती हैं। तभी तक विद्या का प्रभाव होता है, तभी तक ज्ञान व्यापार करता है, तभी तक सभी शास्त्रों को धारण करने वाली निर्मल बुद्धि रहती है, तभी तक जप, तप और तीर्थों का सेवन होता है, तभी तक गुरु-सेवा होती है, तभी तक मोक्ष की इच्छा रहती है, तभी तक बोध रहता है, तभी तक विवेक भी रहता है, तभी तक साधु-संग में रुचि रहती है और तभी तक पुराण-प्रतिपादित धर्म की लालसा मन में होती है जब तक स्त्री की चंचल आँखें अभी हिली नहीं हैं ॥१६१-१६४॥

जनोपरि पतेद्विप्राः सर्वधर्मविलोपनम् ।
तत्र ये हरिपादाब्जमधुलेशप्रसादिताः ॥१६५॥

तेषां न नारी लोलाक्षिक्षेपणं हि प्रभुर्भवेत् ।
जन्मजन्म हृषीकेश सेवनं यैः कृतं द्विजाः ॥१६६॥

द्विजे दत्तं हुतं वह्नौ विरतिस्तत्रतत्र हि ।
नारीणां किल किं नाम सौन्दर्यं परिचक्षते ॥१६७।

स्त्री के कारण मनुष्य के ऊपर उसके सर्व धर्मों का विलोप आ पड़ता है और वहाँ भी जिनका चित्त भगवान् श्रीविष्णु के चरणकमलों के मधु का लेशमात्र भी प्रसाद पा चुका है, उनको स्त्री अपने चंचल नेत्र फेंककर कभी भी वशीभूत करने में समर्थ नहीं हो सकती। जिन्होंने जन्म-जन्म से हृषीकेश का सेवन किया है, ब्राह्मणों को दान दिया है, अग्नि में हवन किया है और पुनः वहाँ-वहाँ वैराग्य भी हुआ है, वे भला स्त्रियों का कौन-सा सौन्दर्य देखेंगे ? ॥१६५-१६७॥

भूषणानां च वस्त्राणां चाकचक्यं तदुच्यते ।
स्नेहात्मज्ञानरहितं नारीरूपं कुतः स्मृतम् ॥१६८॥

पूयमूत्रपुरीषासृक्त्वङ्मेदोस्थिवसान्वितम् ।
कलेवरं हि तन्नाम कुतः सौन्दर्यमत्र हि ॥१६९॥

तदेवं पृथगाचिन्त्य स्पृष्ट्वा स्नात्वा शुचिर्भवेत् ।
तैः संहितं शरीरं हि दृश्यते सुन्दरं जनैः १७०॥

वह वस्त्रों और आभूषणों की जगमगाहटमात्र कही जाती है, स्नेह और आत्मज्ञान से रहित ऐसी नारी का रूप भला, कहाँ से स्मरण किया जा सकता है ?

दुर्गन्धयुक्त पीब, मूत्र, मल, रक्त, त्वचा, मेदा, अस्थि एवं वसा से युक्त नारी का शरीर है; भला, उसमें सौन्दर्य कहाँ से ? इन्हीं वस्तुओं को पृथक्-पृथक् विचार कर, उनका स्पर्श करके मनुष्य पुनः स्नानोत्तर ही शुद्धि को प्राप्त होता है। इन्हीं अशुद्ध वस्तुओं के संघातरूप इस स्त्री-शरीर को लोग सुन्दर देखते हैं ॥१६८-१७०॥

अहोऽतिदुर्दशा नृणां दुर्दैवघटिता द्विजाः ।
कुचावृतेऽङ्गे पुरुषो नारीबुद्धया प्रवर्तते ॥१७१॥

का नारी वा पुमान्को वा विचारे सति किञ्चन ।
तस्मात्सर्वात्मना साधुर्नारीसङ्गं विवर्जयेत् ॥१७२॥

को नाम नारीमासाद्य सिद्धिं प्राप्नोति भूतले ।
कामिनी कामिनीसङ्गिसङ्गमित्यपि सन्त्यजेत् ॥१७३॥

तत्सङ्गाद्रौरवमिति साक्षादेव प्रतीयते ।
अज्ञानाल्लोलुपा लोकास्तत्र दैवेन वञ्चिताः ॥१७४॥

बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि दुर्भाग्य के द्वारा बनाई गई मनुष्यों की यह अत्यन्त दुर्दशा है कि पुरुष स्तनों से आवृत अंग में स्त्री-बुद्धिसे प्रवृत्त हो जाता है। थोड़ा-सा भी विचार होने पर कौन स्त्री है ? और कौन पुरुष है ? अतएव साधु पुरुष को चाहिए कि वह सर्वतोभाव से स्त्री-विषयक आसक्ति को छोड़ दे। स्त्री को प्राप्त कर पृथ्वी पर ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो सिद्धि को प्राप्त कर सकता है ? अतएव कामिनियों को तो छोड़ना ही चाहिए, उनके सङ्गियों के संग को भी छोड़ देना चाहिए। स्त्रीविषयक आसक्ति के कारण साक्षात् रौरवनरक की प्रतीति होती है, फिर भी अज्ञान के कारण स्त्री-लम्पट लोग दैव के द्वारा उससे ठग लिए जाते हैं ॥१७१-१७४॥

साक्षान्नरककुण्डेऽस्मिन्नारी योनौ पचेन्नरः ।
यत एवागतः पृथ्व्यां तस्मिन्नेव पुनारमेत् ॥१७५॥

यतः प्रसरते नित्यं मूत्रं रेतोमलोत्थितम् ।
तत्रैव रमते लोकः कस्तस्मादशुचिर्भवेत् ॥१७६॥

तत्रातिकष्टे लोकेऽस्मिन्नहो दैवविडम्बना।
पुनः पुनारमेत्तत्र अहो निस्त्रपता नृणाम् ॥१७७॥
तस्माद्विचारयेद्धीमान्नारीदोषगणान्बहून् ॥१७७½॥

स्त्री की योनिरूपी इस साक्षात् नरककुण्ड में मनुष्य पकता है। यहाँ जिस योनिद्वार से निकलकर पृथ्वी पर आया है, उसी में पुनः रमण करता है। जहाँ से नित्य मूत्र का स्राव होता रहता है, जिसमें से रज का मल निकलता है उसी में यह संसार रमण करता है। भला, उससे बढ़कर अपवित्र और क्या है? अरे! इस कष्टपूर्ण संसार में दैवी माया की छलना कैसी है? मनुष्य की ऐसी घृणित निर्लज्जता, कि वह इसी योनिरूप नरककुण्ड में बार-बार रमण करता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह नारियों के इन बहुत-से दोषसमूहों का बार-बार विचार करता रहे॥
॥ १७५–१७७½ ॥

मैथुनाद् बलहानिःस्यान्निद्राऽतितरुणायते ॥१७८॥
निद्रयाऽपहृतज्ञानः स्वल्पायुर्जायते नरः।
तस्मात्प्रयत्नतो धीमान्नारीं मृत्युमिवात्मनः ॥१७९॥
पश्येद्गोविन्दपादाब्जे मनो वै रमयेद् बुधः।
इहामुत्र सुखं तद्धि गोविन्दपदसेवनम् ॥१८०॥
विहाय को महामूढो नारीपादं हि सेवते।
जनार्दनाङ्घ्रिसेवा हि ह्यपुनर्भवदायिनी ॥१८१॥

मैथुन से बल की हानि होती है, निद्रा अत्यन्त तरुण होती जाती है। निद्रा से मनुष्य का ज्ञान मारा जाता है और वह अल्पायु होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष प्रयत्नपूर्वक स्त्री को अपनी मृत्यु की तरह देखे। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने मन को भगवान् गोविन्द के कमलवत् चरणों में लगावे; क्योंकि इस लोक और परलोक में यदि सुख कुछ है, तो वह है गोविन्द के चरणों की सेवा। उसे छोड़कर कौन ऐसा मूर्ख है जो स्त्री के चरणों की सेवा करना चाहेगा? क्योंकि जनार्दन के चरणों की सेवा ही पुनर्जन्म से छुड़ाने वाली है॥१७८-१८१॥

नारीणां योनिसेवा हि योनिसङ्कटकारिणी।
पुनः पुनः पतेद्योनौ यन्त्रनिष्पाचितो यथा ॥१८२॥

पुनस्तामेवाभिलषेद्विद्यादस्य विडम्बनम् ।
ऊर्ध्वंबाहुरहं वच्मि शृणु मे परमं वचः ॥१८३॥

गोविन्दे धेहि हृदयं न योनौ यातनाजुषि ।
नारीसङ्गं परित्यज्य यश्चापि परिवर्त्तते ॥१८४॥

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलमाप्नोति मानवः ।
कुलाङ्गना देवयोगाद्गूढा यदि नृणां सती ॥१८५॥

पुत्रमुत्पाद्य यस्तत्र तत्सङ्गं परिवर्जयेत् ।
तस्य तुष्टो जगन्नाथो भवत्येव न संशयः ॥१८६॥

स्त्री की योनि का सेवन चौरासी लाख योनियों का संकट प्रदान करने वाला है । यन्त्र में पचाए हुए की भाँति वह पुनः पुनः योनि में पड़ता है । ऐसा होने पर भी पुनः यदि उस स्त्री की कामना करे, तो यह उसी नारी की माया है । मैं ऊर्ध्वबाहु होकर कहता हूँ, मेरे वचनों को सुनो । आप लोग अपने हृदय को गोविन्द में लगायें, न कि यातनाओं में जोड़ने वाली स्त्र' की योनि में । जो मनुष्य स्त्री-संग का परित्याग करके विचरण करता है, वह पद-पद पर अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है । यदि दैवयोग से मनुष्यों को छिपी हुई कुलाङ्गना सती स्त्री भी प्राप्त हो जाय, तो भी जो उससे पुत्र उत्पन्न करके उसके संग का परित्याग कर देता है, उससे भगवान् जगन्नाथ तुष्ट होते हैं, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं ॥१८२-१८६॥

नारी सङ्गो हि धर्मज्ञैरसत्सङ्ग प्रकीर्त्यते ।
तस्मिन्सति हरौभक्तिः सुदृढा नैव जायते ॥१८७॥

सर्वसङ्गंपरित्यज्य हरौ भक्ति समाचरेत् ।
हरिभक्तिश्च लोकेऽत्र दुर्लभा हि मता मम ॥१८८॥

हरौ यस्य भवेद्भक्तिः स कृतार्थो न संशयः ।
तत्तदेवाचरेत्कर्म हरिः प्रीणाति येन हि ॥१८९॥

तस्मिंस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत् ।
हरौभक्ति विना नृणां वृथा जन्म प्रकीर्तितम् ॥१९०॥

धर्मज्ञ लोग नारी-संग को ही असत्संग कहते हैं उसके होते हुए भगवान् विष्णु में सुदृढ़ भक्ति नहीं हो सकती । सम्पूर्ण आसक्तियों का त्याग कर भगवान् विष्णु में भक्ति करनी चाहिए । मेरे विचार से संसार में हरि

की भक्ति दुर्लभ है। विष्णु में जिसकी भक्ति हो जाए, वह कृतार्थ हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं। अतएव उसी-उसी कर्म को सर्वदा करना चाहिए, जिससे भगवान् विष्णु प्रसन्न हों। उनके तुष्ट होने पर सारा संसार तुष्ट हो जाता है, उनके प्रसन्न होने पर सारा संसार प्रसन्न हो जाता है। सर्वत्र ऐसा कहा गया है कि विष्णु-भक्ति के बिना मनुष्यों का जन्म व्यर्थ है।

॥१८७-१९०॥

ब्रह्मेशादिसुरा यस्य यजन्ते प्रीतिहेतवे।
नारायणमनाव्यक्तं न तं सेवेत को जनः ॥१९१॥
तस्य माता महाभागा पिता तस्य महाकृती।
जनार्दनपदद्वन्द्वं हृदये येन धार्यते ॥१९२॥

ब्रह्मा, शिव आदि देवगण भी जिनकी प्रसन्नता के लिए यजन करते हैं, ऐसे उन अव्यक्त नारायण की सेवा कौन-सा मनुष्य नहीं करेगा?

उसकी माता महापुण्यवती है, उसका पिता महासुकृती है जिसने अपने हृदय में नारायण के चरणयुग्मों को धारण कर रक्खा है ॥१९१-१९२॥

अवधूत शिरोमणि श्री शुकदेवजी

सुरूपं शरीरं नवीनं कलत्रं
धनं मेरुतुल्यं वचश्चारुचित्रम्।
हरेरंघ्रियुग्मे मनश्चेदलग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥१९३॥
दाराधनागारशरीरबान्धवा
एते भवन्ति प्रतिजन्मदुःखदाः।
तावन्न यावद्धरिपादपल्लवं
भजेत धीरोऽखिलकामवर्जितः ॥१९४॥

सुन्दर शरीर, नवयौवनसंपन्नास्त्री, मेरुपर्वत के तुल्य धन, चित्र-विचित्र चटकीले-भड़कीले एवं रसीले वचन के प्राप्त होने पर भी यदि भगवान् श्रीहरि के युगल-चरणों में मन नहीं लगा, तो क्या हुआ? यानी सब कुछ व्यर्थ ही है।

स्त्री, धन, गृह, शरीर और बान्धव—ये तबतक प्रत्येक जन्म में दुःख-दायी होते हैं जब तक धीर पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागकर भगवान् विष्णु के पाद-पल्लवों का भजन नहीं करता ॥१९३-१९४॥

चूँकि,

भगवान् यमराज

"विघ्नराज्ञी तु वै नारी लोकेषु परिगीयते" ॥१९५॥

लोक में नारी को समस्त विघ्नों की रानी कहा गया है। इसीलिए यह इस अपने स्वभाववश आत्माराम महापुरुषों पर भी अपना हाथ फेरने के लिए सर्वदा उद्यत रहती है। भगवान् ने भी अपनी इस स्त्रीरूपिणी माया के सम्बन्ध में कहा है कि:—

योषितरूपा च मे माया सर्वेषां मोहकारिणी।
लीलयाकुरुते मोहं स्वात्मारामस्य संततम् ॥१९६॥

मेरी स्त्रीरूपिणी प्रबल माया इस संसार में समस्त प्राणियों को मोहित करनेवाली है। यहाँ तक कि सतत् आत्मा में रमण करने में प्रयत्नशील आत्माराम महापुरुषों को भी, कभी थोड़ी-सी भी बहिर्मुखता का अवसर प्राप्त होने पर, यह अनायास ही लीलापूर्वक मोहित कर लेती है। इसलिए,

भगवान् कपिल १९७

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्यपारं परमारुरुक्षु।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥१९७॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥१९८॥

जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता है अथवा जिसने मेरी सेवा के प्रभाव से विशुद्धान्तःकरण हो, आत्मबोध प्राप्त कर लिया है, उसे उन विघ्नभूता स्त्रियों का संग भूलकर भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसे पुरुषों के लिए, उन्हें प्रत्यक्ष खुले हुए नरक का द्वार बतलाया गया है। इस संसार में चाहे विद्वान् हो अथवा अविद्वान्—सभी को अपने स्मरण एवं दर्शन आदि के द्वारा प्रकर्षरूप से मदान्ध करनेवाली यह प्रमदा, काम-क्रोध के वशानुवर्ती बनाकर, कल्याण-पथ से भ्रष्ट करके कुमार्ग पर ले जाने के लिए पर्याप्त है ॥१९७–१९८॥

स्त्रिया तनोति संसारः स्त्री त्यागाज्जगतः क्षयः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखीभव ॥१९९॥

चूँकि स्त्री के द्वारा ही संसार का विस्तार होता है और स्त्री के त्याग से जगत् का क्षय हो जाता है। इस प्रकार स्त्री का त्याग कर देने से जगत् का त्याग हो जाता है इसलिए जगत् का त्याग करके सुखी होओ ॥१९९॥

रक्ष रक्ष हरे माञ्च निमग्नं कामसागरे।
दुष्कीर्तिजलपूर्णे च दुष्पारे बहुसङ्कटे ॥२००॥
भक्तिविस्मृतबीजे च विपत्सोपानदुस्तरे।
अतीव निर्मल ज्ञानचक्षुःप्रच्छन्नकारणे ॥२०१॥
जन्मोर्मिसङ्घसहिते योषिन्नक्रौघसङ्कुले।
रतिस्रोतः समायुक्ते गम्भीरे घोर एव च ॥२०२॥
प्रथमामृतरूपे च परिणामविषालये।
यमालयप्रवेशाय मुक्तिद्वारातिविस्मृते ॥२०३॥
बुद्ध्या तरण्या विज्ञानैरुद्धरास्मानतः।
स्वयञ्च त्वं कर्णधारः प्रसीद मधुसूदन ॥२०४॥
हे नाथ करुणासिन्धो दीनबन्धो कृपां कुरु।
त्वं महेश महाज्ञाता दुःस्वप्नं मां न दर्शय ॥२०५॥

हे विष्णो ! कामरूपी सागर में डूबे हुए मुझको बचाओ, बचाओ। इसमें दुष्कीर्ति का जल भरा हुआ है, इसका पार पाना अत्यन्त ही कठिन है और इसमें अनेक प्रकार के संकट हैं। यह भक्ति की विस्मृति कराने का बीज है, विपत्तियों के दुस्तर सोपानोंवाला है, अत्यन्त निर्मल ज्ञान-चक्षु को भी प्रच्छन्न करने का कारण है, जन्मरूपी लहरों की संघों से युक्त है, स्त्रीरूपी घड़ियालों के समूह से आपूर्यमाण है, रतिरूपी स्रोतों से युक्त है, गम्भीर है, घोर-भयंकर है, प्रथम अमृत के तुल्य रूपवाला है, परिणाम में विष का घर है, यमलोक में ले जाने के लिए मुक्ति के द्वार का अत्यन्त विस्मरण कराने वाला है। हे मधुसूदन ! आप प्रसन्न हो जाइए। आप स्वयं कर्णधार बनकर, बुद्धि की नौका बनाकर विज्ञानों द्वारा यहाँ से हमलोगों का उद्धार कीजिए। हे नाथ ! आप करुणा के सिन्धु हैं, आप दीनों के बन्धु हैं, आप कृपा कीजिए। आप ही महेश्वर हैं, आप ही महाज्ञाता हैं, अब मुझे कभी दुःस्वप्न न दिखलाएँ ॥२००–२०५॥

वित्तैषणा-दोष







निवृत्ति-प्रकरण

॥ ॐ ॥

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

अब तक पिछले अध्यायों में समस्त कल्याण-साधनों की विघ्नभूता मायामयी नारी के स्वाभाविक दोषों का शास्त्रीय चित्रण विस्तारपूर्वक किया गया। जिसका स्वाध्याय एवं मनन करके पुण्यात्मा विवेकी पुरुष इस घृणित अस्मरणीय नारी शरीर में मायिक, प्रातिभासिक, विभिन्न वस्त्राभूषणों की जगमगाहटमात्र आपातरमणीयता के मोहात्मक आकर्षण से सर्वथा उपरत हो, अपना आत्यन्तिक कल्याण सम्पादन करने में पूर्ण समर्थ होगा। इसमें तनिक भी संशय नहीं।

तदनन्तर वित्तैषणारूप दोष की निःशेष निवृत्ति के लिए श्री—धन-सम्पत्ति की निस्सारता एवं दुःखरूपता का तथा इसके प्रति होने वाली तृष्णा के दोषों का भी निरूपण आगे के दो अध्यायों में किया गया है। क्योंकि,

"किमत्र हेयं कनकं च कान्ता"

इस आचार्य शंकर के वचनानुसार, आत्यन्तिक कल्याणस्वरूप मोक्ष के अभिलाषी पुरुषों के लिए प्रौढ़ बन्धनात्मक बेड़ीरूप कामिनी और कांचन ही सर्वथा त्याग करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे कामिनी के संग से समस्त कल्याणमय गुणगणों का सर्वथा विनाश हो जाता है उसी प्रकार इस श्री-धनसम्पत्ति के कारण भी मनुष्य के सभी सद्गुण विदा हो जाते हैं। क्योंकि यह श्री—धनसंपत्ति असंख्य दुर्दशाओं की जननी, अनन्त चिन्ताओं की पिटारी; शोक, मोह, क्रोध, राग, कायरता एवं श्रम आदि का शिकार बनाने वाली; विवेक, वैराग्य, सौजन्य, क्षमा, दया, करुणा, मैत्री आदि समस्त गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर भी पानी फेरने वाली; भ्रान्ति, विषाद विकल्प एवं संशयों की वृद्धि करने वाली; विपत्तियों की बीज, ज्ञान के आच्छन्न का कारण, मुक्तिमार्ग का कुठार, भक्ति के लिए व्यवधानरूप, जन्म, मृत्यु, जरा, शोक, रोग आदि का बीजाङ्कुर, समस्त दुष्ट भाव-विकारों, दुष्टकर्मों, दीनता, दुष्टता एवं जलन आदि का ढेररूप, महादुःख-प्रदायिनी एवं महामोह से आवृत करने वाली है।

जिस श्री यानी धन-सम्पत्ति के कमाने, कमा लेने पर बढ़ाने, रक्षाकरने, खर्च करने तथा नाश एवं उपयोग में सर्वत्र नित्य-निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है तथा जिसके प्राप्त हो जाने पर, चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थरूप दोष स्वभावतः प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ धनवान् पुरुषों पर, राजा, चोर–डकैत उत्तराधिकारी, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्राणी—ये निरन्तर चोट पहुँचाते रहते हैं।

बड़े-बड़े विद्वान् , शूरवीर, कृतज्ञ, धीर, बहुश्रुत, महत्ता को प्राप्त, मेरु के समान गौरवान्वित, बल, तेज, वीर्य, शौर्य एवं पौरुष से युक्त, सर्व-सम्मानित, सर्व ओर से प्रवृद्धि को प्राप्त, सुन्दर तथा कोमल स्वभाववाले पुरुषों को भी, जो एकमात्र अपनी तृष्णा द्वारा तिनके के समान लघु बनाकर उनके सर्वप्रशंसित उत्तम यश, कीर्ति आदि को कलंकित कर देती है। तथा जिसके अर्जन में दुःख, उपार्जित की रक्षा में दुःख, नाश और व्यय में भी सर्वत्र दुःख की ही प्राप्ति होती है ऐसे केवल दुःख के भाजनरूप श्री-धन-संपत्ति की कौन बुद्धिमान पुरुष अभिलाषा करेगा ? धन के उपार्जन और रक्षण में जो घोर यातनाएँ स्वभावतः प्राप्त होती हैं उसको जानकर और धनियों की प्रत्यक्ष दुर्दशाओं को देखकर भी जो, धन की अभिलाषा करता है उस मूढ़ नरपशु को धिक्कार है ! बारम्बार धिक्कार है !! इसीलिए विवेकी पुरुष महान् विपत्तिरूप सम्पत्ति की कभी भी अभिलाषा नहीं करते। ऐसे विवेक-विज्ञान-सम्पन्न निस्पृह अकिंचन पुरुष जिस दिव्य सुख का आस्वादन करते हैं, उसको भला, धनलोलुप प्राणी सर्वत्र धन की तृष्णा में हाय ! हाय !! करता हुआ, कहाँ प्राप्त कर सकता है ? यही नहीं, अपितु सौ अश्वमेध यज्ञों के फलस्वरूप इन्द्रत्व पद को प्राप्त, त्रैलोक्य के ऐश्वर्य का भोगनेवाला भी, कोई प्राणी उन निःस्पृह, निरपेक्ष, अकिंचन महापुरुषों के सुख का क्षण भर भी अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिए ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष अपने विवेकरूपी निर्मल खड्ग से, इस सर्वविमोहिनी श्री की तृष्णा को अनायास ही काटकर, इसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त हो, निर्भय, निश्चिंत होकर, स्वच्छन्दरूपेण इस पृथ्वीतल पर रागद्वेषशून्य सम—शान्त वृत्ति से कीटवत् विचरण करते रहते हैं।

उपर्युक्त प्रसंगों से यह सिद्ध हुआ कि कामिनी की भाँति श्री—लक्ष्मी भी समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली है। अतः मुमुक्षु के लिए जैसे कामिनी त्याज्य है वैसे ही श्री—काँचन भी। ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं, दोनों लक्ष्मी ही हैं, अन्तर इतना ही है कि एकचेतनरूप में है और दूसरी जड़रूप में। ये दोनों ही समानरूप से मोह के कारण हैं। दोनों का रहना-सहना बहुधा साथ-साथ ही हुआ करता है। जहाँ चेतन लक्ष्मीरूप कामिनी का निवास होता है वहाँ उसके लिए जड़ लक्ष्मीरूप कांचन यानी श्री की भी अपेक्षा हो जाती है। यदि किसी के पास जड़ लक्ष्मीरूप कांचन की स्थिति है तो वहाँ किसी न किसी मिस से निश्चय ही चेतन लक्ष्मीरूप कामिनी पहुँच जाएगी इसलिए वस्तुतः कामिनी-कांचन ही प्रबल माया है, जिसके कारण महाभारत एवं राम-रावण आदि बड़े-बड़े विशाल युद्ध हुए, जिसमें असंख्य लोग सर्वदा के लिए मृत्यु के शिकार बन गए। आज भी इन्हीं दोनों के कारण घर-घर में घोर कलह मचा हुआ है। इन्हीं का ही निर्णय बड़े-बड़े न्यायालयों में न्यायाधीशों द्वारा किया जाता है। इन्हीं के ही वशीभूत हुआ जीव अपने कल्याणपथ से सर्वथा च्युत हो, केवल दुःखप्रधान नारकीय योनियों की कठोर यातनाओं का बलात् आलिंगन करता हुआ, इस भयंकर संसार-समुद्र में डूबता-उतराता हुआ, दुःख एवं अशान्ति की भीषण दावाग्नि में भस्मीभूत होता हुआ, तज्जनित ज्वर-संताप से मुक्त नहीं हो पाता। क्योंकि इन्हीं दोनों में मुग्धान्तःकरण होने के कारण केवल इन्हीं के लिए वह घोर से भी घोर पापात्मक दोषपूर्ण घृणित कर्मों का सम्पादन करता है, जिसके फलस्वरूप वह बारम्बार मल-मूत्र से पूर्ण दूषित कुण्डरूप गर्भ की झिल्ली से बँधा हुआ, निरन्तर दुःख-संताप की अग्नि से जलता रहता है। इसलिए इस अध्याय में, वित्तैषणारूप दोष की निःशेष निवृत्ति के लिए वित्त का स्वरूप क्या है? इसके अर्जन, रक्षण, नाश आदि विभिन्न अवस्थाओं में सर्वत्र केवल मृत्यु का ही किस प्रकार सामना करना पड़ता है? इसकी अपनी उपस्थिति में किन-किन दोषों की स्वभावतः उपस्थिति होती है? इत्यादि प्रकार से धन के विकृत स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस श्री—धन सम्पत्ति की मोहात्मक आसक्ति के कारण लोभी पुरुष संसार में इससे भिन्न अन्य कुछ श्रेय की वस्तु देखता ही नहीं तथा इसी के कारण वह अपने पारिवारिक संबन्ध के शिष्टाचार को भी तिलांजलि देकर, अपने शरीर एवं प्राणों तक

की भी आहुति कर देता है। श्री मदान्धपुरुष रजतमात्मक दोषों से बुरी तरह आक्रान्त, विक्षिप्तचित्त हो, स्वात्मानुभूति के सत्त्वप्रधान कल्याणप्रद साधनों से सर्वतः स्खलित हो, स्वकृत दुष्ट कर्मों के फलस्वरूप बारम्बार आसुरी योनियों में भ्रमण करता हुआ, केवल दुर्गति का शिकार होता रहता है।

अतः इस अध्याय में वर्णित वित्तसम्बन्धी दोषों का मननात्मक अध्ययन कर कोई भी बुद्धिमान् विवेकी पुरुष अवश्य ही अर्थ नामधारी अनर्थरूप महाराक्षस के विकराल दाढ़ों से मुक्त हो, योग-क्षेम की चिन्ता से शून्य, सर्वत्र प्रारब्धानुसार स्वभावतः प्राप्त भोगों का यथेच्छ उपभोग करते हुए, सुखदुःखात्मक द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त हो, सर्वात्मदर्शन के द्वारा द्वन्द्वातीत आत्मसुख का आस्वादन कर, स्वान्तःसुखी हो जाएगा।



वैराग्यार्थ धन-सम्पत्ति की निस्सारता
एवं
दुःखरूपता का वर्णन

इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिकल्पिता।
श्रीर्मुने परिमोहाय साऽपि नूनं कदर्थदा ॥१॥
चिन्तादुहितरो बह्वयो भूरिदुर्ललितैधिताः।
चंचलाः प्रभवन्त्यस्यास्तरङ्गाः सरितो यथा ॥२॥

यह लक्ष्मी, यह धन-सम्पत्ति संसार में यदि स्थिर होकर रहे, तो बहुत से सुखों की साधनभूत होने के कारण वह सबसे उत्कृष्ट वस्तु है—यह मूढ़ मनुष्यों की ही कल्पना है। वास्तव में वह न स्थिर है और न उत्कृष्ट ही है। वह नितान्त अनर्थ देनेवाली और मोह का हेतु है अर्थात् प्राप्त होने पर मोह में डालती ही है और नष्ट होने पर क्लेश देती है।

जैसे नदी से असंख्य तरंगे प्रकट होतीं और वायु की सहायता से बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार इस श्री अथवा सम्पत्ति से बहुत-सी चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं और विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं ॥१–२॥

तावच्छीतमृदुस्पर्शाः परे स्वे च जने जनाः।
वात्ययेव हिमं यावच्छ्रिया न परुषीकृताः ॥३॥
प्राज्ञाः शूराः कृतज्ञाश्च पेशला मृदवश्च ये।
पांसुमुष्ट्येव मणयः श्रिया ते मलिनीकृताः ॥४॥
न श्रीः सुखाय भगवन् दुःखायैव हि वर्द्धते।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥५॥

लोग तभी तक अपने और पराये जनों के प्रति शीतल, मृदुल यानी दया, उदारता और स्नेह आदि से सम्पन्न बने रहते हैं जब तक जैसे वायु से बर्फ कड़ा हो जाता है, वैसे ही श्री द्वारा वे कठोर नहीं हो जाते। यानी

सम्पत्ति प्राप्त होते ही लोग अपने और पराए जनों पर दया एवं स्नेह का भाव छोड़कर कठोर बन जाते हैं जैसे मुट्ठी भर धूल मणियों को मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति ने बड़े-बड़े विद्वान्, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल स्वभाव वाले पुरुषों को भी मलिन—कलंकित कर दिया है। धन-सम्पत्ति सुख देने के लिए नहीं; अपितु दुःख देने के लिए ही बढ़ती है। जैसे विष की बेल सुरक्षित रक्खी जाए, तो वह मौत ही प्रदान करती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति की रक्षा करने पर भी वह केवल विनाश का ही कारण होती है ॥३–५॥

एषा हि विषमा दुःखभोगिनी गहनागुहा।
घनमोहगजेन्द्राणां विन्ध्यशैल महातटी ॥६॥

सत्कार्यपद्मरजनी दुःखकैरवचन्द्रिका।
सुदृष्टिदीपिकावात्या कल्लोलौघतरङ्गिणी ॥७॥

संभ्रमाभ्रादिपदवी विषादविषवर्द्धिनी।
केदारिकाविकल्पानां खेदाय भयभोगिनी ॥८॥

अज्ञ लोगों ने जिस श्री को सुख का हेतु समझ रक्खा है वह दुःखरूपी सर्पों के रहने के लिए दुर्गम और भीषण गुफा है तथा महामोहरूपी गजराजों के निवास के लिए विन्ध्याचल की विशाल तटभूमि है। अर्थात् यह महादुःखदायिनी और महामोह से आवृत करने वाली है।

सत्कर्मरूपी कमलों को संकुचित करने के लिए यह रात्रि के समान है यानी जैसे रात्रि में कमल संकुचित हो जाते हैं वैसे ही धन-सम्पत्ति प्राप्त होने पर सत्कर्मों का ह्रास हो जाता है। दुःखरूपी कुमुदों के विकास के लिए चाँदनी का काम करने वाली है अर्थात् जैसे चाँदनी में कुईं विकसित होती है, वैसे ही धन के प्राप्त होने पर दुःखों का खूब विकास होता है तथा उत्तम दृष्टिरूपी दीपक को बुझाने के लिए झकझोर वायु और बड़ी-बड़ी तरङ्गों से युक्त नदी है यानी जैसे झंझावात और तरङ्गों से युक्त नदी के झोंकों से दीपक बुझ जाता है वैसे ही धन की प्राप्ति होने पर उत्तम-दृष्टि नष्ट हो जाती है। धन-सम्पत्ति भय और भ्रान्तिरूपी बादलों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करने वाली है, विषादरूपी विष को बढ़ाने वाली है, विकल्प यानी संशयरूपी खेती की उपज के लिए क्यारी के समान है तथा खेद या कष्ट प्रदान करने के लिए भयंकर सर्पिणी के तुल्य है ॥६–८॥

हिमवैराग्यवल्लीनां   विकारोलूकयामिनी ।
राहुदंष्ट्रा   विवेकेन्दोः   सौजन्याम्भोजचन्द्रिका ॥९॥

इन्द्रायुधवदालोक   नानारागमनोहरा ।
लोला तडिदिवोत्पन्नध्वंसिनी च जडाश्रया ॥१०॥

लहरीवेकरूपेण   पदं   क्षणमकुर्वती ।
चलादीपशिखेवाऽतिदुर्ज्ञेय   गतिगोचरा ॥११॥

यह वैराग्यरूपी लताओं को नष्ट करने के लिए तुषार के समान है, काम, आदि मनोविकाररूपी उल्लुओं को सबल बनाने के लिए अन्धेरी रात्रि के तुल्य है, विवेकरूपी चन्द्रमा को ग्रस लेने के लिए राहु की दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमल को संकुचित कर देने के लिए चन्द्रमा की चाँदनी है। अर्थात् जैसे तुषार से लताएँ सूख जाती हैं वैसे ही धन-सम्पत्ति प्राप्त होने पर वैराग्य नहीं होता। जैसे अँधेरी रात में उल्लू इधर-उधर उड़ते हैं तथा जैसे राहुग्रस्त होने पर चन्द्रमा बिल्कुल विलीन हो जाता है, वैसे ही धन प्राप्त होने पर चित्तविकारों की अभिवृद्धि होती है, विवेक नष्ट हो जाता है। एवं जैसे चाँदनी में कमल सिकुड़ जाते हैं—खिलते नहीं, वैसे ही सम्पत्ति प्राप्त होने पर सौजन्य का संकोच हो जाता है।

यह इन्द्रधनुष के समान क्षणस्थायी, विविध रंगों से मनोहर एवं विजली के समान चपल और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाने वाली है तथा प्रायः जड़—मूर्ख ही इसके आश्रय हैं।

यह एक रूप से कहीं क्षणभर भी नहीं ठहरती, पानी की लहर और दीपक के लौ के समान चंचल है तथा जिन्हें जानना अत्यन्त कठिन है, ऐसी असंख्य दुर्दशाओं की जननी है ॥९–११॥

मनोरमा   कर्षति   चित्तवृत्ति
कदर्थसाध्या   क्षणभङ्गुरा   च ।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा
श्वभ्रोत्थिता   पुष्पलतेव   लक्ष्मीः ॥१२॥

यह धन-सम्पत्ति मनोरम होने के कारण चित्तवृत्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, मरण, पतन आदि के कारण साहसिक कर्मों से प्राप्त होती है और बिजली के समान क्षणभर में नष्ट हो जाती है। अतः यह सर्पों से लिपटी हुई, गड्ढे में उत्पन्न हुई पुष्पलता के समान है ॥१२॥

मोहयन्ति मनोवृत्तिं खण्डयन्ति गुणावलिम् ।
दुःखजालं प्रयच्छन्ति विप्रलम्भपराः श्रियः ॥१३॥

न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥१४॥

आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
आधिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥१५॥

वञ्चना से भरपूर यह लक्ष्मी अन्तःकरण की वृत्तियों को मुग्ध करती है, गुणों को नष्ट करती है और अनेक तरह के दुःखों को देती है। यह बात निश्चित है कि जीवन-पर्यन्त जैसा अर्थोपार्जन के लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक-पारलौकिक दुःख होता है, वैसा दुःख इस जगत् में करोड़ों नरकों में भी विद्यमान नहीं है। आसन के लिए, शयन के लिए, सवारी के लिए, जाने के लिए, आनन्द मनाने के लिए तथा अपने जन के लिए कितनी बड़ी पुरुषों को मानसिक चिन्ता बनी रहती है। इसलिए अज्ञानियों को उसे अवश्यमेव स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जन के लिए यहाँ कितना दुःख है ॥१३-१५॥

नन्वर्था विततानर्थाः सम्पदः सन्ततापदः ।
भोगा भव महारोगा विपरीतेन भाविता ॥१६॥

तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥१७॥

भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।
दैन्य दौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥१८॥

यदि विवेक से विचार किया जाए, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियाँ महान् विपत्तिरूप और भोग संसार के महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोह के कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता।

जब तक पुरुष निन्दनीय ऐहिक और पारलौकिक अर्थों के लिए महान् दुःखरूप अनर्थ झेलने की इच्छा नहीं करता, तभी तक पुरुष चिन्तित अर्थों के कारण उत्पन्न सन्तापों से नहीं सूखता।

यह जो धन है उसको मुनियों ने यह कह कर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारों का, जरामरण के जनक दुष्ट कर्मों का तथा दीनता, दुष्टता एवं जलन आदि का ढेर है ॥१६-१८॥

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१६॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥२०॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥२१॥

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषों को धन से कभी सुख नहीं मिलता। इस लोक में वे धन कमाने और रक्षा की चिन्ता से जलते रहते हैं और मरने पर धर्म न करने के कारण नरक में जाते हैं।

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर शरीर को बिगाड़ देता है वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियों के शुद्ध यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है।

धन कमाने, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रक्षा करने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का सामना करना पड़ता है ॥१६–२१॥

प्रधावन्ति मूढधियो ह्यनिशं धनकांक्षया।
प्रियान्प्राणाननादृत्य समुच्छ्रामति मूढधीः ॥२२॥
हिताहितं न जानाति नैहिकं पारलौकिकम्।
तृष्णानीहारनष्टाक्षो न जानाति वयो गतम् ॥२३॥
न बन्धुर्न पिता माता न तस्य स्त्री सहोदरः।
एकमेव परं वित्तं नान्यं किञ्चन संसृतौ ॥२४॥
यदर्थं त्यजति प्राणान्पितृमातृसहोदरान्।
सत्यं धर्मं दयां मैत्रीं न धनाशां कथञ्चन ॥२५॥
मानापमानं गणयेन्नैव भावि शुभाशुभम्।
इच्छते धनमेवैकं कृत्वाप्यधमसेवनम् ॥२६॥

निर्बुद्धि मनुष्य अपने जीवन को तुच्छ समझकर धनोपार्जन करने में अत्यन्त ही नित्य श्रम करता है और अपने प्रिय प्राणों को भी तिरस्कृत कर उन्हें वृथा आयास देता है। यह अपने लौकिक—पारलौकिक हित एवं अहित को नहीं जानता तथा तृष्णा रूप कुहरे से नष्टदृष्टि होने के कारण

प्रतिदिन क्षीण होती हुई अपनी आयु को भी नहीं जानता। उसके समीप पिता, माता, स्त्री, भाई और कुटुम्ब—ये कुछ भी नहीं हैं, केवल संसार में एकमात्र धन ही उसकी परम वस्तु है। वह धन के लिए अपने पिता, माता, सहोदर भाई तथा सत्य, धर्म, दया, मैत्री—इन सबको छोड़ सकता है, यही नहीं अपने प्रिय प्राणों का भी वह त्याग कर सकता है परन्तु धन की आशा किसी प्रकार से भी कभी कम नहीं होती। वह मान-अपमान, होनहार, शुभ या अशुभ—इनको कुछ भी नहीं गिनता; किन्तु नीचों की सेवा करने से भी एकमात्र धन प्राप्ति की ही कामना करता है ॥२२–२६॥

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥२७॥
परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥२८॥
धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥२९॥
अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
जने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते ॥३०॥

धन की इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय, तो उसकी रक्षा आदि के लिए बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिल कर नष्ट हो जाए, तब तो मृत्यु के समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करने पर धन मिलेगा या नहीं यह—निश्चय नहीं होता। शरीर को निछावर कर देने पर भी मनुष्य जब धन नहीं प्राप्त कर पाता तो उसके लिए इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है ? यदि धन की उपलब्धि हो भी जाए, तो उतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता अपितु अधिक धन की तलाश करने लग जाता है।

मैं तो समझता हूँ कि धन का नाश होने पर जो अतीव दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है क्योंकि जो धन से वञ्चित हो जाता है उसे अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं। दरिद्र को सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहन करने पड़ते हैं। अतः निर्धन अवस्था में बहुत-से कष्टदायक दोष हैं और धन में जो सुख का लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःख से ही सम्पादित होता है ॥२७–३०॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥३१॥

अर्थाः खलु समृद्धा हि वाढं दुःखं विजानताम्।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥३२॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥३३॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापाय नाशो सम्पद्यते पुनः ॥३४॥

जिस पुरुष के पास धन होने का संदेह होता है उसे उसका धन लूटने के लिए लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरह की पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेग में डाले रहते हैं।

जो विवेकी हैं उन्हें समृद्धि-सम्पन्न विषय भी दुःखरूप ही जान पड़ते हैं, परन्तु अज्ञानियों को तुच्छ विषय भी सदा मोह में डाले रहते हैं।

जिस प्रकार समयानुसार बड़े होते हुए बछड़े का सींग भी उसके शरीर के साथ ही बढ़ता है उसी प्रकार बढ़ते हुए धन के साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है तब नष्ट होने पर वही संताप का कारण बन जाती है ॥३१-३४॥

पुरस्ताद् भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थश्च न मृष्यते ॥३५॥
श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः।
योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥३६॥
रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥३७॥

जब सम्पत्ति पहले प्राप्त होकर पुनः नष्ट हो जाती है तब उसी के कारण अपने को भाग्यहीन मानने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य सदा विधाता की निन्दा करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए पदार्थों से उसे संतोष नहीं होता। योगधर्म को जानने वाला धर्मात्मा धीर मनुष्य अपनी संतति तथा पुत्र-पौत्रों का भी स्वयं ही त्याग कर देते हैं।

कोई-कोई मनुष्य तो धन-सम्पत्ति में इस तरह रम जाता है कि उसे उससे बढ़कर सुख का साधन और कुछ जान ही नहीं पड़ता। परन्तु दैववश उस मनुष्य का वह सारा उद्योग सहसा नष्ट हो जाता है ।।१५-३७।।

जीवितं संत्यजन्त्येके धनलोभपरा जनाः।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ।।३८।।
पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम्।
अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ।।३९।।
संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते।
संयोगे च वियोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ।।४०।।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो धन के लोभ में पड़कर अपने प्राण तक गँवा देते हैं। ऐसे मनुष्य धन के सिवा जीवन का दूसरा कोई प्रयोजन ही नहीं समझते। देखो, उनकी दीनता और देख लो उनकी मूर्खता, जो इस अनित्य जीवन के लिए मोहवश धन में ही दृष्टि गड़ाए रहते हैं। जब संग्रह का अन्त विनाश ही है, जब जीवन का अन्त मृत्यु ही है और जब संयोग का अन्त वियोग ही है तब इनकी ओर कौन अपना मन लगाएगा ?

।। ३८-४० ।।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।४१।।
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।।४२।।
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ।।४३।।
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ।।४४।।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्यलोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ।।४५।।

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों में धन के ही कारण माने गए हैं। इसलिए कल्याणकामी पुरुष को

चाहिए कि स्वार्थ एवं परमार्थ के विरोधी 'अर्थ' नामधारी अनर्थ को दूर से ही छोड़ दे।

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेह-बन्धन से बँधकर एक हुए रहते हैं—सबके सब कौड़ी के कारण तुरंत ही एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। ये लोग थोड़े-से धन के लिए क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात की बात में अपना सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं और एकाएक प्राण लेने पर उतारू हो जाते हैं, यहाँ तक कि एक-दूसरे का सर्वनाश कर डालते हैं। यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्ग का द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थों के धाम धन के चक्कर में फँसा रहे॥ ४१–४५॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालेन न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेशां न चिन्तयेत्॥४६॥
अन्यमन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः॥४७॥
अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः॥४८॥
निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनु चिन्तयेत्॥४९॥
अनुत्तमसुखं यस्मै चिराय परिरोचते।
जगत्तृणशिखा दृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु॥५०॥

चूँकि धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है, उसकी रक्षा में भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्ट से होती है, अतः धन को प्रत्येक अवस्था में दुःखदायक समझकर, उसके नष्ट होने पर चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य धन का संग्रह करते-करते पहले की अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थिति को प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिक की आशा लिए हुए ही मर जाते हैं किन्तु विद्वान् पुरुष सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे धन की तृष्णा में कभी नहीं पड़ते॥

तृष्णा का कभी अंत नहीं होता। सन्तोष ही परम सुख है। अतः पण्डित जन इस लोक में सन्तोष को ही उत्तम धन समझते हैं।

आयु निरन्तर बीती जा रही है, वह पल भर भी ठहरती नहीं। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसार की किस वस्तु को नित्य समझा जाय !

जिस पुरुष को मोक्ष का सुख ही सदा के लिए सबसे बढ़-चढ़ कर जँनता हो, वह पुरुष धन को यह समझे कि वह जगत्‌रूपी तिनके के अग्रिम हिस्से के सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करने के लिए अनर्थ के फन्दे में न पड़े ॥ ४६-५० ॥

अर्थानामर्जने दुखमार्जितानां तु रक्षणम् ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थ दुःखभाजनम् ॥५१॥

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभि घ्नन्ति शत्रवः ।
राजाचोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च ॥५२॥

अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय ।
न ह्यनर्थाः प्रबाधन्ते नरमर्थविवर्जितम् ॥५३॥

अर्थप्राप्तिर्महद्दुःखमाकिंचन्यं परसुखम् ।
उपद्रवेषु चार्थानां दुखं हि नियतं भवेत् ॥५४॥

धन के उपार्जन में दुःख होता है, उपार्जित हुए धन की रक्षा में दुःख होता है, धन के नाश और व्यय में भी दुःख होता है। इस प्रकार दुःख के भाजन बने हुए धन को धिक्कार है।

धनवान् मनुष्य पर सदा पाँच शत्रु चोट करते रहते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी, भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय। इस प्रकार अर्थ को अनर्थ का मूल समझो। धनरहित पुरुष को अनर्थ बाधा नहीं देते। धन की प्राप्ति महान् दुःख है और अकिंचनता—निर्धनता परम सुख है। क्योंकि जब धन पर उपद्रव आते हैं तब निश्चय ही बड़ा दुःख होता है ॥५१-५४॥

धनलोभेन तृष्णाया न तृप्तिरुपलभ्यते ।
लब्धाश्रयो विवर्धत समिद्ध इव पावकः ॥५५॥

जित्वापि पृथिवीं कृत्स्नां चतुः सागरमेखलाम् ।
सागराणां पुनः पारं जेतुमिच्छत्यसंशयम् ॥५६॥
अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।
कोशकारा कृमिर्देवि बध्यते हि परिग्रहात् ॥५७॥

धन के लोभ से तृष्णा की कभी तृप्ति नहीं होती। तृष्णा या लोभ को आश्रय मिल जाए तो प्रज्वलित अग्नि के सदृश वृद्धि होने लगती है। चारों समुद्र जिसकी मेखला है उस सारी पृथ्वी को जीतकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। वह फिर समुद्र के पार वाले देशों को जीतने की इच्छा करता है, इसमें संशय नहीं।

परिग्रह--संग्रह से यहाँ कोई लाभ नहीं, क्योंकि परिग्रह दोष से भरा हुआ है। रेशम का कीड़ा परिग्रह से ही बन्धन को प्राप्त होता है ॥५५-५७॥

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति च।
एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृप ॥५८॥
तस्मिन् राष्ट्रेऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति।
नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम् ॥५९॥
एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद्गृहेऽपि च।
आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते ॥६०॥

जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वी का एकच्छत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्र में निवास करता है। उस राष्ट्र में भी किसी एक ही नगर में रहता है। उस नगर में भी किसी एक ही घर में उसका निवास होता है। उस घर में भी उसके लिए एक ही कमरा नियत होता है उस कमरे में भी उसके लिए एक ही शय्या होती है, जिस पर वह रात में सोता है ॥५८-६०॥

शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रियाश्चार्धं विधीयते।
तदनेन प्रसङ्गेन स्वल्पेनैवेह युज्यते ॥६१॥
सर्वं ममेति संमूढो बलं पश्यति वालिशः।
सर्वं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम् ॥६२॥
तण्डुलप्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वदेहिनाम्।
ततो भूयस्तरो भोगे दुःखाय तपनाय च ॥६३॥

उस शय्या का भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानी के काम आता है। इस प्रसंग से वह अपने लिए थोड़े ही भाग का उपयोग कर पाता है, तो भी वह मूर्ख-गँवार सारे भूमण्डल को अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही बल देखता है। इस प्रकार सभी

वस्तुओं के उपयोगों में उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन सेर भर चावल से ही समस्त देहधारियों की प्राण-यात्रा का निर्वाह होता है, उससे अधिक भोग दुःख और सन्ताप का कारण होता है ॥ ६१—६३ ॥

नास्ति तृष्णा समं दःखं नास्ति त्याग समं सुखम् ।
सर्वान्कामान्परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पत ॥६४॥

अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥६५॥

वसन्तोनन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
इत्येकतः समुदितं संतोषामृतमेकतः ॥६६॥

तृष्णा के समान कोई दुःख नहीं है, त्याग के समान कोई सुख नहीं है। समस्त कामनाओं का परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त होने योग्य होता है। इस जगत् में बुढ़ौती और मरण से आक्रान्त जन्तुओं को अजर और अमर बनाने के लिए संतोष ही एक रसायन-अमृत है।

सुख के साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएं कही गईं हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है। यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देने की जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥ ६४-६६ ॥

सरसः प्रावृषेवान्तः सन्तोषेणैव पूर्णता ।
गम्भीरा शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥६७॥

साधुरोजस्वितामेत्य सन्तोषेणैव राजते ।
सुपुष्पितवनाकारो वसन्तोनेव पादपः ॥६८॥

पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखाद् दुःखान्तरं व्रजेत् ॥६९॥

जैसे सरोवर अपने भीतर की परिपूर्णता वृष्टि से कर सकता है वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर की परिपूर्णता सन्तोष से ही कर सकता है। सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और परिपूर्ण ओजस्विता को सन्तोष के ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पों से युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है जैसे वसन्त से वृक्ष।

जो पुरुष संतोष धारण नहीं करता और अर्थों के लिए लालायित रहता है उसकी प्रकृति ठीक उस कीट की तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतों से पहले आहत होकर रगड़ खा गया हो। इस तरह का असन्तुष्ट जीव एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाता ही है, दुःखों से छुटकारा नहीं पाता ॥ ६७–६६ ॥

कल्लोलविकलाः क्षुब्धसमुद्रपतिता इव।
नाप्नुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥७०॥

सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥७१॥

अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम्।
यः करोति स्पृहां मूढो नृ पशुं तं न संस्पृशेत् ॥७२॥

धन के लोभी जीवों की आकृतियाँ—(आकार) विकृत ही रहा करती हैं और वे अपनी स्वस्थस्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे विक्षुब्ध समुद्र में गिरे हुए तथा तरंगों से विकल हो उठे प्राणी।

अर्थ-सम्पत्ति और प्रमदा—ये दोनों वस्तुएँ तरंगों के सदृश थोड़ी ही देर में नष्ट हो जाने वाली हैं और वे सर्प के फन रूप छत्र की छाया ही हैं। अतः कौन विद्वान् पुरुष उनसे खेल करेगा ?

धन के उपार्जन और रक्षण में जो भारी यातनाएँ होती हैं उनको जानकर भी, जो धन की इच्छा करता है, वह मूढ़ और नर पशु है, उसे छूना तक नहीं चाहिए ॥ ७०–७२ ॥

धनचिन्तातुराणां हि क्व सुखं तात दृश्यते।
स्वजनैः खलु पीड्यन्ते निर्धनालोलुपा जनाः ॥७३॥

इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग्यादृशो भिक्षुनिःस्पृहः।
कोऽन्यः स्यादिह संसारे त्रिलोकी विभवे सति ॥७४॥

पठित्वा सकलान्वेदाञ्छास्त्राणि च समन्ततः।
गत्वा च धनिनां कार्या स्तुतिः सर्वात्मना बुधैः ॥७५॥

धन की चिन्ता से जिनका चित्त आतुर हो चुका है, उन्हें भला कहाँ सुख दीखता है और जो निर्धन व्यक्ति लोभग्रस्त होते हैं उन्हें उनके आत्मीय जन बड़ी पीड़ा पहुँचाते हैं। जैसा निःस्पृह भिक्षुक सुखी होता है

वैसा सुखी इन्द्र भी नहीं हो सकता। फिर इस संसार में त्रैलोक्य का ऐश्वर्य पा कर भी दूसरा कौन सुखी हो सकता है? क्या सारे वेदों और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके भी विद्वान् को धनिकों के पास पहुँचकर उनकी सर्व प्रकारेण स्तुति करनी चाहिए? ॥७३-७५॥

समर्थः श्रीमदांधोऽयं राजानं देवतां गुरुम्।
अवजानाति सहसा स्वात्मनो बलमाश्रितः ॥७६॥
समर्थो धनलोभेन परदारान् धनादिकम्।
हृत्वा चोपहसत्यन्यान्सर्वशोच्यो नराधमः ॥७७॥
मातरं पितरं पुत्रान् ब्राह्मणांश्चबहुश्रुतान्।
कर्मणा मनसा वाचा समर्थो हन्ति मोहितः ॥७८॥

जो पुरुष समर्थ है और धन के मद से अन्धा हो रहा है वह अपने बल को आश्रयण करके राजा की, देवता की तथा गुरु की भी अवज्ञा कर देता है। जो समर्थ धनी है, वह धन के लोभ से दूसरे की स्त्रियों को और धन आदि को भी जबरदस्ती छीन लेता है और हँसता है, वही पुरुषों में अधम है। धनमदांध समर्थ पुरुष माता, पिता, पुत्र और वेदपाठी ब्राह्मण को भी मन से, कर्म से और वाणी द्वारा मारता रहता है ॥७६-७८॥

लोभ एव मनुष्याणां देहसंस्थो महारिपुः।
सर्वदुःखाकरः प्रोक्तो दुःखदः प्राणनाशकः ॥७९॥
लोभात्त्यजन्ति धर्मं वै कुलधर्मं तथैव हि।
मातरं भ्रातरं हन्ति पितरं बान्धवं तथा ॥८०॥

गुरु मित्रं तथा भार्यां पुत्रं च भगिनीं तथा।
लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः ॥८१॥

लोभ ही मनुष्यों का देह में स्थित महा शत्रु है। इसे सर्व दुःखों की खान कहा गया है। यह प्राणनाशक दुःख प्रदान करने वाला है। लोभ के कारण मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म का तथा कुल धर्म का परित्याग कर बैठते हैं। लोभी व्यक्ति अपनी माता, अपने पिता, भाई, बान्धव, गुरु, मित्र, स्त्री, पुत्र, बहन आदि सबका वध कर सकता है। लोभ के आवेश में आया हुआ पाप से मोहित व्यक्ति कौन-सा अकार्य नहीं कर बैठता।
॥७९-८१॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥८२॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ।
द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥८३॥
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव ।
धर्म वैतं सिकाः क्षुद्रामुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥८४॥

बहुश्रुत विद्वान् बड़े-बड़े शास्त्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं, सबकी शंकाओं का निवारण कर देते हैं, परन्तु इस लोभ में फँसकर उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे निरन्तर क्लेश उठाते रहते हैं। वे द्वेष और क्रोध में फँसकर शिष्टाचार को छोड़ देते हैं और ऊपर से मीठे वचन बोलते हुए भी भीतर से अत्यन्त कठोर हो जाते हैं। उनकी स्थिति घास-फूँस से ढके हुए कुएँ के समान होती है। वे धर्म के नाम पर संसार को धोखा देनेवाले क्षुद्र मनुष्य धर्मध्वजी होकर यानी धर्म का ढोंग फैलाकर जगत् को लूटते हैं ॥८२–८४॥

कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः ।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिता ॥८५॥
धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते ॥८६॥
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
एतस्य हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥८७॥

युक्तिबल का आश्रय लेकर वे बहुत-से असत् मार्ग खड़े कर देते हैं तथा लोभ और अज्ञान में स्थित हो, सत्पुरुषों के स्थापित किए हुए मार्गों यानी धर्ममर्यादाओं का नाश करने लगते हैं। लोभग्रस्त दुरात्मा पुरुषों द्वारा अपहृत (विकृत) होनेवाले धर्म की जो-जो स्थिति बिगड़ जाती या बदल है, वह उसी रूप में प्रचलित हो जाती है। जिनकी बुद्धि लोभ में फँसी हुई है, उन मनुष्यों में दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक तथा अत्यन्त अभिमान—ये ही दोष दिखायी देते हैं ॥८५–८७॥

ऐश्वर्यं विपदां बीजं ज्ञानप्रच्छन्नकारणम् ।
मुक्तिमार्गकुठारश्च भक्तेश्च व्यवधायकम् ॥८८॥
जन्ममृत्युजराशोकरोगबीजांकुरंपरम् ।
सम्पत्तितिमिरान्धश्च मुक्तिमार्गं न पश्यति ॥८९॥

सम्पत्तिमदमत्तश्च विषयान्धश्च विह्वलः ।
महाकामी राजसिकः सत्त्वमार्गं न पश्यति ॥९०॥

ऐश्वर्य विपत्तियों का बीज एवं ज्ञान के आच्छन्न का कारण है, मुक्ति-मार्ग का कुठार है, भक्ति का व्यवधानरूप है, जन्म, मृत्यु, जरा, शोक और रोग का परम बीजाङ्कुर है। सम्पत्तिरूप तिमिर से जो अन्धा हो रहा है, उसे मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं देता। जो सम्पत्ति के मद से मत्त हो रहा है, विषयों में अन्धा है, विह्वल है, महाकामी है, रजोगुण से सम्पन्न है, वह सत्त्वगुण युक्त कल्याणमार्ग को देखता ही नहीं ॥८८–९०॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्यकर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियते किम् ॥९१॥
राजतश्चोरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥९२॥
शोकमोहभयक्रोधरागक्लैव्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः ॥९३॥

मनुष्य शारीरिक और मानसिक आदि दुःखों से आक्रान्त ही रहता है। मरणशील तो है ही; यदि उसने बड़े श्रम और कष्ट से कुछ धन और भोग प्राप्त ही कर लिया, तो उससे क्या लाभ?

जो जीवन और धन के लोभी हैं—वे राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु-पक्षी, याचक और काल से, यहाँ तक कि 'कहीं मैं भूल न कर बैठूँ', अधिक खर्च न कर दूँ,—इस आशंका से अपने आप से भी सदा डरते रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रम आदि का शिकार होना पड़ता है—उस धन और जीवन की स्पृहा का त्याग कर दे ॥९१–९३॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहया सकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥९४॥
किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युनाग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोतजन्मदैः ॥९५॥

समझ में नहीं आता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं? हो न हो; अवश्य ही यह संसार किसी की माया से अत्यन्त मोहित हो रहा है। यह मनुष्य शरीर विकराल काल के

गाल में पड़ा हुआ है। इसको धन से, धन देने वाले देवताओं और लोगों से, भोग वासनाओं और उनको पूर्ण करने वालों से तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले सकाम कर्मों से लाभ ही क्या ! ॥६४-६५॥

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम्।
नासंतुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥६६॥

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषोऽर्थकामयोः।
यदृच्छयोपपन्नेन संतोषो मुक्तये स्मृतः ॥६७॥

जो कुछ प्रारब्ध से मिल जाय, उसी से सन्तुष्ट रहने वाला पुरुष अपना जीवन सुख से व्यतीत करता है, परन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला तीनों लोकों का राज्य पाने पर भी दुःखी ही रहता है; क्योंकि उसके हृदय में असंतोष की आग धधकती रहती है। धन और भोगों से सन्तोष न होना ही जीव के जन्म-मृत्यु के चक्कर में गिरने का कारण है तथा जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसी में संतोष कर लेना मुक्ति का कारण है ॥६६–६७॥

संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्य दार्ढ्यात्परमार्थमेति ॥६८॥

पुरुष को सर्वप्रथम वैराग्यावस्था से सम्पन्न होकर सत्संग और शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अर्थों की दृढ़ भावना के द्वारा भोगों से विरक्त होकर वैतृष्ण्य यानी संतोष की दृढ़ता से अपने स्वरूपभूत परमार्थरूप को प्राप्त होता ॥ ६८ ॥



वैराग्यार्थ तृष्णा के दोषों
का
वर्णन

हार्दान्धकारशर्वर्यां तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषाः कौशिकपङ्क्तयः ॥१॥

अन्तर्ग्रथितया देहे सर्वदुश्छेदयाऽनया ।
रज्ज्वेवाऽऽशुवलीवर्दस्तृष्णया बाह्यते जनः ॥२॥

पुत्रमित्रकलत्रादि तृष्णया नित्यकृष्टया ।
खगेष्विव किरात्येदं जालं लोकेषु रच्यते ॥३॥

परम प्रेमास्पद आत्मतत्त्व का तिरोधान होने के कारण चेतन जीवरूपी आकाश में हृदय के अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण दुस्तर तृष्णारूपिणी रात्रि का सहारा पाकर नाना प्रकार के दोषरूपी उल्लुओं की पंक्तियाँ स्फुरने लगती है।

देह के भीतर मन में गूँथी गई तथा किसी प्रकार किसी से विच्छिन्न न की जाने वाली इस तृष्णारूप रज्जु से बैल के समान ये मनुष्य अत्यन्त शीघ्रता से ऐहिक और आमुष्मिक फल के हजारों साधनरूपी भार को वहन करते हैं। जैसे बहेलिए की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बनाती है वैसे ही आकर्षण स्वभाववाली तृष्णारूप किराती ने लोगों को फँसाने के लिए पुत्र, मित्र, कलत्र आदि रूप जाल बनाया है ॥ १–३ ॥

दूर दूरमितो गत्वा समेत्य च पुनः पुनः ।
भ्रमत्याशु दिगन्तेषु तृष्णोन्मत्ता तुरङ्गमी ॥४॥

कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी ।
दशत्यपि मनाक् स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥५॥

भिदन्ती हृदयं पुंसां मायामयविधायिनी ।
दौर्भाग्यदायिनी दीना तृष्णा कृष्णेव राक्षसी ॥६॥

तृष्णा पागल घोड़ी के समान है, जो यहाँ से दूर-दूर जाकर बारम्बार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओं में चक्कर काटने लगती है।

तृष्णा को काली नागिन के समान समझना चाहिए। वह सहस्रों कुटिलताओं से भरी हुई है। विषयभोग-सुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह विषमता-रूपीविष को ही उगलती है और तनिक-सा स्पर्श हो जाने पर भी डँस लेती है यानी अपने सम्पर्क में आए हुए प्राणी का नाश कर देती है। इतनी ही नहीं, यह तृष्णा काली-कलूटी राक्षसी के समान भी बताई गई है। वह पुरुषों के हृदय का भेदन करने वाली तथा मायामय जगत् को रचने वाली है तथा दुर्भाग्य प्रदान करने वाली और दीनता की प्रतिमूर्ति है ॥ ४–६ ॥

नित्यमेवाऽतिमलिना कटुकोन्माददायिनी।
दीर्घतन्त्री घनस्नेहा तृष्णा गह्वरवल्लरी ॥७॥

जराकुसुमितारूढा पातोत्पातफलावलिः।
संसारजङ्गलेदीर्घे तृष्णा विषलता तता ॥८॥

नष्टमुत्सृज्य तिष्ठन्तं तृष्णा वृक्षमिवाऽपरम्।
पुरुषात् पुरुषं याति तृष्णा लोलेव पक्षिणी ॥९॥

पर्वत की गुफा में एक प्रकार की लता होती है, जो सूर्य-किरणों के न मिलने से सदा अत्यन्त मलिन रहती है। वह खाने में कड़वी और परिणाम में उन्माद का रोग पैदा करने वाली है। उसकी वेल बहुत लम्बी होती है और उसमें रस की मात्रा अधिक रहती है। यह तृष्णा भी उसी लता के समान निरन्तर अत्यन्त मलिन, परिणाम में दुःख से पागल बना देने वाली, वासनारूपी विशाल ताँतों से युक्त तथा विषयों में गहरा स्नेह पैदा करने वाली है।

संसाररूपी विशाल जंगल में तृष्णारूपिणी विष की वेल फैली हुई है। जरा, मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा विनिपात और उत्पात—अधः पतन और उपद्रव ही फल हैं।

जैसे क्षुधा से व्याकुल चिड़िया फलशून्य वृक्ष को छोड़ कर फलवाले अन्य वृक्ष पर चली जाती है वैसे ही तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुष को छोड़कर विषयासक्त पुरुष के पास चली जाती है ॥ ७–९ ॥

पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ताऽपि विफलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णाचपलमर्कटी ॥१०॥

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् ।
क्षणंभ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥११॥

सर्वसंसारदुःखानां -तृष्णैकादीर्घदुःखदा ।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥१२॥

यह तृष्णा चंचल बंदरी के समान अलंघनीय स्थान में भी अपना पैर रखती है, तृप्त होने पर भी विविध फलों की इच्छा करती है, एक स्थान पर चिरकाल तक नहीं ठहरती। क्षणमात्र में पाताल पहुँचती है और क्षण भर में आकाश की ओर उड़ती है, क्षणभर में दिशारूपी कुञ्जों में घूमने लगती है, इसलिए यह तृष्णा हृदयरूप कमल में विचरण करने वाली भँवरी है। संसार के सारे दुःखों में यह तृष्णा ही दीर्घदुःख देनेवाली है, जो अन्तःपुर में रहने वालों को भी अत्यन्त संकट में डाल देती है ॥१०-१२॥

तृष्णा विषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि कथ्यते ।
स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम् ॥१३॥

तावन्मुह्यत्ययं मूको लोको विलुलिताशयः ।
यावदेवाऽनुसन्धत्ते तृष्णाविषविषूचिका ॥१४॥

रोगार्त्तिरङ्गना तृष्णा गम्भीरमपि मानवम् ।
उत्तानतां वयन्त्याशु सूर्यांशव इवाऽम्बुजम् ॥१५॥

विषय-चिन्तन का त्याग ही तृष्णारूपिणी विसूचिका (हैजा) के निवारण का मन्त्र कहा गया है। थोड़ी भी चिन्ता का त्याग करने से आनन्द की प्राप्ति होती है और थोड़ी भी चिन्ता करने से दुःख प्राप्त होता है।

वेदान्त आदि अध्यात्म शास्त्रों के विचार से शून्य अतएव व्याकुल-चित्त ये संसारी लोग तभी तक मोह को प्राप्त होते हैं, जब तक विषप्रयुक्त विषूचिका रोग के समान मृत्यु की हेतु तृष्णा पीछा करती रहती है अर्थात् जब तक तृष्णा का त्याग नहीं करते।

जैसे सूर्य की किरणें मुकुलित कमल को विकसित कर देती हैं वैसे ही रोग-पीड़ा, स्त्री और तृष्णा भी धीर पुरुष को भी शीघ्र अधीरता को प्राप्त कर देती है। अर्थात् जैसे सूर्य की किरणें मुकुलितावस्था में गम्भीर (गहरे) कमल को खूब विकसित कर उत्तान (छिछला) कर देती हैं, वैसे ही तृष्णा भी धीर-अयाचितव्रतपुरुष को शीघ्र अधीर यानी याचना द्वारा लघु बना दती है ॥१३–१५॥

धीरोऽप्यति बहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृंखलया यथा ॥१६॥

अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम्।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम् ॥१७॥

नाऽसिधारा न वज्राचिर्न तप्तायः कणाचिषः।
तथा तीक्ष्णा यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता। १८॥

जीव चाहे धीर हो, अत्यन्त बहुश्रुत हो, कुलीन हो, महान् हो, फिर भी वह तृष्णा से उसी प्रकार बँध जाता है, जैसे शृंखला से सिंह बँध जाता है। मेरु पर्वत के समान परम उन्नत, विद्वान्, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्य को भी एकमात्र तृष्णा ही पल भर में याचक बना कर तिनके के समान हल्का कर देती है।

जीवों के हृदय में रहने वाली तृष्णा जैसी तीक्ष्ण है वैसी तीक्ष्ण न तो तेज तलवार की धार है, न वज्राग्नि की चिनगारियाँ हैं और न आग में तपाए हुए लोहकणों की चिनगारियाँ ही हैं अर्थात् तलवार की धार आदि बाह्य होने के कारण प्राणी के लिए कदाचित् ही अनर्थकारी होते हैं परन्तु हृदय में रहने के कारण तृष्णा सदा ही अनर्थकारिणी होती है। इसलिए वह तलवार की धार आदि से भी बढ़ कर है ॥१६–१८॥

अशनिर्गुणसस्यानां फलिता शरदापदाम्।
हिमं संवित्सरोजानां तमसां दीर्घयामिनी ॥१९॥

व्यवहाराब्धिलहरी मोहमातङ्गशृंखला।
सर्गन्यग्रोधसुलता दुःखकैरवचन्द्रिका ॥२०॥

जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ताविलासिनी ॥२१॥

तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेती को नष्ट करने के लिए वज्रपात के समान है, आपत्तियों को बढ़ाने के लिए उस शरदृतु के तुल्य है जिसके आने पर धान आदि की खेती पकी हुई बालों से सम्पन्न हो जाती है। तत्त्वज्ञान-रूपी कमलों को विध्वंस करने के लिए ओले के सदृश और अज्ञानरूपी अन्धकार की वृद्धि के लिए वह हेमन्त की लम्बी रात के समान है।

तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्र की लहरी है, मोहरूपी मतवाले गजराज को

बाँध रखने के लिए साँकल है, सृष्टिरूपी वटवृक्ष की सुन्दर वरोह है और दुःखरूपी कुमुदों को विकसित करने वाली चाँदनी है। इतना ही नहीं, जरा-मृत्युरूप दुःखमय रत्नों का संग्रह करने के लिए एकमात्र रत्नपेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासों का नित्य विस्तार करने वाली मदमत्त-विलासिनी !॥६१–२१॥

अहो बत महच्चित्रं तृष्णामपि महाधियः।
दुश्छेदामपि कृन्तन्ति विवेकेनाऽमलासिना ॥२२॥

अहो मन्ये महाकष्टं समस्तक्लेशसाधनम्।
सर्वान्कामानवाप्नोति पुनरन्यच्च कांक्षति ॥२३॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशाः दंता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुश्श्रोत्रे च जीर्येति तृष्णैका तरुणायते।२४॥

कष्टाशा वर्तते यस्य स विद्वानथ पण्डितः।
सुशान्तोऽपि प्रमन्युः स्याद्धीमानप्यतिमूढधीः॥२५॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी दुश्छेद्य विषय-तृष्णा को भी ज्ञानसम्पन्न महानुभाव लोग विवेकरूपी निर्मल (तीक्ष्ण) तलवार से अनायास ही काट डालते हैं। अहो ! मैं तो समझता हूँ कि यह तृष्णा बहुत बड़ा कष्ट है, समस्त क्लेशों का कारण भी यही है। इसके कारण मनुष्य यदि समस्त कामनाओं को प्राप्त कर ले तो भी पुनः दूसरी वस्तुओं की अभिलाषा करने लगता है।

जरावस्था—बुढ़ापे में आने पर मनुष्य के केश पक जाते हैं, दाँत गल जाते हैं, आँख और कान भी जीर्ण हो जाते हैं किन्तु एक तृष्णा ही तरुण-सी होती जाती है। जिसके मन में कष्टदायिनी तृष्णा मौजूद है, वह विद्वान् होने पर भी मूर्ख हो जाता है, परम शान्त होने पर भी अत्यन्त क्रोधी हो जाता है और बुद्धिमान् होने पर भी अत्यन्त मूढ़बुद्धि हो जाता है॥२२-२५॥

आशाभयंकरी पुंसामजेयाराति सन्निभा।
तस्मादाशां त्यजेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥२६॥

बलं तेजो यशश्चैव विद्यामानं च वृद्धताम्।
तथैव सत्कुले जन्म आशाहन्त्यतिवेगतः॥२७॥

आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहा महोद्धताः ।
अवमानादिकं दुःखं न जानन्ति कदाप्यहो ॥२८॥

आशा मनुष्यों के लिए अजेय शत्रु की भाँति भयंकर है । अतः विद्वान् पुरुष यदि शाश्वत सुख चाहे तो आशा को त्याग दे । बल हो, तेज हो, विद्या हो, यश हो, सम्मान हो, नित्य वृद्धि हो रही हो और उत्तम कुल में जन्म हुआ हो, तो भी यदि मन में आशा-तृष्णा बनी हुई है तो वह बड़े वेग से इन सब पर पानी फेर देती है । अहो ! जो मनुष्य आशा से अभिभूत हैं, वे महामोह से युक्त हैं तथा महाउद्धत हैं कि कभी भी अपमान आदि दुःखों को नहीं अनुभव करते ॥२६-२८॥

यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥२६॥

जीर्यन्ति देहिनः सर्वे स्वभावादेव नान्यथा ।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यते ॥३०॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥३१॥

आयासविटपस्तीव्र कामाग्नि कर्षणारणिः ।
इन्द्रियार्थेन सम्मोह्य दहत्यकुशलं जनम् ॥३२॥

इस पृथ्वी पर, जो धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सबके सब मिलकर भी उस पुरुष के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओं के प्रहार से जर्जर हो रहा है ।

सभी प्राणी जन्म लेकर स्वभाव से ही जीर्णता को प्राप्त हो जाते हैं अन्य प्रकार से नहीं । परन्तु उसकी जीवन और धन की आशाएँ जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होतीं ।

भोगों की तृष्णा कभी भोग भोगने से शान्त नहीं होती, अपितु घी से प्रज्वलित होने वाली आग के समान अधिकाधिक बढ़ती जाती है ।

आयासरूपी वृक्ष पर तीव्र वेग से प्रज्वलित और आकर्षणरूप अग्नि से प्रकट हुई कामनारूपी अग्नि मूर्ख मनुष्य को विषयों द्वारा मोहित करके जला डालती है ॥ २६-३२ ॥

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते।
कर्तुं लक्षाधिपतो राज्यं राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम् ॥३३॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वभे सकलसुरपतित्वम्।
भवितुं सुरपतिरूर्ध्वंगतित्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥३४॥
मनोरथरथारूढं युक्तमिन्द्रियवाजिभिः
भ्राम्यत्येव जगत्कृत्स्नं तृष्णासारथि चोदितम् ॥३५॥

तृष्णा की बात ही निराली है। शताधिपति सहस्राधिपति बनना चाहता है और सहस्राधीश लक्षाधीश। लक्षाधीश को राज्य की कामना होती है और राज्य मिल जाने पर उसे सम्पूर्ण विश्व के चक्रवर्ती साम्राज्य की अभिलाषा उदय होती है। चक्रवर्ती सम्राट् हो जाने पर वह देवता बनना चाहता है और देवत्वलाभ होने पर इन्द्र। इन्द्र बन जाने पर भी उसे श्रेष्ठ पदों की लालसा बनी रहती है। कहाँ तक कहा जाए, यह तृष्णा कभी निवृत्त नहीं होती।

मनोरथ रूपी रथ है, इन्द्रियरूपी घोड़े उसके आगे बँधे हैं उसी रथ पर समस्त जगत् आरूढ़ हो रहा है और तृष्णारूपी सारथि उसको भ्रमा रहा है॥ ३३-३५॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखीभव ॥३६॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ॥३७॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥३८॥

जिस-जिस विषय में मन की तृष्णा उत्पन्न होती है, उसी-उसी विषय को संसार का हेतु समझो; क्योंकि विषयों की तृष्णा ही कर्म द्वारा संसार की हेतु है। इसलिए निश्चयपूर्वक प्रौढ़ वैराग्य का आश्रय करके तृष्णारहित होकर सुखी हो जाओ।

लोक में जो कामसुख है और परलोक में जो दिव्य महान् सुख है—ये दोनों मिलकर तृष्णाक्षयजनित सुख की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हो सकते। तृष्णामात्रस्वरूप बन्ध है और उसका नाश मोक्ष कहा जाता है।

संसार में असंग होने से बार-बार आत्मा की प्राप्ति यानी अनुभूति एवं तुष्टि होती है ॥ ३६-३ ॥

> तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं धैर्यविप्लवकारिणी ।
> विष्णुस्त्रैलोक्यपूज्योऽपि यत्त्वया वामिनी कृतम् ॥३९॥
> ईश्वरत्वेन किं तस्य ब्रह्मेन्द्रत्वेन वा पुनः ।
> तृष्णा चेत्सर्वतश्छिन्ना सर्व देन्योद्भवाऽशुभा ॥४०।

हे तृष्णे ! हे देवि ! तेरे प्रति मेरा नमस्कार है, क्योंकि तू पुरुप की धैर्यता का नाश करने वाली है। जो विष्णु तीनों लोकों में पूज्य हैं उन्हें भी तूने वामन यानी छोटा बना दिया। यदि सब प्रकार की दीनता उत्पन्न करने वाली अशुभरूपिणी तृष्णा का क्षय हो गया है, तो उस पुरुष को ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व से भी क्या लेना है ? ॥३९-४॥



लोकैषणा-दोष





निवृत्ति-प्रकरण

॥ ॐ ॥

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

पूर्व में यह बताया गया है कि देहाभिमान के कारण ही मनुष्य अपने एषणात्रयरूप दुश्च्छेद्य पाशों का विस्तार करता है, जिसके फलस्वरूप इसे अनन्त सांसारिक दुःखस्वरूप विषाग्नियों की भयंकर ज्वाला से निरन्तर सन्तप्त होना पड़ता है। इसलिए इस देहाभिमानसहित एषणात्रय-जनित सन्तापों की निःशेष शान्ति के लिये अब तक देह, स्त्री एवं धन-सम्बन्धी स्वाभाविक दोषों का विशदरूपेण प्रतिपादन किया गया। अब लौकिकख्याति, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदिरूप लोकैषणा की पूर्णतया निवृत्ति के लिए आगे के अवशिष्ट अध्यायों में बारम्बार शब्दान्तर एवं वाक्यान्तर से, कालाधीन संसार की स्थिति, कालग्रस्त होने के कारण इसकी विभिन्न दुर्दशाएँ तथा इसकी परिवर्तनशीलता, अनित्यता, क्षणभंगुरता, निस्सारता एवं दुःख-रूपता का बड़ा ही स्पष्ट एवं सुन्दर ढंग से शास्त्रीय वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ उपसंहार में सांसारिक समस्त वस्तुओं की भयान्वितता तथा केवल वैराग्य की निर्भयता एवं उसकी विशिष्टता का भी विशिष्ट शैली से निरूपण किया गया है, जो बुद्धिमान् पाठकों के अन्तःकरण को बलात् चुम्बकवत् आकृष्ट करने वाला है। इसलिए संसाररूप दावाग्नि की भीषण ज्वाला से सन्तप्त, आत्यन्तिक सुख-शान्ति के पिपासु भावुक जिज्ञासुओं को चाहिए कि इस 'वैराग्य मार्तण्ड' नामक ग्रन्थ का बारम्बार मननात्मक स्वाध्याय कर प्रबल विवेक-वैराग्य-संपन्न हो, इस स्वप्नतुल्य, मायामय, आभासमात्र, जागतिक विषयभोगों से सर्वथा उपरत हो, अपने अन्तःकरणस्थ सुख-शान्त-स्वरूप अथाह ब्रह्महृद में प्रविष्ट हो, अपने समस्त सन्तप्त अङ्गों को सुशी-तल करें।

कालाधीन यह सारा संसार उत्पत्ति-विनाश से युक्त होने के कारण सर्वथा परिवर्तनशील एवं अनित्य है तथा अनित्य होने से विकृत एवं विकृत होने के कारण ही दुःखस्वरूप है। इसलिए जो स्वभावतः सर्वथा दुःखस्वरूप ही है, वह कभी भी नित्य सुख-शान्ति के जिज्ञासुओं का लक्ष्यभूत तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि जीव निरन्तर अपने समस्त व्यापारों के द्वारा

नित्य सुख-शान्ति की ही जिज्ञासा कर रहा है; परन्तु जब जागतिक कोई भी वस्तु नित्य है ही नहीं, तो फिर जीव के स्वाभाविक वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति इन अनित्य वस्तुओं से कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि जब काल द्वारा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि पंचमहाभूत नष्ट हो जाते हैं, सूर्य-चन्द्र आदि के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, समस्त लोकपालगण अपनी आयु का उपभोग कर बलात् काल के अधीन हो जाते हैं, बड़े-बड़े देवता-दानव आदि काल की उदरदरी में प्रविष्ट हो जाते हैं, ऊर्ध्वलोकों में निवास करनेवाले सिद्ध लोग भी नष्ट हो जाते हैं, ध्रुव भी अध्रुवजीवी बन जाते हैं, अथाह महासागरों का जल भी सूख जाता है, बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वत भी ढहकर विनष्ट हो जाते हैं, संसार के छोटे-बड़े समस्त पदार्थ काल द्वारा भक्षित हो जाते हैं, इस प्रकार संसार के समस्त भाव अभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अब तक अनन्त सृष्टि-परम्पराएँ बीत गईं, लाखों ब्रह्मा समाप्त हो गए, उनकी सृष्टियाँ भी उन्हीं के साथ-साथ विलीन हो गईं, करोड़ों इन्द्र काल द्वारा चबा डाले गए, असंख्य चक्रवर्ती राजा लोग अपने बन्धु-बान्धवों एवं पुष्कलभोगैश्वर्यों के साथ धूलि की तरह मिट्टी में मिल गए, तब भला, ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे इस संसार में नित्य कहा जाए? ऐसी स्थिति में भला, मर्त्यशील प्राणी मानव अपनी इस अल्पतम आयुवाले तुच्छ क्षणभंगुर शरीर पर क्या आस्था कर सकता है? जब इस क्षणविध्वंसी शरीर के लिए प्राप्त होने वाले सुखप्रद समस्त जागतिक विषय स्वयं ही क्षणभंगुर हैं तो उनसे नित्यत्व की क्या आशा? जब अपने शरीर में भी गर्भ, बाल्य, यौवन, वार्धक्यादि अवस्थाओं की विषमता प्रत्यक्ष ही देखी जाती है कहीं कभी एकरसता एवं नित्यता का दर्शन नहीं हो पाता, तब भला, इससे भिन्न सम्बन्धियों एवं भोगों में नित्यता एवं एकरसता का क्या विश्वास? भला, इस क्षणभंगुर मानव को, लोक की बहुमूल्य वस्तुएँ स्त्री, स्वर्ण, रत्नादि तथा माता, पिता, पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र, धन-सम्पत्ति, हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर, दास-दासियाँ, अट्टालिकाएँ एवं शब्द, स्पर्श आदि क्षणभंगुर विषय क्या तृप्त कर सकते हैं? तो फिर इन पर क्या विश्वास? इनके नित्य संयोग की क्या आस्था? जब सम्बन्धियों का संयोग केवल मार्ग में मिलने वाले पथिकों की भाँति अस्थिर—क्षणिक है तो फिर इनमें क्यों आस्था? इनके संयोग-वियोग में क्या हर्ष-शोक? और इनमें मोह भी क्यों? क्या स्वप्नोत्थित पुरुष स्वाप्निक सम्बन्धियों के संयोग-वियोगजनित सुख और दुःख को यथार्थ मानता है? भला, कौन विवेकी पुरुष इस पर विश्वास कर सकता है?

इस प्रकार इस अनित्य परिवर्तनशील संसार में सुख-शांति की गंध भी नहीं है। क्योंकि जो वस्तु अपरिवर्तनशील होती है वही नित्य होती है, जो नित्य होती है वही निर्विकार होती है तथा जो निर्विकार होती है वही सुखस्वरूप हो सकती है **"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" "यो वै भूमा तत्सुखम्" "नाल्पे सुखमस्ति" "यदल्पं तन्मर्त्यम्" "आनन्दो ब्रह्म"** आदि इस श्रुतिकथनानुसार अल्प यानी विनाशशील वस्तुओं से भिन्न, नित्य, सर्वगत् सर्वाधिष्ठानस्वरूप भूमा–अपरिछिन्न–व्यापक ब्रह्म सत्ता ही सुखस्वरूप है। उसी स्वरूपभूत ब्रह्मसुख की प्राप्ति के लिए निष्कण्टक अखण्ड भूमण्डल के अखण्ड पुष्कल भोगैश्वर्यों को प्राप्त बड़े-बड़े सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राटों ने भी, इस मायिक स्वप्नतुल्य, विनश्वर लौकिक समस्त सुखों का परित्याग कर, तीव्र विवेक-वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न हो, अपनी अन्तर्मुख चिदाकार सूक्ष्म वृत्तिविशेष द्वारा, अन्वय-व्यतिरेकदृष्टि से अपने सहित समस्त ब्रह्माण्ड के ब्रह्मस्वरूपत्व का अनुभव करते हुये, ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारात्मकबोध के द्वारा, समस्त जागतिक असत् द्वन्द्वात्मक दुःखों से सर्वथा विनिर्मुक्त, माया के सम्बन्धलेश से शून्य, अपने केवल केवलीभाव रूप ब्राह्मीअवस्था में स्वात्मरूपेण सुप्रतिष्ठित हो, कृत्यकृत्य–जीवन्मुक्त हुये। यही आत्यन्तिक सुख-शान्ति की अनुभूति की पराकाष्ठा है, यही रागद्वेषादि द्वन्द्वों की आत्यन्तिक विलयावस्था है, यही भेददर्शन की अत्यन्ताभावात्मक स्थिति है, यही सर्वातीत दिव्यब्रह्मात्मैकत्व की अद्वैत निर्विशेष अभेदात्मक स्थिति है। यही सर्वत्र साम्यामृतप्रदायिनी स्वरूपसाक्षात्कार की मूकास्वादनवत् स्वसंवेद्य ब्राह्मी स्थिति है। इसी अवस्था में अनादिकालीन हृदय की चिदचिद् ग्रन्थि भिद जाती, हृदयस्थ समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते तथा समस्त कर्म परिसमाप्ति को प्राप्त हो जाते हैं। यही वड़े-वड़े त्रैलोक्य-ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राटों का भी सर्वत्याग का प्रशस्त त्यागमय राजपथ—ब्रह्मपथ है, जिस पर चलनेवाले सभी महापुरुष, **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम्"** के सिद्धान्तानुसार स्वरूपभूत सद्घन, चिद्घन, आनन्दघनं ब्रह्म को स्वात्मरूपेण जानकर सर्वदा ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त कर साक्षात् ब्रह्म ही हो जाते हैं।

इस ब्रह्मपथ का अनुवर्तन न करने वाले जो पुरुष, इस मायिक, स्वप्नमय, मिथ्या दृश्यप्रपंच में, विषयालिंगन के द्वारा सुखी होना चाहते हैं वे वैसे ही कदापि त्रिकाल में भी सुखी नहीं हो सकते, जैसे सूर्यरश्मियों में

भासित होने वाले मिथ्या मरुमरीचिका के पीछे दौड़ने वाले प्यास से व्याकुल मृग। मिथ्या प्रतीयमान जल में सत्यत्व की भावना कर स्वपिपासा की शान्ति के लिये दौड़ने वाले मृगों का यूथ जलाभाव में अपने प्राणों का ही उत्सर्ग करता है, क्योंकि ऊपर से घनतम सूर्य की तप्त रश्मियाँ, नीचे तप्त मरुभूमि बीच में चौकड़ी भरता हुआ प्यास से अत्यन्त व्याकुल मृग—भला, इसकी क्या गति हो सकती है? सभी विवेकी पुरुष इसका अनुमान कर सकते हैं वैसे ही वहिर्मुख, विषयलम्पट, असंयमी मूढ़ मृगरूपी जीव प्रत्यक्ष मृगजलवत् प्रतीयमान भ्रमजनित इस मायामय नामरूपात्मक विश्वप्रपंच में नित्य सुख-शान्तिरूपी जल को पीने के लिये चन्द्र आदि लोकों तक विषय भोगों में चौकड़ी भर रहे हैं—दौड़ लगा रहे हैं, परन्तु मृगजलवत् इस संसार की वास्तविक सत्ता न होने के कारण अन्त में मूढ़ मृग की भाँति अपने लक्ष्यभूत नित्य सुख-शान्ति की प्राप्ति के अभाव में ही सन्तप्त हृदय हो, संसार से चल वसते हैं—कालकवलित हो हैं। भला, इस अंतिम अवस्था में कालग्रस्त पुरुष का कौन रक्षक हो सकता है? जीवरूप पथिक को इस मृत्यु के मार्ग पर अकेला ही चलना पड़ता है। वस्तुतः जीव इस संसार में अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है; परन्तु बीच में मोहवश यह अपने ही संकल्पों से नाना प्रकार के सम्बन्धों की रचना करता है और उन्हीं में उलझकर, रेशम के कीड़े की भाँति, निरन्तर मोहात्मक सम्बन्ध-पाशरूप तन्तुओं से आवद्ध हो, सन्ताप को प्राप्त होता है। इस संसार में जीव अज्ञानवश शरीर में आत्मबुद्धि करके, विभिन्न कामनाजाल का विस्तार कर, उसकी पूर्ति के लिए नाना प्रकार के कर्म करता हुआ, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियों में भटकता-फिरता है अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को नहीं पहचान पाता। जब एक ही दिन में, किसी भी क्षण, जीव अपने शरीर को भी, यहीं छोड़कर सहसा चल देता है, तब फिर अन्य सम्बन्धियों एवं भोगों की क्या बात? चक्रवत् निरन्तर परिवर्तन-शील इस संसार में जीव को बलात् इस मृत्यु के अटल मार्ग पर आना ही पड़ता है। देहाभिमान के कारण अविवेकियों को जितना कष्ट उठाना पड़ता है, उसका वाणी से निर्वचन नहीं किया जा सकता।

अतः जो बुद्धिमान् पुरुष, कुलालचक्र की भाँति, तीव्र गति से नृत्य करने वाले इस क्षणभंगुर संसार की विनश्वरता, निस्सारता एवं दुःखरूपता का यथार्थरूप से निश्चयकर, उपरामता को प्राप्त हो, स्वशरीर की भी अहंता-

ममता से मुक्त, निःस्पृह, निरपेक्ष हो यदृच्छयाप्राप्तभोगों का उपभोग करता हुआ, अपने स्वरूपभूत आत्मस्वरूप में ही इन्धनरहित अग्नि की भाँति, सर्वतः प्रशान्त हो जाता है, उसी का जीवन सार्थक है,—सचमुच, वही मानव कहलाने का उत्तम अधिकारी है, शेष तो बूढ़े गदहे की भाँति केवल संसार-दुःख का भार ढोने के लिए व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं। इस प्रकार अज्ञानी, वहिर्मुख, विषयान्ध, विमुग्ध प्राणी बारम्बार आवागमनरूप जन्म-मृत्यु के झूले पर झूलते रहते हैं, कभी उससे मुक्त नहीं हो पाते। महान् आश्चर्य की बात है कि बड़े-बड़े वेद-शास्त्रों के पारंगत विद्वान् भी इस सर्व-विश्वविमोहिनी माया के कार्यभूत इन असत् त्रिगुणात्मक विषयों के पीछे लम्पट हो, खर सूकर कूकर की भाँति उसमें रमण करते हैं तथा उसी में विमुग्धान्तःकरण होने के कारण स्वरूपानन्द की प्राप्ति के मार्ग से च्युत हो, संसार-मार्ग में ही घटीयन्त्र की नाईं परिभ्रमण को प्राप्त होते रहते हैं, तब भला, शास्त्रज्ञान-शून्य मूर्ख नर पशुओं के विषय में क्या कहना ?



वैराग्यार्थ कालाधीन संसार की स्थिति
एवं
कालग्रस्त भूतपूर्व अनेकानेक चक्रवर्ती सम्राटों
के
प्रति पृथ्वी देवी का उद्गार

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ॥१॥

समस्त सामान्यतया भीमः कालो महेश्वरः।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कबलीकर्तुमुद्यतः ॥२॥

युगवत्सरकल्पाख्यैः किंचित्प्रकटतां गतः।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ॥३॥

ये रम्या ये शुभारम्भाः सुमेरुगुरवोऽपि ये।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥४॥

जैसे वाडवाग्नि चन्द्रोदय आदि से उमड़े हुए समुद्र को नष्ट करती है वैसे ही इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे यह सर्वभक्षी काल न नष्ट करता हो अर्थात् जैसे वाडवाग्नि प्रति-दिन समुद्र का शोषण करती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तु को निगलता रहता है।

भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच को निगल जाने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, क्योंकि सारी वस्तुएँ उनके लिए सामान्यरूप से ग्रास बना लेने योग्य हैं।

युग, वर्ष और कल्प के रूप में काल ही प्रकट है। इसका वास्तविकरूप कोई देख नहीं सकता। वह समस्त संसार को अपने वशीभूत करके बैठा है। जैसे गरुड़ साँपों को निगल जाते हैं, वैसे ही काल भी, जो अनुपमरूप से सम्पन्न थे, जो पुण्यात्मा थे और जो सुमेरु पर्वत के समान गौरवान्वित थे, उन्हें हड़प गया ॥ १—४ ॥

श्रुतवन्तोऽर्थवन्तश्चदातारः प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मण्या नयसम्पन्ना दीनानुग्रहकारिणः ॥५॥

लोकपालसमास्तात महेन्द्रसमविक्रमाः ।
क्षितिपालाः कृतांतेन नीयन्ते नृपसत्तम ॥६॥

धार्मिकाः सर्वभावज्ञाः प्रजापालनतत्पराः ।
क्षत्रधर्मपरा दान्ताः कालेन निधनं गताः ॥७॥

पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्ति शतानि च ।
निर्वापितानि कालेन प्रदीप इव वायुना ॥८॥

जो वेद-शास्त्रों के विद्वान्, धनवान्, दाता, प्रियदर्शन (सुन्दर), ब्राह्मणभक्त नीति-सम्पन्न, दीनों पर अनुग्रह करने वाले, लोकपालों के समान यशस्वी और महेन्द्रतुल्य पराक्रमी राजा हैं, उन्हें भी काल उठा ले जाता है ।

जो धर्मात्मा, सम्पूर्ण भावों के ज्ञाता, प्रजापालन में तत्पर, क्षत्रियधर्मपरायण, तथा जितेन्द्रिय थे, वे भी काल के गाल में चले गए ।

जिस प्रकार दीपक को वायु बुझा डालता है उसी प्रकार काल ने सहस्रों इन्द्र और सैकड़ों चक्रवर्ती राजाओं को नष्ट कर डाला है ॥ ५-८ ॥

योऽपि शोषयितुं शक्ताः समुद्रं ग्राहसंकुलम् ।
कुर्युश्च करयुग्मेन चूर्णं मेरुं महीतले ॥९॥

उद्धतु धरणीसंज्ञां ग्रहीतुं चन्द्रभास्करौ ।
प्रविष्टास्ते तु कालेन कृतान्तवदनं तदा ॥१०॥

दुर्गंस्त्रिकूटः परिखाः समुद्राः
रक्षांसि योधा धनदाश्च वित्तम् ।
मन्त्रश्च यस्यौशनसा प्रणीतः
स रावणो दैववशाद्विनष्टः ॥११॥

जो ग्राहों से भरे समुद्र को भी सुखा सकते थे, दोनों हाथों से ही पृथ्वी पर मेरुपर्वत को चूर्ण कर सकते थे, जो पृथ्वी को उठा सकते थे और सूर्य तथा चन्द्रमा को पकड़ सकते थे, वे भी काल के गाल में चले गए ।

जिसका त्रिकूट ही दुर्ग था, समुद्र जिसकी खाई थी, राक्षस जिसके योद्धा सिपाही थे और कुबेर का सारा वैभव जिसका धन था तथा शुक्राचार्य

द्वारा निर्धारित जिसकी नीति थी, वह रावण भी तो दैव के वशीभूत होकर विनष्ट हो गया ॥ ९-११ ॥

संग्रामे गजतुरगसमाकुलेऽपि
वादादग्नौ वा गतविवरे महोदधौ वा ।
सर्वैर्वा सह वसतामुदीर्णकोपै-
र्नाभाव्यो भवति कदाचिदेव नाशः ॥१२॥

पातालमाविशतु यातु सुरेन्द्रलोक-
मारोहतु क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् ।
मन्त्रौषधिप्रहरणैश्च करोति रक्षां
यद्भावि तद्भवति नाथ विभावितोऽस्मि ॥१३॥

चाहे कोई हाथी-घोड़ों से व्याप्त संग्राम में रहे या जल-अग्नि से शून्य विल या समुद्र में ही छिप जाय अथवा सब कुछ से ही अपनी रक्षा क्यों न करे, किंतु विनाश सबका अवश्यम्भावी है। कोई पाताल में प्रवेश करे या इन्द्रलोक में जाए, कोई सुमेरुगिरि पर चढ़ जाय अथवा मन्त्र-औषधियों से तथा शस्त्रों से अपनी रक्षा करे; परन्तु जो होना है, वह होकर रहेगा ही, यह निश्चिय है ॥ १२-१३ ॥

निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः ।
न तदस्ति यदद्यापि न कालो निगिरत्ययम् ॥१४॥
कालः कवल नैकान्तमतिरत्ति गिरन्नपि ।
अनन्तैरपि लोकौघैर्नाऽयं तृप्तो महाशनः ॥१५॥
हरत्ययं नाशयति करोत्यत्ति निहन्ति च ।
कालः संसारनृत्तं हि नानारूपं यथा नटः ॥१६॥

यह काल बड़ा निर्दय, कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अधम है। संसार में अब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। इस काल का विचार सर्वदा सबको निगल जाने का ही रहता है। यह एक को निगलता हुआ भी दूसरों को चबा जाता है। अब तक असंख्य लोग इसकी उदरदरी में प्रवेश कर चुके हैं, तो भी यह महाखाऊ काल तृप्त नहीं होता। जैसे ऐन्द्रजालिक अपने विविध खेलों को आरंभ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है, कोई खाद्य पदार्थ बना कर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही यह काल भी अपने

विविधरूप वाले संसाररूपी नृत्य को आरंभ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि में जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय आदि होते हैं, उन सबका हरणकर्ता, नाशकर्ता आदि के रूप से स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं ।।१४-१६।।

यामिनीभ्रमरापूर्णा रचयन् दिनमञ्जरीः ।
वर्षकल्पकलावल्लीर्न कदाचन खिद्यते ।।१७।।

एकेनैव निमेषेण किञ्चिदुत्थापयत्यलम् ।
किंचिद्विनाशयत्युच्चैर्मनोराज्यवदाततः ।।१८।।

तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुमेरुं पर्णमर्णवम् ।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः ।।१९।।

महाकल्पाभिधानेभ्यो वृक्षेभ्यः परिशातयन् ।
देवासुरगणान्पक्वान्फलभारानिव स्थितः ।।२०।।

यह रात्रिरूपी भौरों से भरी हुई और दिनरूपी मंजरियों से सुशोभित वर्ष, कल्प और कलारूपिणी लताओं की निरन्तर सृष्टि करता रहता है, किंतु कभी थकता नहीं । एक निमेष में किसी वस्तु को उत्पन्न कर देता है और पलभर में किसी भी वस्तु का पूर्णतः विनाश कर डालता है । काल केवल अपना ही पेट भरने में संलग्न रहने के कारण चाहे तिनका हो, चाहे धूलि हो, चाहे इन्द्र हों, चाहे सुमेरु हो, चाहे पत्ता हो, चाहे समुद्र हो—सभी को अपने अधीन करने के लिए—निगलने के लिए उद्यत रहता है । यह काल महाकल्प नामक वृक्षों से देवता, और असुर आदि प्राणी समूहरूपी पके हुए फलों के भारों को गिरता हुआ-सा खड़ा है ।।१७-२०।।

न खिद्यते नाऽऽद्रियते नाऽऽयाति न च गच्छति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति महाकल्पशतैरपि ।।२१।।

प्रेक्ष्याऽहर्विनिमेषेण सूर्याक्षिणा पाकवन्त्यलम् ।
लोकपालफलान्यत्ति जगज्जीर्णं वनादयम् ।।२२।।

जगज्जीर्णकुटोकीर्णानर्पयत्युग्रकोटरे ।
क्रमेण गुणवल्लोकमणीन् मृत्युसमुद्गके ।।२३।।

सैकड़ों महाकल्प बीत जाने पर भी यह काल न तो खिन्न होता है और न किसी के द्वारा समादृत होता है, न कहीं आता है, न जाता है, न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है ।

दिनरूपी पलकों से युक्त सूर्यरूपी नेत्र से 'ये बहुत अच्छी तरह पक गए हैं, यह देखकर जगत्रूपी पुराने वन से यह लोकपालरूपी फलों को तोड़ कर खाता है ।

जगत्रूपी पुराने फूस के झोंपड़े में प्रमाद से इधर-उधर गिरे हुए गुणवान् जनरूपी मणियों को यह काल महान् उदर वाले मृत्युरूपी सन्दूक में क्रमशः डालता है ॥२१-२३॥

तारुण्यनलिनीसोम आयुर्मातङ्गकेसरी ।
न तदस्ति न यस्याऽयं तुच्छातुच्छस्य तस्करः ॥२४॥
कर्ता भोक्ताऽथ संहर्ता स्मर्ता सर्वपदं गतः ॥२५॥
सकलमप्यकला कलितान्तरं
सुभगदुर्भगरूपधरं वपुः ।
प्रकटयन् सहसैव स गोपयन्
विलसतीह हि कालबलं नृषु ॥२६॥

यौवनरूपी कमलिनी को संकुचित करने के लिए यह चन्द्रमा के समान है, आयुरूपी गजराज का मस्तक विदीर्ण करने के लिए सिंह के सदृश है। इस संसार में अत्यन्त तुच्छ या महान् ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका यह काल नाश न करता हो । इस प्रकार प्रलय काल में विश्राम लेकर यह काल ही पुनः सृष्टि काल में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहारकर्ता एवं स्मरणकर्ता आदि पदों पर प्रतिष्ठित हुआ है ।

बुद्धिकौशल से इस काल के रहस्य का किसी ने निश्चय नहीं कर पाया है। पुण्यफल के उपभोग के अनुकूल सुन्दररूप और पाप फल के भोग के अनुरूप कुरूप रूप धारण करने वाले समस्त शरीरों की सहसा सृष्टि, रक्षा और संहार करता हुआ प्रदीप्त हो रहा है। इस संसार के सम्पूर्ण जीवों में काल सबसे अधिक बलवान् है ॥ २४–२६ ॥

यदिदं दृश्यते किंचिज्जगदाभोगि मण्डलम् ।
तत्तस्य नर्तनागारमिहासावसि नृत्यति ॥२७॥
भूयः करोति भुवनानि वनान्तराणि
लोकान्तराणि जनजालककल्पना च ।
आचारचारुकलनामचलां चलां च
पङ्काद्यथार्भकजनो रचनामखिन्नः ॥२८॥

यह जो कुछ विस्तृत जगन्मण्डल दिखाई देता है, वह उस काल की नृत्यशाला है। इसमें वह खूब जी भर कर नृत्य करता है। जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर नाना प्रकार के खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी बारम्बार चौदहो भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीव समुदाय तथा उनके नाना प्रकार के आचार-विचारों की सृष्टि करता है। उन आचार-विचारों की प्रवृत्ति सत्य युग एवं त्रेता में अचल तथा द्वापर और कलि में चल होती है। इन सबकी सृष्टि करने में काल कभी थकता नहीं ॥२७-२८॥

ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्पइवाऽनिलम्।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरानीत्वाऽजरं वपुः ॥२६।

पाताले भूतले स्वर्गे स्त्रियोरत्नोपलादयः।
सारं तदपि तुच्छेन कालेनाऽऽशुनिगीर्यते ॥३०॥

यमो निर्घृण राजेन्द्रो नाऽऽर्त नामाऽनुकम्पते।
सर्वभूतदयोदारो जनो दुर्लभतां गतः ॥३१॥

जैसे साँप वायु को निगल जाता है; वैसे ही क्रूर कर्म करने वाला कृतान्त तरुण शरीर को वृद्धावस्था में पहुँचाकर समस्त प्राणियों को निरन्तर अपना ग्रास बनाता रहता है।

पाताल में, भूतल में, स्वर्ग में स्त्रियाँ, रत्न, मणियाँ आदि जो सार पदार्थ हैं, उन्हें भी तुच्छ काल शीघ्र निगल जाता है। यह काल निर्दयों का राजा है, किसी आर्त प्राणी के ऊपर भी दया नहीं करता। सब प्राणियों पर दया करने वाला उदार पुरुष तो इस संसार में दुर्लभ हो गया है ॥२६-३१॥

नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा।
दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत।
शैलाऽपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥३२॥

शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोऽप्यध्रुवजीवनः।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ॥३३॥

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः।
भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वे दिगीश्वराः ॥३४॥

नित्य ही प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड को काल न मालूम कहाँ ले जाता है। दिशायें भी नहीं दीख पड़तीं, देश भी दूसरे के लिए उपदेशप्रद

बन जाते हैं, अर्थात् काल-कवलित हो जाते हैं, पर्वत भी चूर-चूर हो जाते हैं, तारे भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, समुद्र भी सूख जाते हैं, ध्रुव नक्षत्र का जीवन भी अस्थायी होता है, सिद्ध पुरुष भी नाश को प्राप्त होते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त हो जाते हैं, चिरकालस्थायी ब्रह्मा तथा अजन्मा विष्णु भगवान् भी अन्तर्धान हो जाते हैं। सारे भाव अभाव को प्राप्त हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जीर्ण शीर्ण हो जाते हैं ॥३२–३४॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितोदिशः ।
विनाशवाडवस्यैतत्सर्वं संशुष्कमिन्धनम् ॥३५॥

अश्राव्यावाच्यदुर्दर्शतत्त्वेनाऽज्ञातमूर्तिना ।
भुवनानि विडम्ब्यते केनचिद्भ्रमदायिना ॥३६॥

दिवि देवा भुवि नराः पातालेषु च भोगिनः ।
कल्पिताः कल्पमात्रेण नीयन्ते जर्जरां दशाम् ॥३७॥

उत्पन्नध्वंसिनः कालवडवानलपातिनः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जीविताम्बुधौ ॥३८॥

कहाँ तक कहें, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ ये सबके सब विनाश रूपी अग्नि के लिए सूखे काठ हैं। अर्थात् जैसे अग्नि को सूखे काठ को जलाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता, वैसे ही इनका विनाश होने में कुछ भी काल नहीं लगता।

जिसका कानों से श्रवण नहीं होता, वाणी से कथन नहीं होता और नेत्रों से दर्शन नहीं होता—ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले किसी सूक्ष्म तत्त्व से चौदहो भुवन अपनी आत्मा में माया द्वारा दिखलाए जा रहे हैं। स्वर्ग में देवता, भूलोक में मनुष्य और पाताल में सर्पों की उसी ने कल्पना कर रक्खी है, वह जब इच्छा होती है तभी उन्हें जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त कर देता है। भाव यह है कि जगत् का अत्यन्त पराधीन होना बड़ा भारी दोष है, ऐसे अन्याधीन जगत् में आस्था करना मूर्खता ही है ॥

उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले कालरूपी वाडवाग्नि के मुँह में गिरने वाले जीवनरूपी सागर के तरंग के सदृश पदार्थों को कौन गिन सकता है ! जैसे समुद्र में उत्पन्न हो, वाडवाग्नि के मुँह में गिर कर नष्ट होने वाली

असंख्य लहरों को कोई गिन नहीं सकता, उसी प्रकार संसार में उत्पन्न हो काल के मुँह में पड़ने वाले अनन्त प्राणियों की गणना कौन कर सकता है ? ॥ ३५-३८॥

महाधनुर्धराश्चक्रवर्ति केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्न कुवलयाश्व यौवनाश्वधियाश्वाश्वपतिःशशबिन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोमनूक्तस्त्वर्यातियथाति-रनरण्योक्षसेनोत्थमरुत भरत प्रभृतयो राजानो मिषतोबन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति ॥३९॥

एते चान्ये च भूपाला यैरत्र क्षितिमण्डले।
कृतं ममत्व मोहान्धैर्नित्यं हेयकलेवरे ॥४०॥

बड़े-बड़े धनुर्धारी और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवल-याश्व, यौवनाश्व, धियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, मनु का पुत्र शर्याति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, मरुत और भरत आदि चक्रवर्ती नरेश भी अपने बन्धु-बान्धवों के देखते-देखते इस लोक के ऐश्वर्य को त्यागकर परलोक को चले गए।

इस हेय शरीर के मोह से अन्धे हुए ये तथा अन्य भी ऐसे अनेक भूपतिगण हो गए हैं, जिन्होंने इस पृथ्वीमण्डल में ममता की थी ॥३९-४०॥

कथं ममेयमचला मत्पुत्रस्य कथं मही।
मद्वंशस्येति चिन्तार्त्ता जग्मुरन्तमिमे नृपा। ॥४१॥
तेभ्यः पूर्वतराश्चान्ये तेभ्यस्तेभ्यस्तथा परे।
भविष्याश्चैव यास्यन्ति तेषामन्ये च येऽप्यनु ॥४२॥
विलोक्यात्मजयोद्योगं यात्राव्यग्रान्नराधिपान्।
पुष्पप्रहासैश्शरदि हसन्तीव वसुन्धरा ॥४३॥

"यह पृथ्वी किस प्रकार अचल भाव से मेरी, मेरे पुत्र की अथवा मेरे वंश की होगी ?" इसी चिन्ता में व्याकुल हुए इन सभी राजाओं का अन्त हो गया। इसी चिन्ता में डूबे रह कर इन सम्पूर्ण राजाओं के पूर्व-पूर्वतरवर्ती राजा चले गए और इसी में मग्न रह कर आगामी भूपतिगण भी मृत्यु के मुख में चले जाएँगे।

इस प्रकार अपने को जीतने के लिए राजाओं को अथक उद्योग करते देखकर वसुन्धरा शरत्कालीन पुष्पों के रूप में मानो हँस रही है ॥४१-४३॥

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरि यम् ।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥४४॥

कथमेष नरेन्द्राणां मोहो बुद्धिमतामपि ।
येन फेनसधर्माणोऽप्यतिविश्वस्तचेतसः ॥४५॥

पूर्वमात्मजयं कृत्वा जेतुमिच्छन्ति मन्त्रिणः ।
ततो भृत्यांश्च पौरांश्च जिगीषन्ते तथा रिपून् ॥४६॥

क्रमेणानेन जेष्यामो वयं पृथ्वीं ससागराम् ।
इत्यासक्तधियो मृत्युं न पश्यन्त्यविदूरगम् ॥४७॥

जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग मुझ पर विजय प्राप्त करने के लिए उतावले हो रहे हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है कि "कितने आश्चर्य की बात है कि ये राजा लोग, जो स्वयं मौत के खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं। अहो! बुद्धिमान् होते हुए भी इन राजाओं को यह कैसा मोह हो रहा है जिसके कारण बुलबुले के समान क्षणस्थायी होते हुए भी अपनी स्थिरता में इतना विश्वास रखते हैं। ये लोग प्रथम अपने को जीतते हैं और फिर अपने मन्त्रियों को तथा इसके अनन्तर ये क्रमशः अपने भृत्य, पुरवासी, एवं शत्रुओं को जीतना चाहते हैं। "इसी क्रम से हम समुद्रपर्यन्त इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लेंगे" ऐसी बुद्धि से मोहित हुए ये लोग अपनी निकटवर्तिनी मृत्यु को नहीं देखते ॥ ४४-४७ ॥

समुद्रावरणं याति भूमण्डलमथो वशम् ।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥४८॥

उत्सृज्य पूर्वजा याता यां नादाय गतः पिता ।
तां मामतीवमूढत्वाज्जेतुमिच्छन्ति पार्थिवाः ॥४९॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह ।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ॥५०॥

यदि समुद्र से घिरा हुआ यह सम्पूर्ण भूमण्डल अपने वश में हो ही जाय, तो भी मनोजय के सामने इसका मूल्य ही क्या है? क्योंकि मोक्ष तो मनोजय से ही प्राप्त होता है। जिसे छोड़कर इनके पूर्वज चले गए तथा जिसे अपने साथ लेकर इनके पिता भी नहीं गए, उसी मुझको अत्यन्त मूर्खता के कारण ये राजा लोग जीतना चाहते हैं। बड़े-बड़े मनु और उनके

वीर पुत्र मुझे ज्यों की त्यों छोड़कर जहाँ से आए थे वहीं खाली हाथ लौट गए, मुझे अपने साथ न ले जा सके। अब ये मूर्ख राजा मुझे युद्ध में जीतकर वश में करना चाहते हैं ॥ ४८-५० ॥

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम् ॥५१॥

ममैवेयं महीकृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ॥५२॥

पृथ्वी ममेयं सकला ममैषा
मदन्वयस्यापि च शाश्वतीयम्।
यो यो मृतो ह्यत्र बभूव राजा
कुबुद्धिरासीदिति तस्य तस्य ॥५३॥

जिनके चित्त में यह बात दृढ़मूल हो गई है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन दुष्टों के राज्य में मेरे लिए पिता-पुत्र और भाई-भाई भी आपस में लड़ बैठते हैं। वे परस्पर इस प्रकार कहते हैं कि, ओ मूढ़ ! यह सारी पृथ्वी मेरी ही है तेरी नहीं, इस प्रकार राजा लोग एक-दूसरे को कहते-सुनते हैं, एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिए एक दूसरे को मारते हैं और स्वयं भी मर मिटते हैं। जो-जो राजा लोग यहाँ हो चुके हैं उन सभी की ऐसी कुबुद्धि रही है कि पृथ्वी मेरी है—यह सारी की सारी मेरी है और मेरे पीछे भी यह सदा मेरे सन्तान की ही रहेगी ॥ ५१-५३ ॥

दृष्ट्वा ममत्वादृतचित्तमेकं
विहाय मां मृत्युवशं व्रजन्तम्।
तस्यानु यस्तस्य कथं ममत्वं
हृद्यास्पदं मत्प्रभवं करोति ॥५४॥

पृथ्वी ममैषाशु परित्यजैनां
वदन्ति ये दूतमुखैस्स्वशत्रून्।
नराधिपास्तेषु ममातिहासः
पुनश्च मूढेषु दयाभ्युपैति ॥५५॥

इस प्रकार मेरे में ममता करने वाले एक राजा को, मुझे छोड़कर मृत्यु के मुख में जाते हुए देखकर भी न जाने कैसे उसका उत्तराधिकारी अपने हृदय मेरे रे लिए ममता को स्थान देता है।

ये राजा लोग अपने दूतों के द्वारा अपने शत्रुओं से इस प्रकार कहलाते हैं कि "यह पृथ्वी मेरी है, तुम लोग इसे तुरंत छोड़ कर चले जाओ" उन पर मुझे बड़ी हँसी आती है और उन मूढ़ों पर मुझे दया भी आ जाती है । ॥५४ ५५॥

पृथुः पुरुरवा गाधिर्नहुषोभरतोऽर्जुनः ।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गोधुन्धुहा रघुः ॥५६॥

तृणविन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः ।
भगीरथः कुवलयाश्व कुकुत्स्थो नैषधो नृगः ॥५७ ।

हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः ।
नमुचिः शम्बरोभौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥५८॥

अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः ।
सर्वं सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥५९॥

ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो ॥६०॥

पृथु, पुरुरवा, गाधि, नहुष, ,भरत, सहस्त्राबाहु अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु, तृणविन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, कुकुत्स्थ, नल, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, लोकद्रोही रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा और भी बहुत-से दैत्य एवं शक्तिशाली नरपति हो गए हैं । ये सब लोग सब कुछ समझते थे, शूर थे, सभी ने दिग्विजय में दूसरों को हरा दिया, किन्तु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके, परन्तु सब के सब मृत्यु के ग्रास बन गए । उन्होंने अपने पूरे अन्तःकरण से मुझमें ममता की थी और समझा कि 'यह पृथ्वी मेरी है ।' परन्तु विकराल काल ने उनकी लालसा पूरी न होने दी । अब उनके बल-पौरुष और शरीर आदि का कुछ पता नहीं है, केवल उनकी कहानी मात्र शेष रह गई है ॥५६-६०॥

इत्येते धरणीगीताश्श्लोका मैत्रेय येश्श्रुताः ।
ममत्वं विलयं याति तपत्यर्के यथा हिमम् ॥६१॥

पृथ्वी देवी के कहे हुए इन श्लोकों को जो पुरुष सुनेगा, उसकी ममता इसी प्रकार लीन हो जाएगी, जैसे सूर्य के तपते समय वर्फ पिघल जाता है । इस प्रकार, ॥ ६१ ॥

तप्तं तपो यैः पुरुषप्रवीरै-
रुद्वाहुभिर्वर्षगणाननेकान् ।
इष्ट्वा सुयज्ञैर्बलिनोऽति वीर्याः
कृता नु कालेन कथावशेषाः ॥६२॥

पृथुस्समस्तान्विचचार लोका-
न व्याहतो यो विजितारिचक्र ।
स कालवाताभिहतः प्रणष्टः
क्षिप्तं यथा शाल्मलितूलमग्नौ ॥६३॥

यः कार्तवीर्योबभुजो समस्ता-
न्द्वीपान्समाक्रम्य हतारिचक्रः ।
कथाप्रसंगेष्वभिधीयमान-
स्स एव सङ्कल्पविकल्पहेतुः ॥६४॥

जिन श्रेष्ठ पुरुषों ने ऊर्ध्वबाहु होकर अनेकवर्षपर्यन्त कठिन तपस्या की थी तथा विविध प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान किया था, आज उन अति बलवान् और वीर्यशाली राजाओं की काल ने कथा मात्र छोड़ रक्खी है ।

जो पृथु अपने शत्रु समूह को जीतकर स्वच्छन्दगति से समस्त लोकों में विचरता था, आज वही कालवायु की प्रेरणा से अग्नि में फेके हुए सेमर की रूई के ढेर के समान नष्ट-भ्रष्ट हो गया ।

जो कार्तवीर्य अपने शत्रुमण्डल का संहार कर समस्त द्वीपों को वशीभूत कर उन्हें भोगता था, वही आज कथा-प्रसंग से वर्णन करते समय उल्टा संकल्प-विकल्प का हेतु होता है । अर्थात् उसका वर्णन करते समय यह संदेह होता है कि वास्तव में वह हुआ था कि नहीं ॥६२–६४॥

दशाननाविक्षितराघवाणा-
मैश्वर्यमुद्भासितदिङ्मुखानाम् ।
भस्मापि शिष्टं न कथं क्षणेन
भ्रूभङ्गपातेन धिगन्तकस्य ॥६५॥

कथा शरीरत्वमवाप यद्वै
मान्धातृनामा भुवि चक्रवर्ती ।
श्रुत्वापि तत्को हि करोति साधु-
र्ममत्वमात्मन्यपि मन्दचेताः ॥६६॥

भगीरथाद्यास्सगरः कुकुत्स्थो
दशाननोराघवलक्ष्मणौ च ।
युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते
सत्यं न मिथ्या क्व नु ते न विद्मः ॥६ ॥

समस्त दिशाओं को देदीप्यमान करनेवाले रावण, मरुत और रघु-वंशियों के क्षणभंगुर ऐश्वर्य को धिक्कार है। अन्यथा काल के क्षणिक कटाक्षपात के कारण आज उसका भस्ममात्र भी क्यों नहीं बच सका?

जो मान्धाता सम्पूर्ण भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट् था उसका आज केवल कथा में ही पता चलता है। ऐसा कौन मन्दबुद्धि होगा, जो यह सुनकर अपने शरीर में भी ममता करेगा? [फिर पृथ्वी आदि में ममता करने की बात ही क्या है?]

भगीरथ, सगर, कुकुत्स्थ, रावण, रामचन्द्र, लक्ष्मण और युधिष्ठिर आदि पहले हो गए हैं, यह बात सर्वथा सत्य है, किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं है, किन्तु अब वे कहाँ हैं? इसका हमें पता नहीं ॥६५-६७॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥६८॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥६९॥
एवं साधारणं देहमव्यक्त प्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्तिजन्तूनृतेऽसतः ॥७०॥

इस शरीर को भले ही कोई राजा कह ले, परन्तु अन्त में यह कीड़ा, विष्ठा अथवा राख के रूप में ही परिणत होगा। इस शरीर के लिए प्राणियों से द्रोह करने में मनुष्य अपना कौन-सा स्वार्थ समझता है? ऐसा करने से तो उसे नरक की ही प्राप्ति होगी। बतलाओ तो सही, यह शरीर किसकी सम्पत्ति है? अन्न देकर पालने वाले की है? या गर्भाधान कराने वाले पिता की? यह शरीर उसे नौ महीने पेट में रखने वाली माता का है? अथवा माता को भी पैदा करने वाले नाना का? जो बलवान् पुरुष बलपूर्वक इससे काम करा लेता है, उसका है? अथवा दाम देकर खरीद लेनेवाले का? चिता की जिस धधकती आग में यह जल जाएगा, उसका है? अथवा जो कुत्ते, शृगाल आदि इसको चीथ-चीथ कर खा जाने की आशा लगाए

बैठे हैं, उसका ? यह शरीर एक साधारण-सी वस्तु है, प्रकृति से पैदा होता और उसी में समा जाता है। ऐसी स्थिति में मूर्ख पशुओं के सिवा और ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो इसको अपना आत्मा मानकर दूसरों को कष्ट पहुँचाएगा, उनके प्राण लेगा ॥६८–७०॥

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पुरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥७१॥
किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥७२॥
कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा ॥७३॥

मनुष्य इस लोक में सकाम कर्मों के द्वारा जिस शरीर के लिए भोग प्राप्त करना चाहता है, वह शरीर ही पराया—सियार-कुत्तों का भोजन और नाशवान् है। कभी वह मिल जाता है तो कभी बिछुड़ जाता है। जब शरीर की यह दशा है तब इससे पृथक् रहने वाले पुत्र, स्त्री, महल, धन-सम्पत्ति, राज्य, खजाने, हाथी-घोड़े, मंत्री, नौकर-चाकर, गुरुजन और दूसरे अपने कहलाने वालों की बात ही क्या है ? फिर भी लोग यही सोचा करते हैं कि मेरे दादा-परदादा इस अखण्ड भूमण्डल का शासन करते थे, अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रहे ? और मेरे बाद मेरे बेटे-पोते, मेरे वंशज किस प्रकार इसका उपभोग करें ? ॥७१–७३॥

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाबुधाः।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ॥७४॥
ये ये भूपतयो राजन् भुञ्जन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥७५॥

वे मूर्ख इस आग, पानी और मिट्टी के शरीर को अपना-आपा मान बैठते हैं और बड़े अभिमान के साथ डींग हाँकते हैं कि यह पृथ्वी मेरी है। अन्त में वे शरीर और पृथ्वी दोनों को छोड़ कर स्वयं ही अदृश्य हो जाते हैं। जो जो नरपति बड़े उत्साह और बल-पौरुष से इस पृथ्वी के उपभोग में लगे रहे, उन सबको काल ने अपने विकराल गाल में धर दबाया। अब केवल इतिहास में उनकी कहानी ही शेष रह गई है ॥७४–७५॥

इक्ष्वाकुजह्नुमान्धातृसगरविवक्षितान्रघून् ।
ययातिनहुषाद्यांश्च ज्ञात्वा निष्ठामुपागतान् ॥७६॥

महाबलान्महावीर्याननन्तधनसञ्चयान् ।
कृतान्कालेनबलिना कथाशेषान्नराधिपान् ॥७७॥

श्रुत्वा न पुत्रदारादौगृहक्षेत्रादिके तथा ।
द्रव्यादौ वा कृतप्रज्ञो ममत्वं कुरुते नरः ॥७८॥

एतद्विदित्वा न नरेण कार्य
ममत्वमात्मन्यपि पण्डितेन ।
तिष्ठन्तु तावत्तनयात्मजाद्याः
क्षेत्रादयो ये च शरीरिणोऽन्ये ॥७९॥

महाबलवान् महावीर्यशाली, अनन्त धन संचय करने वाले तथा परम निष्ठावान् इक्ष्वाकु, जह्नु, मान्धाता, सगर, आविक्षित (मरुत) रघुवंशी राजागण तथा नहुष और ययाति आदि के चरित्रों को सुनकर, जिन्हें कि काल ने आज कथामात्र ही शेष रक्खा है, प्रज्ञावान् मनुष्य पुत्र, स्त्री, गृह, क्षेत्र और धन आदि में ममता न करेगा । इस प्रकार जानकर पुत्र, पुत्री और क्षेत्र आदि तथा अन्य प्राणी तो अलग रहें, बुद्धिमान् मनुष्य को अपने शरीर में भी ममता नहीं करनी चाहिए ॥७६–७९॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥८०॥

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ॥८१॥

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥८२॥

संसार में जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है वे शरीर पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं । परन्तु जीव उनके मोह में ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्यु का ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं । धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना, और भाँति-भाँति की विभूतियाँ—और तो क्या, संसार का समस्त धन तथा भोग-

सामग्रियाँ इस क्षणभंगुर मनुष्य को क्या सुख दे सकती हैं जब कि वे स्वयं ही क्षणभंगुर हैं।

इस सर्वसंहारकारी काल का न तो कोई मित्र है, न कोई शत्रु और न तो कोई सगा-सम्बन्धी ही है। यह सर्वदा सजग रहता है और अपने स्वरूप-भूत श्री भगवान् को भूल कर भोगरूप प्रमाद में पड़े हुए प्राणियों पर आक्रमण करके उनका संहार करता है ॥ ८०-८२ ॥

नित्यदा ह्यङ्गभूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥८३॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥८४॥
कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥८५॥

काल की गति सूक्ष्म है, उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। सूक्ष्म होने के कारण ही प्रतिक्षण होने वाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते।

जैसे काल के प्रभाव से दिये की लौ, नदियों का प्रवाह अथवा वृक्ष के फलों की विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियों के शरीरों की आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है।

काल ही प्राणियों को पचाता तथा काल ही प्रजाओं का संहार करता है और काल ही सब के सो जाने पर भी जागता रहता है। काल का उल्लंघन करना बहुत ही कठिन है ॥८३-८५॥

वैराग्यार्थं कालाधीनसंसार
में
इस मानव शरीर की अनित्यता
एवं
अवश्यम्भाविनी जरा-मृत्युग्रस्तस्थिति
का
वर्णन

शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य
प्रचलनमस्थानं वा तरुणां निमज्जनं पृथिव्याः
स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्
संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यत ॥१॥

प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब बड़े-बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान पर स्थिर नहीं रहते, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, देवगण भी अपने स्थान से नीचे गिर जाते हैं, तो इस अहंकार से भरे जगत् में विषय-भोगों से क्या प्रयोजन ? विषयों में लवलीन रहने वाले तो बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए दिखाई पड़ते हैं ॥ १ ॥

दिशोऽपि हि न दृश्यन्ते देशोऽप्यन्यापदेशभाक् ।
शैलाऽपि विशीर्यन्ते केवास्था मादृशे जने ॥२।

अद्यते सत्तयापि द्यौर्भुवनं चापि भुज्यते ।
धरापि याति वेधुर्यं केवास्था मादृशे जने ॥३॥

शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च शीर्यन्ते तारका अपि ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति केवास्था मादृशे जने ॥४॥

जब दिशाएं भी नहीं दिखाई देतीं, देश भी विदेश हो जाता है

अर्थात् नष्ट हो जाता है और पर्वत भी बिखर कर ढह जाते हैं, तो फिर मेरे जैसे मनुष्य की स्थिरता में क्या विश्वास है ?

सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, वह काल आकाश को भी खा जाता है, चौदहों भुवनों को भी अपना भोजन बना लेता है, पृथ्वी भी उसी से नष्ट हो जाती है, फिर मेरे जैसे मनुष्य की स्थिरता में क्या विश्वास है ?

कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं तारे भी टूट कर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या आस्था हो सकती है ? ।। २-४ ।।

दानवा अपि दीर्यन्ते ध्रुवाप्यध्रुवजीविता। ।
अमरा अपि मार्यन्ते कैवास्था मादृशे जने ।।५।।

शक्रोऽप्याक्रम्यते वक्त्रैर्यमोऽपि हि नियम्यते ।
वायुरप्येत्यवायुत्वं कैवास्था मादृशे जने ।।६।।

सोमोऽपि व्योमतां याति मार्तण्डोऽप्येतिखण्डताम् ।
भग्नतामग्निरप्येति कैवास्था मादृशे जने ।।७।।

कालः संकाल्यते येन नियतिश्चापि नीयते ।
खमप्यालीयतेऽनन्तं कैवास्था मादृशे जने ।।८।।

बड़े-बड़े पराक्रमी दैत्यों को भी काल नष्ट कर देता है, ध्रुव भी अध्रुवजीवी बन जाते हैं और अमर भी यानी देवता भी मारे जाते हैं, फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास हो सकता है ?

काल अपने मुँह से इन्द्र को भी चबा डालता है, है, यम को भी अपने कार्य से विरत कर देता है यानी नष्ट कर देता है। और उसी से वायु भी अभाव को प्राप्त हो जाता है, फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास हो सकता है ? कालवश चन्द्रमा भी शून्यता को यानी अभाव को प्राप्त हो जाता है, सूर्य के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्न हो जाती है अर्थात् शान्त हो जाती है, फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या आस्था की जा सकती है ?

जो काल (मृत्यु) को भी कवलित कर लेता है, नियति को भी नष्ट कर डालता है और अनन्त आकाश को भी नष्ट कर देता है, उस महाकाल के होते हुए मुझ-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास किया जा सकता है ? ।। ५-८ ।।

ते महाविभवा भोगास्ते सन्तः स्निग्धबान्धवाः ।
सर्वं स्मृतिपथं प्राप्तं वर्तमानेऽपि का धृतिः ॥९॥

क्व धनानि महीपानां ब्रह्मणः क्व जगन्ति वा ।
प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता मम ॥१०॥

गलितानीन्द्रलक्षाणि बुद्बुदानीव वारिणि ।
मां जीवितनिबद्धास्थं विहसिष्यन्ति साधवः ॥११॥

ब्रह्मणां कोटयो याता गताः सर्गपरम्पराः ।
प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥१२॥

पृथु, मरुत आदि चक्रवर्ती राजाओं के वे महाविभव, वे सुन्दर गुण वाले स्नेह युक्त बान्धव, सभी इस समय जब स्मृतिशेष हो गए हैं यानी वे विद्यमान नहीं हैं, तब फिर वर्तमान में भी क्या आस्था ?

प्राचीन राजाओं के प्राक्तन धन कहाँ गए ? पूर्व कल्पीय ब्रह्मा के प्राचीन जगत् कहाँ गए ? यानी सभी नष्ट हो गए, तो फिर धन आदि में मेरी क्या आस्था हो ? जैसे जल में बुद्बुद् काल से नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही लाखों इन्द्र काल द्वारा नष्ट कर दिए गए । इसलिए यदि मैं जीवन में आस्था बाँध रक्खूँ, तो विवेकी लोग हँसेंगे ।

करोड़ों ब्रह्मा नष्ट हो गए, सृष्टि-परम्पराएँ बीत गईं, धूलि की तरह राजा लोग मिट्टी में मिल गए । भला, मेरे जीवन में क्या विश्वास है ?

॥ ९–१२ ॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने चेत्ये देहमये भ्रमे ।
आस्थां चेदनुबध्नामि तत्रेमां तु धिगस्थितिम् ॥१३॥

हतं हतमिदं कस्मादायुराततयाऽनया ।
पश्यन्नपि न पश्यामि सूक्ष्मया काललेखया ॥१४॥

पादपीठे कृतेशानाः शङ्खक्रीडनकन्दुकाः ।
कालकापालिकाग्रस्ताः किमास्थे मयि वल्गसि ॥१५॥

अजस्रमुपयान्त्येते यान्ति चाऽद्यापि वासराः ।
अविनष्टैकसद्वस्तुदृष्टो नाऽद्याऽपि वासरः ॥१६॥

संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नभूत देहमय अहं-ममता व्यवहारभ्रम में यदि मैं आस्था रखता हूँ, तो मेरी इस अविवेकिता को धिक्कार है ।

मैं इस क्षण, निमेष, मुहूर्त आदिरूप फैली हुई कालरेखा से प्रतिक्षण नष्ट हो रही अपनी आयु को देख रहा हूँ फिर भी मैं न मालूम क्यों नहीं विचार करता हूँ ?

जिन्होंने ब्रह्मादि उत्तम अधिकारियों को अपने चरणों पर झुका दिया एवं विष्णु आदि की देह को क्रीडा-कन्दुक की भाँति युद्ध आदि के समय आकाश में फेंक दिया, ऐसे कालरूपी रुद्र भी जब महाकाल द्वारा नष्ट कर दिए गए, तो हे जीविताशे ! मेरे अन्दर तुम क्यों नृत्य कर रही हो ? ये दिन निरन्तर अब भी आते हैं और इस अवस्था में भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। आज तक भी कोई दिन, जिसमें नित्य, एक, निर्दोष और आनन्दैकरस वस्तु प्राप्त हो, नहीं देखा ॥१३–१६॥

कष्टात्कष्टतरं प्राप्तो दुःखाद्दुःखतरं गतः।
अद्याऽपि न विरक्तोऽस्मि हा धिङ्मामधमाशयम् ॥१७॥

आगमापायि विरसं दशा वैषम्यदूषितम्।
असारसारं संसारं किं तत्पश्यति दुर्मतिः ॥१८॥

कोऽसौ स्वर्गोऽस्ति भूमौ वा पाताले वा प्रदेशकः।
न यत्राऽभिभवन्त्येता दुर्भ्रमयं इवाऽऽपदः ॥१९॥

सतोऽसत्ता स्थितामूर्ध्नि मूर्ध्निरम्येष्वरम्यता।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥२०॥

मैं कष्ट से भी अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ, दुःख से भी अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुआ, परन्तु आज भी विरक्त नहीं हुआ। हा ! राग, लोभ आदि से दूषित होने के कारण अधम चित्तवाले मुझे धिक्कार है।

दुर्मति पुरुष आदि और अंत में अत्यन्त असत्, भोगकाल में विरस, दारिद्र्य, रोग, वार्धक्य आदि दशाओं से दूषित तथा असार होते हुए भी सारबुद्धि से गृहीत इस संसार को, जो देख रहा है, वह किस लिए ? यानी संसार-दर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

भूमि अथवा पाताल में स्वर्ग नाम का कौन-सा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भँवरियों की भाँति ये आपत्तियाँ अभिभूत नहीं करतीं।

वर्तमानकालिक दृश्य के सिर पर विनाश, मनोहर पदार्थों के सिर पर अरम्यता एवं सुखों के सिर पर दुःख विद्यमान है यानी वर्तमान कालिक दृश्य,

मनोहर पदार्थ और सुख—ये सभी क्रमशः विनाश, अरम्यता और दुःख से व्याप्त हैं। भला, कौन ऐसी वस्तु है, जिसका मैं आश्रयण करूँ !

॥१७–२०॥

जायन्ते च म्रियन्ते च प्राकृताः क्षुद्रजन्तवः।
धरा तैरेव नीरन्ध्रा दुर्लभाः साधुसाधवः ॥२१॥

येषां निमेषणोन्मेषैर्जगतां प्रलयोदयौ।
तादृशाः पुरुषाः सन्ति मादृशां गणनैव का ॥२२॥

सन्ति रम्यतराद्रम्याः सुस्थिरादपि सुस्थिराः।
चिन्तापर्यवसानेयं पदार्थश्रीः किमीहते ॥२३॥

वरमेकान्तदाहेषु लुठनं रौरवाग्निषु।
न त्वालूनविवर्तासुस्थितं संसारवृत्तिषु ॥२४॥

संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥२५॥

अज्ञान से विमोहित क्षुद्र प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। पृथ्वी इन्हीं लोगों से निविड़ है। उत्तम महात्मा लोग दुर्लभ हैं।

जिनके नेत्रनिमीलन और नेत्रोन्मीलन से प्रलय और सृष्टि होते हैं, वैसे भी पुरुष जब विद्यमान हैं, तो मेरी क्या गणना ? अर्थात् ब्रह्मा आदि महापुरुषों को भी जब आश्वासन नहीं प्राप्त होता, तो मेरी क्या गणना है ? मनोहर से भी मनोहर एवं स्थिर से भी स्थिर पदार्थ हैं, परन्तु इन पदार्थों की शोभा का फल उपार्जन, रक्षण, वियोग आदि से चिन्तारूप ही है। इसलिए क्यों उसकी इच्छा करते हो ?

निरन्तर दाह से युक्त रौरव की अग्नि में लोटना अच्छा है, परन्तु विच्छिन्न सुख-दुःख के परिवर्तन से युक्त संसार की अवस्थाओं में स्थिति करना अच्छा नहीं। संसार ही दुःखों की चरम सीमा कहा जाता है। तब भला उसके मध्य पड़ी हुई इस शरीर में सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥२१–२५॥

अहो दुरत्ययामाया लोकस्यार्थप्रणाशिनी।
यया विमोहितं सर्वं जगद्भ्रमति नित्यशः ॥२६॥

आपदः संपदः सर्वाः सुखंदुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायेव बत मायाविजृम्भितम् ॥२७॥

कायोऽचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
स्फुरन्नेव पुरोऽन्तर्धिं याति दीपशिखा यथा ॥२८॥

अहो ! लोगों के समस्त श्रेयों को नष्ट करने वाली यह माया बड़ी दुरत्यय है, जिससे मोहित होकर यह सारा संसार प्रतिदिन इधर-उधर भटकता रहता है। सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं, यहाँ का सुख केवल दुःख देने के लिए है और जीवन भी मृत्यु की धरोहर है। अहो ! यह माया का विस्तार कितना दुःखद है ?

यह शरीर समुद्र में बुल्ले के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जाने वाला पदार्थ है। इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते दीपशिखा के सदृश विलीन हो जाता है ॥२६–२८॥

अस्मिन् संसारेगर्ते तु किंचित् सौख्यं न विद्यते ।
प्रथमं जन्तुराप्नोति जन्मबाल्यं ततः परम् ॥२६॥

पश्चाद्यौवनमाप्नोति ततो वार्द्धक्यमश्नुते ।
पश्चान्मृत्युमवाप्नोति पुनर्जन्म तदश्नुते ॥३०॥

जाग्रतं च स्वपन्तं व भुञ्जन्तं च स्थितं तथा ।
इमं जनं सदा क्रूरः कृतान्तः परिकर्षति ॥३१॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।
तथा नराणां जातानां नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥३२॥

यह संसार एक गड्ढे के समान है। इसमें कुछ भी सुख नहीं है। यहाँ पहले तो जीव का जन्म होता है, तत्पश्चात् उसकी बाल्यावस्था रहती है। फिर वह जवान होता है, उसके बाद वह बुढ़ापा भोगता है। तदनन्तर मृत्यु को प्राप्त होता है और मृत्यु के बाद पुनः जन्म का कष्ट भोगता है।

क्रूर काल जागते, सोते, खाते और ठहरते समय सदा ही इस जीव को अपनी ओर खींचता रहता है।

जैसे पके हुए फलों को गिरने के सिवा और कोई भय नहीं है, वैसे ही जन्म लेने वाले मनुष्यों को मृत्यु के सिवा और कोई भय नहीं है ॥२६-३२॥

यथा गृह दृढस्तम्भं जीर्णकाले विनश्यति ।
एवं विनश्यंति नरा जरामृत्युवशं गताः ॥३३॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् । ३४॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयाता तद्वद्भूतसमागमः ॥३५॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यै रुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥३६॥

जैसे सुदृढ़ खम्भों वाला गृह सुदीर्घकाल के बाद जीर्ण होने पर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्यु के अधीन हो नष्ट हो जाता है। वृद्धावस्था और मृत्यु के वश में पड़े हुए मनुष्य को औषधि, मंत्र, होम, और जप भी नहीं बचा पाते।

जैसे महासागर में एक काठ एक ओर से और दूसरा दूसरी ओर से आकर दोनों थोड़ी देर के लिए मिल जाते हैं तथा मिलकर पुनः बिछुड़ भी जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ प्राणियों के संयोग-वियोग होते रहते हैं।

जगत् में जिन धनवान् पुरुषों की सेवा में बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्यों के साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरों के अन्न पर जीवन निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति काल की समान चेष्टा होती है ॥३३–३६॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तमः ॥३७॥
यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥३८॥
एकसार्थंप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥३९॥
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति ॥४०॥

काल नाना प्रकार के समस्त प्राणियों को खींच लेता है। काल को न कोई प्रिय है और न उसके द्वेष का ही कोई पात्र है। जैसे हवा तिनके को

सब ओर उड़ाती और डालती रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी काल के अधीन होकर आते-जाते हैं। जो एक साथ संसार की यात्रा में आए हैं, उन सबको एकदिन परलोक में जाना है। उनमें से जिसका काल पहले उपस्थित होगा, वह आगे चला जाता है। ऐसी दशा में किसी के लिए शोक क्या करना?

काल का न किसी से प्रेम है और न किसी से द्वेष। उसका कहीं उदासीन भाव भी नहीं है। काल सभी को अपने पास खींच लेता है। ॥ ३७–४० ॥

कालो न ज्ञायते नानाकार्यैः संसारसंभवैः।
सुखदुःखं जनो हन्त न वेत्ति हितात्मनः ॥४१॥

जातानार्त्तान्मृतानापद्ग्रस्तान्दृष्ट्वा च दुःखितान्।
लोको मोहसुरां पीत्वा न विभेति कदाचन ॥४२॥

संपदः स्वप्नसंकाशा यौवनं कुसुमोपमम्।
तडिच्चपलमायुष्यं कस्य स्याज्जानतोधृतिः ॥४३॥

प्रारब्धव्ये निरुद्योगी जागर्त्तव्ये प्रसुप्तकः।
विश्वस्तश्च भयस्थाने हा नरः को न हन्यते ॥४४॥

संसार में उत्पन्न हुए नाना कार्यों से काल नहीं जाना जाता। बड़े ही कष्ट की बात है कि मनुष्य सुख-दुःख तथा अपने वास्तविक कल्याण को भी नहीं जानता। उत्पन्न हुए, आर्त हुए, मरे हुए, आपत्ति से ग्रस्त एवं दुःखितों को देखकर भी, मनुष्य मोहरूपी मदिरा को पीकर इतना उन्मत्त है कि कभी भी भय नहीं मानता।

सम्पदाएँ स्वप्न के समान हैं, युवावस्था पुष्प की भाँति शीघ्र ही मुरझानेवाली है और आयु बिजली की तरह चमक कर लुप्त होने वाली है—यह जानकर कौन ऐसा पुरुष है, जो धीरज धारण कर स्थिर बैठा रह सकता है?

मोक्ष के उपायभूत साधनों में उद्योग रहित, ज्ञेय ब्रह्म के चिन्तन में प्रसुप्त, जन्म-मरणरूप भय के स्थानभूत संसार में विश्वास करने वाला कौन पुरुष यम के द्वारा नहीं मारा गया? ॥ ४१–४४ ॥

न मंत्रा न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन परिपीडितम् ॥४५॥

प्रतिक्षणमयं कालः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवांभःस्थो विशीर्णो न विभाव्यते ॥४६॥

पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ।
शुष्यते सागरजलं शरीरस्य च का कथा ॥४७॥

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवश्च मे ।
जल्पन्तमिति मर्त्याजं हन्ति कालवृको बलात् ॥४८॥

काल से ग्रस्त हुए पुरुष की मंत्र, तप, दान, मित्र एवं बान्धव— ये कोई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते ।

क्षण-क्षण में क्षीण होता हुआ भी यह काल नहीं जाना जाता । जल में स्थित कच्चे घट के समान बिखरता हुआ भी नहीं लक्षित होता । जिस काल के द्वारा पृथ्वी जलाई जाती है, समुद्रों का जल सूख जाता है तो फिर शरीर की क्या बात है ?

मेरी सन्तति है, मेरी स्त्री है, मेरा धन है, और मेरे भाई-बन्धु हैं—ऐसे कहते हुए मनुष्यरूपी बकरे को कालरूपी भेड़िया बलात् यानी जबरदस्ती मारता है ॥ ४५–४८ ॥

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम् ।
अधिष्ठितो मृत्युशत्रुं त्रातारं किं न पश्यति ॥४९॥
तृष्णासूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा ।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ॥५०॥
बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशते मृत्युरेवम्भूतमिदं जगत् ॥५१॥
मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लोहशंकुं न पश्यति ।
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥५२॥

बुढ़ापे ने दिखाया है मार्ग जिसका और प्रचण्ड रोग जिसके सैनिक हैं– ऐसे मृत्युरूपी शत्रु से दबाया गया तू उस रक्षक परमेश्वर को क्यों नहीं देखता है ? तृष्णारूपी सूइयों से छेदे गए तथा विषयरूपी घी से सींचे गए और राग-द्वेषरूपी अग्नि में पकाए गए मनुष्य को मृत्यु बड़े चाव से खाती है ।

बालकों में, तरुणों में, वृद्धों में तथा जो गर्भ में हैं उनमें भी—यानी

सर्वत्र सर्व अवस्थाओं में और सब में मृत्यु समानरूप से प्रवेश करती है, इस प्रकार का यह सर्वत्र मृत्युग्रस्त जगत् है।

जैसे मांस का लोभी मत्स्य लोहे के कील को नहीं देखता है वैसे ही विषय-सुख लोलुप प्राणी यम की बाधा को विषयान्ध होने के कारण नहीं देखता ॥ ४६–५२ ॥

निद्राभीमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः।
ज्ञानवान्मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशु स्मृतः ।।५३।।

प्रभातेमलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यमे रवौ।
रात्रौ तु स्वप्ननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मूढमानवाः ।।५४।।

स्वदेहमपि जीवोऽयं मुक्त्वा याति यमालयम्।
स्त्रीमातृपितृपुत्रादिसम्बन्धः केन हेतुना ।।५५।।

निद्रा, भय-मैथुन एवं आहार—ये मनुष्य तथा पशुपक्षी समस्त प्राणियों के लिए समान ही हैं, परन्तु जो ब्रह्मापरोक्षानुभव से सम्पन्न है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष ही वास्तव में मानव कहा गया है और जो इस स्वरूपबोध से शून्य है, वह पशु ही है।

प्रातःकाल में मल-मूत्र द्वारा, मध्याह्न में क्षुधा-पिपासा के द्वारा तथा रात्रि में स्वप्न एवं निद्रा द्वारा मूढ़ मनुष्य को बाधा दिए जाते हैं।

जब यह जीव अपनी देह को भी छोड़कर यमगृह को जाता है तब भला, शरीर से भिन्न स्त्री, माता, पिता, पुत्र आदि के सम्बन्ध का तो कहना ही क्या ? ।।५३–५५।।

क वा कस्य प्रिया पुत्रो बन्धुः को वा भवार्णवे।
कर्मोर्मिभिर्योजना च तदपायो वियोजना ।।५६।।

का कस्य पत्नी कः कान्तः कस्या वा भुवनत्रये।
मूर्खाणां वञ्चनां कर्तुं करोति मायया हरिः ।।५७।।

लोहदारुमयैः पाशैः पुमान्बद्धो विमुच्यते।
पुत्रदारमयैः पाशैर्मुच्यते न कदाचन ।।५८।।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ।।५९।।

स्वदेहधनदारादिनिरताः सर्वजन्तवः।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः ।।६०।

इस भवसागर में कौन किसकी पत्नी है ? और कौन किसका पुत्र या बन्धु है ? कर्म की तरंगों के उठने से सबका संयोग हो जाता है और उन तरंगों के शान्त हो जाने पर पुनः वियोग हो जाता है।

इस त्रिभुवन में कौन किसकी पत्नी है ? और कौन किसका पति है ? भगवान् श्री हरि मूर्खों को बहलाने के लिए अपनी माया से इन सम्बन्धों की सृष्टि करते हैं।

लोहे तथा लकड़ियों से बने हुए पाशों से बँधा हुआ पुरुष छूट जाता है, परन्तु स्त्री-पुत्ररूप पाशों से बँधा हुआ मनुष्य कभी नहीं छूटता।

जीव जितने मनोनुकूल प्रिय सम्बन्धों की वृद्धि करता है उतनी ही शोकरूपी कीलें उसके हृदय में पीड़ा देती हैं।

हा ! खेद का विषय है कि सभी प्राणी अज्ञान से विमोहित हो, अपने देह, धन, स्त्री आदि में आसक्त होकर बार-बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त करते हैं ॥ ५६–६० ॥

संनिमज्ज जगदिदं विषयकामसागरे।
जन्ममृत्युजराग्राहं न कश्चिदवबुध्यते ॥६१॥
पुत्राणांदारगृहकसमासक्तं हि मानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥६२॥
पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥६३॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥६४॥ (म्)

यह समस्त जगत् विषयभोग और शरीररूपी समुद्र में डूब कर जन्म, मृत्यु, जरारूपी ग्राह का दास बन रहा है किन्तु कोई भी चेत नहीं करता। जैसे भेड़िया भेड़ को पकड़कर चल देता है, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, गृह आदि में आसक्त मन वाले मनुष्य को मृत्यु पकड़ लेती है।

यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनों का मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊ पर कुछ बटोही इकट्ठे हो गए हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटने तक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलने वालों का सम्बन्ध ही बस, शरीर के रहने तक ही रहता है, फिर तो कौन किसको पूछता है ?

संसार में अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुख का अनुभव किया है, परन्तु अब वे किसके हैं ? अथवा हम उनमें से किसके हैं ? ।। ६१–६४।।

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ।।६५।।

न सदैकत्र संवासः कर्ममार्गानुवर्तिनाम् ।
यथा प्रवाहपतितप्लवानां सरितां तथा ।।६६।।

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ।।६७।।

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद् भ्रातामाता पितासखा ।।६८।।

तन्निमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
मृत्युरोगजराग्राह्यैर्न कश्चिदपि बुध्यते ।।६९।।

इस जीव का न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसी का सम्बन्धी है । जैसे मार्ग में चलने वालों को दूसरे पथिकों का साथ मिल जाता है उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है ।

कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीवों का सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता । जैसे नदी के प्रवाह में पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलतीं ।

अतः विवेकी पुरुष को अपने मन में यह विचार करना चाहिए कि मैं कहाँ हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? कौन हूँ ? यहाँ किसलिए आया हूँ ? और किसलिए किसका शोक करूँ ? ।।

चक्रवत् निरन्तर परिवर्तनशील इस अनित्य संसार में भ्राता, माता, पिता, एवं सखा आदि इन प्रिय सम्बन्धियों का सम्पर्क मार्ग में मिलने वाले अन्य पथिकों के तुल्य है ।

जिसमें जरा, मृत्यु एवं रोगरूपी बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसागर में सारा संसार डूब रहा है, परन्तु कोई इस बात को समझ नहीं पाता ।। ६५–६९ ।।

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥७०॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥७१॥

रसायनविदश्चैव सम्प्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥७२॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशालाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ।७३।

केवल आयुर्वेद का अध्ययन करने वाले बहुत से वैद्य भी अपने परिवार-सहित रोगों के शिकार हुए देखे जाते हैं। वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकार के घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तटभूमि से आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौत को लाँघ नहीं पाते।

रसायन जानने वाले वैद्य अपने लिए रसायनों का अच्छी तरह प्रयोग करने पर भी वृद्धावस्था द्वारा वैसे ही जर्जर हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियों के आघात से टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

इसी प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय और अभ्यास में लगे हुए विद्वान् तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्यु को पार नहीं कर पाते ॥७०–७३॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥७४॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥७५॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः ।
पथिसङ्गसमभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥७६॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ।।७७।

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥७८॥

संसार में जन्म लेने वाले समस्त प्राणियों के दिन, रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लौटते।

मृत्यु के इस विशाल मार्ग का सेवन सभी प्राणियों को करना पड़ता है। इस अनित्य मानव को भी काल से विवश होकर कभी भी न टलने वाले मृत्यु के मार्ग पर आना ही पड़ता है।

[आस्तिक के मतानुसार] जीव (चेतन) से शरीर की उत्पत्ति हो या [नास्तिक के मतानुसार] शरीर से जीव की। सर्वथा स्त्री-पुत्रादि या अन्य बन्धुओं के साथ जो समागम होता है, वह रास्ते में मिलने वाले पथिकों के समान ही है। किसी भी पुरुष को कभी किसी के साथ भी बहुत दिनों तक सदा एक स्थान में रहने का सुयोग नहीं मिलता। जब अपने शरीर के साथ भी बहुत दिनों तक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसी के साथ कैसे रह सकता है? जैसे पानी में बुलेबुले उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार इस संसार में उत्पन्न हुए प्राणियों के जो आपस में संयोग होते हैं उनका अन्त निश्चय ही वियोग में होता है ॥७४–७८॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥७९॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥८०॥

स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत्।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥८१॥

यदाहमेव जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापि हितश्चरन् ॥८२॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥८३॥

बढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों भेड़ियों के समान हैं, जो बलवान्, दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियों को खा जाते हैं। कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौत को लाँघ नहीं सकता। भले ही वह समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वी पर विजय पा चुका हो।

जैसे तेली लोग तेल से युक्त होने के कारण तिलों को कोल्हू में पेरते हैं उसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होने के कारण अज्ञानजनित भोगों द्वारा दबा-दबा कर इस संसार-चक्र में पेरा जा रहा है।

जब मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मौत मेरे कहने से क्षणभर भी रुक नहीं सकती और मैं ज्ञानरूपी कवच से अपने को बिना ढके हुए विचर रहा हूँ, तब यह समझकर भी मैं अपने कल्याण-साधन में एक क्षण की भी प्रतीक्षा कैसे करूँगा ?

जब प्रत्येक रात बीतने के बाद आयु क्षीण होकर कुछ न कुछ थोड़ी होती चली जा रही है, तब छिछले जल में रहने वाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ? ७६–८३॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥८४॥

श्वकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥८५॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥८६॥

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ॥८७॥

जैसे मनुष्य वन में फूल चुन रहा हो, उसी बीच में कोई हिंसक जन्तु उस पर आक्रमण कर दे, उसी प्रकार जब मनुष्य का मन दूसरी ओर यानी विषयभोगों में लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होने के पहले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है ।

इसलिए जिस काम को कल करना हो, उसे आज ही कर ले । जिसे अपराह्ण में करना हो, उसे पूर्वाह्ण में ही कर डाले; क्योंकि मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका काम पूरा हो गया है या नहीं । जो कल्याणकारी कार्य हैं, उसे आप आज ही कर डालिए । यह महान् काल आप को लाँघ न जाय । क्योंकि कौन जानता है कि आज किसकी मृत्यु की घड़ी आ पहुँचेगी ।

सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है । इसलिए युवावस्था में ही मनुष्य को धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि जीवन का कुछ ठिकाना नहीं है ॥८४–८७॥

कृते धर्मे भवेत् प्रीतिरिह प्रेत्य च शाश्वती।
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ॥८८॥

कृत्वा कार्यमकार्यं वा तुष्टिमेषां प्रयच्छति।
तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ॥८९॥

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति।
संचिन्वानकमेवैकं कामानामवितृप्तकम् ॥९०॥

वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति।
इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यद् कृताकृतम् ॥९१॥

एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति ॥९१½॥

धर्माचरण करने से इस लोक में प्रसन्नता प्राप्त होती है और मृत्यु के बाद परलोक में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। जिस पर मोह का आवेश होता है, वही स्त्री-पुत्रों के लिए तरह-तरह के काम धन्धों की खटपटमें लगा रहता है। वह करने और न करने योग्य काम करके भी इन सबको संतोष देता है। पुत्रों और पशुओं से सम्पन्न हो, जब मनुष्य का मन उन्हीं में आसक्त रहता है, उसी समय जैसे नदी का महान् जल-प्रवाह अपने तट पर सोए हुए व्याघ्र को बहा ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस मनुष्य को लेकर चल देती है। वह भोग-सामग्रियों का संचय करता और अभी कामनाओं से अतृप्त ही रहता है तभी मृत्यु आकर उसे उसी तरह उठा ले जाती है जैसे बाघिन भेंड़ के पास पहुँचकर उसे दबोच लेती है। मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस काम को अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हद तक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है; इस प्रकार मनसूबे बाँधने में लगे हुए उस मनुष्य को मौत लेकर चल देती है ॥
॥ ८८–९१½ ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसङ्गिनाम् ॥९२॥

क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति।
दुर्बलं बलवन्तं च प्राज्ञं शूरं जडं कविम् ॥९३॥

अप्राप्तसर्वकामार्थं मृत्युरादाय गच्छति।
मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ॥९४॥

असंत्याज्यं यदा मर्त्यैः किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ।
जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चाभ्येति देहिनम् ॥९५॥

अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ।
न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ॥९६॥

बलात् सत्यमृते त्वेकं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥९६१/२॥

वह अपने खेत, दूकान और घर के ही चक्कर में पड़ा रहता है। उनके लिए तरह-तरह के कर्मों में फँसता है, परन्तु उनका फल अभी मिलने भी नहीं पाता, कि तब तक मौत उसको इस संसार से उठा ले जाती है।

मनुष्य दुर्बल हो या बलवान्, बुद्धिमान् हो या शूर-वीर अथवा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु समस्त कामनाओं के पूर्ण होने से पहले ही उसे यहाँ से उठा ले जाती है। जब इस शरीर में मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणों से होने वाले दुःखों का ताँता बँधा रहता है और मनुष्य किसी प्रकार भी उनसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते; तब ऐसी दशा में आप निश्चिंत से क्यों बैठे हैं ? मनुष्य के जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालने के लिए अन्तक यानी यमराज उसके पीछे लग जाता है और बुढ़ापा भी देहधारी के पास आता ही है। समस्त चराचर पदार्थ इन दोनों से बँधे हुए हैं। एकमात्र सत्य के बिना कोई भी मनुष्य कभी सामने आती हुई मृत्यु की सेना को बलपूर्वक नहीं दबा सकता। अतः असत्य को त्याग कर सत्य का ही आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि सत्य में ही अमृत यानी ब्रह्म प्रतिष्ठित है ॥ ९२–९६१/२ ॥

मृत्योर्वा गृहमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ॥९७॥

देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ।
निबन्धनी रज्जुरेषां या ग्रामे वसतो रतिः ॥९८॥

छित्त्वेनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ।
यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ॥९९॥

जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते ।
तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः ।
सत्यकामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥१००॥

गाँव या नगर में रहकर स्त्री-पुत्रों में आसक्ति रखना—यह मृत्यु का घर ही है। "यदरण्यम्" इस श्रुति के अनुसार जो वानप्रस्थ आश्रम है, वह देवताओं की गोशाला के समान है। गांव में रहकर विषयभोगों में आसक्त होना—यह जीव को बाँधने वाली रस्सी के समान है। केवल पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काट कर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट सकते। जो मन, वाणी क्रिया तथा अन्य कारणों द्वारा किसी भी प्राणी की जीविका का अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी बध या बन्धन में नहीं डालते। अतः मनष्य को सत्यव्रत का आचरण करना चाहिए। सत्यरूपी व्रत के पालन में तत्पर रहना चाहिए। वह सत्य की कामना करे। सबके प्रति समानभाव रक्खे। जितेन्द्रिय बने और सत्य के द्वारा ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करे ॥ ९७-१०० ॥

महेश्वर-उमा संवाद

इन्द्रियेषु च जीर्यत्सु च्छिद्यमाने तथाऽऽयुषि।
पुरस्ताच्च स्थिते मृत्यौ किं सुखं पश्यता शुभे ॥१०१॥
व्याधिभिः पीड्यमानस्य नित्यं शारीरमानसैः।
नरस्याकृतकृत्यस्य किं सुखं मरणे सति ॥१०२॥

संचिन्तयानमेवार्थं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवारण्ये मृत्युरादाय गच्छति ॥१०३॥

जन्ममृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यमानस्तु पापान्नोद्विजते जनः ॥१०४॥

इन्द्रियाँ सदा जीर्ण हो रही हैं, आयु नष्ट होती चली जा रही है और मौत सामने खड़ी है—यह सब देखते हुए भी किसी को संसार में क्या सुख प्रतीत होगा?

मनुष्य सदा शारीरिक और मानसिक व्याधियों से पीड़ित होता है और अपनी अधूरी इच्छाएँ लिए ही मर जाता है। अतः यहाँ कौन-सा सुख है? मानव अपने मनोरथों की पूर्ति का उपाय सोचता रहता है और कामनाओं से अतृप्त ही बना रहता है, तभी जैसे जंगल में बाघ आकर सहसा किसी पशु को दबोच लेता है उसी प्रकार मौत उसे उठा ले जाती है। जन्म, मृत्यु और जरा सम्बन्धी दुःखों से सदा आक्रान्त होकर संसार में मनुष्य पकाया जा रहा है, तो भी वह पाप से उद्विग्न नहीं हो रहा है। ॥१०१-१०४॥

उमोवाच

केनोपायेन मर्त्यानां निवर्तेते जरान्तकौ।
यद्यस्ति भगवन् मह्यमेतदाचक्ष्व मा चिरम् ॥१०५॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।
रसायनप्रयोगैर्वा केनात्येति जरान्तकौ ॥१०६॥

उमा ने पूछा :—भगवन् ! मनुष्यों की वृद्धावस्था और मृत्यु किस प्रकार से निवृत्त होती है ? यदि उसका कोई उपाय है तो यह मुझे बताइए, विलम्बन न कीजिए। महान तप, कर्म, शास्त्रज्ञान अथवा रासायनिक प्रयोग—इनमें से किस उपाय से मनुष्य जरा और मृत्यु को लाँघ सकता है ? ॥१०५–१०६॥

श्री महेश्वर उवाच

नैतदस्ति महाभागे जरामृत्युनिवर्तनम्।
सर्वलोकेषु जानीहि मोक्षादन्यत्र भामिनि ॥१०७॥

न धनेन न राज्येन नाग्र्येण तपसापि वा।
मरणं नातितरते विना मुक्त्या शरीरिणः ॥१०८॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
न तरन्ति जरामृत्यू निर्वाणाधिगमाद् विना ॥१०९॥

ऐश्वर्यं धनधान्यं च विद्यालाभस्तपस्तथा।
रसायनप्रयोगो वा न तरन्ति जरान्तकौ ॥११०॥

श्री महेश्वर ने कहा :—महाभागे ! तुम्हारे कथनानुसार महान् तप आदि जरा एवं मृत्यु की निवृत्ति के हेतु नहीं हैं। भामिनि ! तुम यह समझ लो कि सम्पूर्ण संसार में मोक्ष के सिवा अन्यत्र जरा और मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती। मुक्ति के बिना मनुष्य न तो धन से, न राज्य से और न श्रेष्ठ तपस्या से ही मृत्यु को लाँघ सकता है।

सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ भी मोक्ष की उपलब्धि हुए बिना जरा और मृत्यु को नहीं लाँघ सकते।

ऐश्वर्य, धन-धान्य, विद्या-लाभ, तप और रसायन-प्रयोग—ये कोई भी जरा और मृत्यु के पार नहीं जा सकते ॥१०७–११०॥

देवदानवगन्धर्वकिन्नरोरगराक्षसान् ।
स्ववशे कुरुते कालो न कालस्यास्त्यगोचरः ॥१११॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः ।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानमजस्रं ध्रुवमव्ययम् ॥११२॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानामहोरात्रेषु संततम् ॥११३॥

जीवितं सर्वभूतानामक्षयः क्षपयन्नसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥११४॥

देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग तथा राक्षसों को भी काल अपने वश में कर लेता है। कोई भी काल की पहुँच से परे नहीं हैं। गए हुए दिन, मास और रात्रियाँ फिर नहीं लौटती। यह जीवात्मा उस निरन्तर चालू रहने वाले अटल और अविनाशी मार्ग को ग्रहण करता है। सरिताओं के स्रोत की भाँति बीतती हुई आयु के दिन वापस नहीं लौटते। दिन और रात में व्याप्त हुई मनुष्यों की आयु लेकर काल यहाँ से चल देता है। अक्षय सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन को क्षीण करता हुआ अस्त होता और पुनः उदय होता रहता है ॥१११–११४॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं भवेत् ।
गाधोदके मत्स्य इव किं नु तस्य कुमारता ॥११५॥

मरणं हि शरीरस्य नियतं ध्रुवमेव च ।
तिष्ठन्नपि क्षणं सर्वः कालस्यैति वशं पुनः ॥११६॥

न म्रियेरन न जीर्येरन् यदि स्युः सर्वदेहिनः ।
न चानिष्टं प्रवर्तेत शोको वा प्राणिनां क्वचित् ॥११७॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो भूतेषु तिष्ठति ।
अप्रमत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ॥११८॥

एक-एक रात बीतने पर आयु बहुत थोड़ी होती चली जाती है जैसे थाह जल में रहने वाला मत्स्य सुखी नहीं रहता, उसी प्रकार जिसकी आयु क्षीण होती जा रही है उस परिमित आयु वाले पुरुष को कुमारावस्था का क्या सुख है ! शरीर की मृत्यु निश्चित और अटल है। सब लोग यहाँ क्षण

भर ठहर कर पुनः काल के अधीन हो जाते हैं। यदि समस्त देहधारी प्राणी न मरें और न बूढ़े हों, तो न उन्हें अनिष्ट की प्राप्ति हो और न शोक की ही।

समस्त प्राणियों के असावधान रहने पर भी काल सदा सावधान रहता है, उस सावधान काल के आश्रय में आया हुआ कोई भी प्राणी नहीं बच सकता ।।११५-११८।।

वर्षास्विदं करिष्यामि इदं ग्रीष्मबसन्तयोः ।
इति बालाश्चिन्तयति अन्तरायं न बुध्यते ।।११९।।

इदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवं मनसा नराः ।
अनवाप्तेषु कामेषु ह्रियन्ते मरणं प्रति ।।१२०।।

कालपाशेन बद्धानामहन्यहनि जीर्यताम् ।।
का श्रद्धा प्राणिनां मार्गे विषमे भ्रमतां सदा ।।१२१।।

युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ।
फलानामिव पक्वानां सदा हि पतनाद्भयम् ।।१२२।।

अविवेकी मनुष्य यह सोचता रहता है कि आगामी बरसात में यह कार्य करूँगा और गर्मी तथा वसन्त ऋतु में अमुक कार्य आरंभ करूँगा, परन्तु उसमें जो मौत विघ्न बनकर खड़ी रहती है, उसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। 'मेरे पास यह हो जाय, वह हो जाय' इस प्रकार मन ही मन मनुष्य मनसूबे बाँधा करता है, उसकी कामनाएँ अप्राप्त ही रहती हैं और वह मृत्यु की ओर खींचता चला जाता है। काल के बंधन में बँधकर प्रति दिन जीर्ण होते और विषम मार्ग में भटकते हुए प्राणियों का इस जीवन पर क्या विश्वास हो सकता है ?

युवावस्था से ही मनुष्य धर्मशील हो, क्योंकि जीवन का कोई सुदृढ़ निमित्त नहीं है। इसे पके हुए फलों की भाँति सदा ही पतन का भय बना रहता है ।।११९–१२२।।

मर्त्यस्य किमुतैर्दारैः पुत्रैर्भोगैः प्रियैरपि ।
एकहा सर्वमुत्सृज्य मृत्योस्तु वशमन्वियात् ।।१२३।।
जायमानांश्च सम्प्रेक्ष्य म्रियमाणांस्तथैव च ।
न संवेगोऽस्ति चेत् पुंसः काष्ठलोष्टसमो हि सः ।।१२४।।

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्मित्रपरिग्रहैश्च ।
विहाय यद् गच्छति सर्वमेव ।
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥१२५॥

मनुष्यों को उन स्त्रियों, पुत्रों और प्रिय भोगों से भी क्या प्रयोजन है, जब कि वह एक ही दिन में सबको छोड़कर मृत्यु की ओर चला जाता है। संसार में जन्म लेने और मरने वालों को देखकर भी यदि मनुष्य को वैराग्य नहीं होता, तो वह चेतन नहीं, अपितु काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान जड़ है। जो विनाशशील है, जिसका जीवन निश्चित नहीं है, ऐसे पुरुष को बन्धुओं और मित्रों के संग्रह से क्या प्रयोजन है? क्योंकि वह सबको क्षण भर में छोड़कर चल देता है और जाकर फिर कभी लौटता नहीं ॥१२३–१२५॥

एवं चिन्तयतो नित्यं सर्वार्थानामनित्यताम् ।
उद्वेगो जायते शीघ्रं निर्वाणस्य परस्परम् ॥१२६॥

तेनोद्वेगेन चाप्यस्य विमर्शो जायते पुनः ॥
विमर्शो नाम वैराग्यं सर्वद्रव्येषु जायते ॥१२७॥

वैराग्येण परां शान्ति लभते मानवाः शुभे ।
मोक्षस्योपनिषद् दिव्यं वैराग्यमिति निश्चितम् ॥१२८॥

एतत् ते कथितं देवि वैराग्योत्पादनं वचः ।
एवं संचिन्त्य संचिन्त्य मुच्यते हि मुमुक्षवः ॥११९॥

इस प्रकार सदा समस्त पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करते हुए पुरुष को शीघ्र ही एक-दूसरे से उद्वेग उत्पन्न होता है, जो मोक्ष का कारण है। उस उद्वेग से उसके मन में पुनः विमर्श पैदा होता है। समस्त द्रव्यों की ओर से जो वैराग्य होता है उसी का नाम विमर्श है। वैराग्य से मनुष्यों को बड़ी ही शान्ति प्राप्त होती है। यह निश्चित है कि वैराग्य ही मोक्ष का निकटतम एवं दिव्य साधन है। इस कथित वैराग्योत्पादक वाणी का इस प्रकार बारम्बार विचार करके मुमुक्षु पुरुष इस संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥१२६–१२९॥

❖

वैराग्यार्थ सांसारिक वस्तुओं
की
निस्सारता, क्षणभङ्गुरता
एवं
परिवर्तनशीलता
का
वर्णन

अन्यच्च तातातितरामरम्ये
मनोरमे चेह जगत्स्वरूपे ।
न किंचिदायाति तदर्थजातं
येनातिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥१॥

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
शरीरके जर्जरतां प्रयाते
विदूयते केवलमेव लोकः ॥२॥

वस्तुतः अत्यन्त अरमणीय, पर जब तक विचार नहीं किया जाता है तब तक रमणीय-सा मालूम पड़ने वाले इस जगत् में जिस पदार्थ के प्राप्त होने से चित्त में शान्ति यानी पूर्णकामता प्राप्त हो, वैसा कोई भी पदार्थ मेरी समझ में नहीं आता। विचार करके देखा जाय, तो बाल्यावस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीडा-कौतुक में ही चपलतापूर्वक बीत जाती है। तदुपरान्त युवावस्था आने पर मनरूपी मृग स्त्रीरूपिणी गुफाओं में ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है। पुनः तदनन्तर वृद्धावस्था प्राप्त होने पर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है उस समय जनसमुदाय केवल दुःख ही दुःख भोगता रहता है। उसे कहीं कभी भी सुख- शान्ति का लेश भी प्राप्त नहीं होता।
॥१-२॥

जरातुषाराभिहतां शरीर-
सरोजिनीं दूरतरे विमुच्य ।
क्षणाद् गते जीवितचञ्चरीके
जनस्य संसारसरोऽवशुष्कम् ॥३॥

तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताखिलानन्तपदार्थजाता ।
तटस्थसंतोषसुवृक्षमूल-
निकाषदक्षा वहतीह लोके ॥४॥

वृद्धावस्थारूपी हिमवर्षा से नष्ट हुई शरीररूपी कमलिनी का परित्याग कर जब प्राणरूपी भ्रमर अति दूर चला जाता है, तब मनुष्य का यह संसार-रूपी सरोवर सूख जाता है।

इस लोक में तृष्णारूपी नदी निरन्तर बहती रहती है। वह अपने प्रबल वेग से संसार के सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों को निगल गई है और संतोषरूपी तटवर्ती उत्तम वृक्ष की जड़ों को खोदने में बड़ी दक्ष है। भाव यह है कि संसार के अखिल और अनन्त पदार्थों को निगल कर भी इसे संतोष नहीं हुआ ॥३-४॥

शरीरनौश्चर्मनिबन्धबद्धा
भावाम्बुधावालुलिता भ्रमन्ती।
प्रलोड्यते पञ्चभिरिन्द्रियाख्यै-
रधोभवन्ती मकरैरधीरा ॥५॥

कृच्छ्रेषु दूरास्तविषादमोहाः
स्वास्थ्येषु नोत्सिक्त मनोऽभिरामाः।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभि-
रनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥६॥

संसाररूपी समुद्र में चमड़े से मढ़ी हुई शरीररूपिणी नौका क्षुधा-पिपासादि विविध तरंगों से आहत हो, हिलती-डोलती हुई इधर-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय नामक ग्राह इसे टक्कर मारकर डुबाने के लिए उद्यत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है यानी डूबना चाहती है। इसमें बैठे हुए जीव वैराग्ययुक्त एवं धैर्यशाली नहीं हैं।

जिन्हें आपत्तियों में दुःख और मोह प्राप्त नहीं होते, सम्पत्तियों में जिनके मन में तनिक भी अहंकार नहीं होता और स्त्रियों द्वारा जिनका अन्तःकरण दूषित नहीं होता, ऐसे महापुरुष इस समय अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। ॥५–६॥

तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं
रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः ।
शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं
देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥७॥

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते
यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव ॥८॥

जो गजघटारूपी तरंगों से पूर्ण संग्राम-सागर को तैरते हैं, वे मेरी दृष्टि में शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हीं को शूरवीर मानता हूँ जो मनरूपी उत्ताल तरंगों से पूर्ण इस देह और इन्द्रियरूपी समुद्र को विवेक-वैराग्य आदि के द्वारा लाँघ जाते हैं !

पुत्र, स्त्री और धन—इन सबको मनुष्य भ्रमवश अपनी बुद्धि के द्वारा रसायन के समान सुखद मान लेता है परन्तु मृत्युकाल आने पर वे सब के सब कोई उपकार नहीं करते, अपितु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करने से होने वाली मूर्च्छा के समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं ॥७–८॥

कामार्थधर्माप्तिकृतान्तराभिः
क्रियाभिरादौ दिवसानि नीत्वा ।
चेतश्चलद्बर्हिणपिच्छलोलं
विश्रान्तिमागच्छतु केन पुंसः ॥९॥

इमान्यमूनीति विभावितानि
कार्याण्यपर्यन्त मनोरमाणि ।
जनस्य जायाजनरञ्जनेन
जवाज्जरान्तं जरयन्ति चेतः ॥१०॥

जीवन के प्रारंभ में केवल काम, अर्थ और सकाम धर्म की प्राप्ति के उद्देश्य से की गई क्रियाओं द्वारा ही अपने दिन बिताकर वृद्धावस्था को पहुँचे हुए उन मनुष्यों का हिलते हुए मोरपंख के समान चंचलचित्त किस उपाय से शान्ति लाभ करे ? अर्थात् चित्त की शान्ति के साधनभूत कर्म तो उसने कभी किए ही नहीं, फिर उसका चित्त शान्त कैसे होगा ?

'इनको अभी करना है और उन्हें बाद में'—इस प्रकार जिनके लिए चिंता की जाती है वे आपातरमणीय एवं परिणाम में अनर्थरूप सिद्ध होने वाले कार्य स्त्रियों तथा अन्य लोगों का मनोरंजनमात्र करते हुए, वृद्धावस्था के अंत तक लोगों के चित्त को वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण यानी विवेकभ्रष्ट करते रहते हैं ॥९–१०॥

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां
समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः
समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥११॥

विद्राविते शत्रुजने समस्ते
समागतायामभितश्च लक्ष्याम् ।
सेव्यन्त एतानि सुखानि यावत्
तावत्समायाति कुतोऽपि मृत्युः ॥१२॥

जैसे वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनों में पीले पड़कर झड़ जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आत्मविवेक से रहित लोग इस लोक में जन्म लेकर थोड़े हो दिनों में कहीं चले जाते हैं अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं।

सम्पूर्ण शत्रुओं के छिन्न-भिन्न होने पर और चारों ओर से धन-सम्पत्ति की वृद्धि होने पर जब पुरुष इन सांसारिक भोगों को भोगने लगता है तभी न मालूम कहाँ से मृत्यु सामने खड़ी हो जाती है ॥११–१२॥

कुतोऽपि संवर्द्धिततुच्छरूपै-
र्भावैरमीभिः क्षणनष्टदृष्टैः ।
विलोड्यमाना जनता जगत्यां
न वेत्त्युपायातमहो नु पातम् ॥१३॥

अजस्रमागच्छति सत्वरैव-
मनारतं गच्छति सत्वरेव।
कुतोऽपिलोला जनता जगत्यां
तरङ्गमाला क्षणभङ्गुरेव ॥१४॥

जो किसी कारण से वृद्धि को प्राप्त होकर भी क्षणभर में ही नष्ट होते देखे गए हैं, उन अत्यन्त तुच्छ विषय-भोगों द्वारा इधर-उधर भटकाई जाती हुई जनता इस भूतल पर अपने निकट आई हुई मृत्यु को नहीं जान पाती। यह कितने आश्चर्य की बात है।

इस संसार में यह चंचल जनता क्षण में नष्ट होने वाली तरंगों की पंक्तियों के समान न मालूम कहाँ से निरन्तर वेगपूर्वक आती और सदा वेगपूर्वक ही पुनः चली जाती है ॥१३-१४॥

प्राणापहारैकपरा नराणां
मनो मनोहारितया हरन्ति।
रक्तच्छदाश्चञ्चलषट्पदाक्ष्यो
विषद्रुमालोललताः स्त्रियश्च ॥१५॥

इतोऽन्यतश्चोपगता मुधैव
समान संकेत निबद्धभावा।
यात्रासमासङ्गसमा नराणां
कलत्रमित्रव्यवहारमाया ॥१६॥

जैसे चंचल भ्रमररूपी नेत्रों और लालपल्लवरूपी अधरोंवाली तथा विषवृक्ष पर चढ़कर फैली हुई चंचल विषलताएँ देखने में अति सुन्दर होने के कारण पहले मन को हर लेती हैं, पीछे सेवन करने पर प्राणों का नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और भ्रमरतुल्य चंचल नेत्रों से सुशोभित होनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ मनोहारिणी होने के कारण पहले तो मनुष्य के चित्त को चुराती हैं फिर सर्वथा उनके प्राणों का अपहरण करने वाली बन जाती हैं।

जैसे तीर्थयात्रा या महोत्सव में बहुत-से मनुष्यों का सम्मेलन होता है उसी प्रकार इस लोक और परलोक से व्यर्थ ही आए हुए और अमुक स्थान पर हम लोगों की भेंट होगी, यों परस्पर संकेतयुक्त अभिप्राय से

एकत्र हुए लोगों का जो परस्पर स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के रूप में मिलन होता है, यह व्यवहार मायामय ही है ॥१५–१६॥

संसारसंरम्भकुचक्रियेयं
प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुरापि ।
असावधानस्यजनस्यबुद्धौ
चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥१७॥

पुनः पुनर्दैववशादुपेत्य
स्वदेहभारेण कृतोपकारः ।
विलूयते यत्र तरुः कुठारे-
राश्वासने तत्र हि कः प्रसङ्गः ॥१८॥

यह संसार वेगपूर्वक घूमने वाले कुलालचक्र के समान है। यद्यपि यह वर्षाऋतु के पानी के बुलबुलों के समान क्षणभंगुर है तथा असावधान मनुष्यों की बुद्धि में चिरस्थायिता की ही प्रतीति कराता है।

जहाँ दैववश बारम्बार जन्म लेकर अपनी छाया, पत्र और पुष्प आदि के द्वारा निरन्तर प्राणियों का उपकार करने वाला वृक्ष भी कुल्हाड़ी से काट दिया जाता है, उस संसार में मनुष्य-जैसा अपराधी और उपकारशून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करने के लिए कौन-सा कारण है? ॥१७–१८॥

कास्तादृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुखःदाहः ।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥१९॥

सर्वत्रपाषाणमया महीध्रा
मृदामही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा
नापूर्वमस्तीह विकारहीनम् ॥२०॥

संसार में ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है? वे कौन-सी दिशाएँ हैं जहाँ दुःख और दाह नहीं है? वे कौन-से जीव शरीर हैं, जो क्षणभंगुर नहीं हैं? और कौन-सी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट

नहीं होता ! अर्थात् सभी दृष्टियाँ दोषयुक्त हैं, सभी दिशाएँ दुःख-दाह से पूर्ण हैं और सभी लोग विनाशी हैं तथा सम्पूर्ण लौकिक कार्यों में छल-कपट रहता है। पर्वत वस्तुतः पाषाण ही हैं, पृथ्वी मिट्टी ही है, वृक्ष काष्ठ ही हैं और मनुष्य मांस आदि ही हैं। अर्थात् पर्वत पत्थर से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, पृथ्वी मिट्टी से अतिरिक्त नहीं है, वृक्षों में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं है और मनुष्य भी हड्डी मांस आदि के ही पुतले हैं, उनसे पृथक् उनमें कुछ नहीं है। लोगों के बनाए हुए संकेत के अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाव नियत किए गए हैं। इस भोग्य वर्ग में कोई भी वस्तु विकार से हीन अथवा अपूर्व नहीं है। विकार होने से ये विषय आदि सब मिथ्या हैं। इसलिए भी इन पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१९-२०॥

अवलोक्यते चेतनयानुविद्धा
पयोनुबद्धोस्तनयो नभः स्थाः।
पृथग्विभागेन पदार्थलक्ष्म्या
एतज्जगन्नेतरदस्ति किंचित् ॥२१॥

चमत्कृतिश्चेह मनस्विलोक—
चेतश्चमत्कारकरी नराणाम्।
स्वप्नेऽपि साधो विषयं कदाचित्
केषांचिदभ्येति न चित्ररूपा ॥२२॥

जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिल कर घट-पट आदि नाना पदार्थों के रूप में अविवेकी पुरुषों को प्रतीत होते हैं। चेतन के सानिध्य से ही उन्हें पदार्थों की प्रतीति होती है। विवेक-दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभागपूर्वक आलोचना करने पर यह जगत् पाँच भूतों के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होता ?

मिथ्या होने पर भी इस पदार्थ-समूह के विषय में व्यवहार कुशलता के कारण विद्वान् पुरुष के भी मन में भोग-सम्बन्धी चमत्कार (चेष्टा) को उत्पन्न करने वाली जो व्यवहार-चमत्कृति या प्रवृत्ति देखी जाती है, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि कभी-कभी स्वप्न में मिथ्याभूत विषयों को भी देखकर किन्हीं लोगों की उस प्रकार की चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है ॥२१-२२।

आधिव्याधिशतैर्जनस्यविविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा—
त्तत्किं तेन निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम् ॥२३॥

भोगा मेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनी चञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपट लीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोलायौवन लालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धि सुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः ॥२४॥

नाना प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक अनेक पीड़ाओं के द्वारा आरोग्य अर्थात् स्वस्थता का जड़ से नाश किया जाता है। जिस पुरुष के पास द्रव्य-सम्पत्ति टिकती है उस पर द्वार खोलकर आपत्तियाँ आ घेरती हैं अर्थात् आपत्ति पर आपत्ति उस धनी को घेरे रहती है। प्रारब्धवश पुनः-पुनः जन्म लेने वाले पराधीन जीव को मृत्यु अपने अधीन कर लेती है अर्थात् मार डालती है। तब तो मनमाना काम करने वाले उस विधाता ने जो स्थिर बनाया है, वह क्या है ! अर्थात् कुछ नहीं। इसलिए इन अस्थिर भोगों की अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए।

ऐ बुद्धिमानो ! शरीरधारी प्राणियों के भोग मेघों के विस्तार के बीच चमकनेवाली बिजली के समान चंचल अर्थात् शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं। आयुष्य पवन के द्वारा कम्पित कमलसमूह पर पड़े पानी के तुल्य सत्वर नाशशील है और जवानी के कारण उत्पन्न होने वाली लालसायें भी अत्यन्त अस्थिर हैं—ऐसा विचार कर शीघ्र ही धैर्य एवं चित्त की स्थिरता की सिद्धि से सहज प्राप्त होने वाले योग यानी परमात्मचिन्तन में बुद्धि को लगाएँ।
॥२३–२४॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत् प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ताभवत भवमयाम्भोधिपारं तुरीतुम्॥२५॥

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमित तनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकर विषमो यौवने चोपभोगः।

वामाक्षीणामवज्ञाविहसित वसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ।२६॥

जीवन चंचल तरंगों की तरह तुरंत नष्ट होने वाला है, यौवन की सुन्दरता कुछ ही दिनों तक रहने वाली है, अर्थ यानी धन-धान्य, धाम, ग्राम, पशु आदि पदार्थ मनोरथ के समान अस्थिर हैं। सारे भोग वर्षा-कालिक मेघों के बीच की बिजली के विलास की तरह हैं और प्रौढ़ प्रियाओं द्वारा किया गया कण्ठालिंगन भी क्षणिक है। अतः संसार के भयरूप सागर के पार तक तैरकर जाने के लिए ब्रह्म में अपने मन को लीन कीजिए। मानव-प्राणी गर्भ में रहने के समय अपवित्र मूत्र-पुरीष के बीच अपने शरीर को संकुचित करके बड़े कष्ट के साथ रहते हैं। यौवन में संभोग-सुख भी कान्ता के वियोगरूप दुःख के सम्बन्ध से विकल हो जाता है और वार्धक्य सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियोंकृत अपमान द्वारा हँसी का स्थान होने से अच्छा नहीं। अरे मनुष्यो! संसार में यदि कुछ अल्प भी सुख है तो कहो ॥२५–२६॥

क्षायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः ॥२७॥

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्य दस्युभिः।
किं जायया संसृति हेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥२८॥

यह निःसन्देह दिखाई पड़ता है कि लक्ष्मी छाया के समान चंचल, यौवन जल-तरंग के समान अनित्य है, स्त्री-सुख स्वप्न के समान मिथ्या और आयु अत्यन्त अल्प है तथापि प्राणियों का इनमें कितना अभिमान है। इस शरीर को लेकर क्या करना है, जब यह एक-न-एक दिन साथ छोड़ ही देता है। जो धन-सम्पत्ति लेने के लिए स्वजन बने हुए हैं, उन डाकुओं से अपना स्वार्थ ही क्या है? पत्नी से भी क्या लाभ है, जब कि वह जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्र में डालने वाली ही है। जब मर ही जाना है, तब घर से मोह करने में भी क्या स्वार्थ है? इन सब वस्तुओं में उलझ जाना तो केवल अपनी आयु को व्यर्थ ही खो देना है ॥२७–२८॥

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थप्रमत्तः सहसा विपश्चित।।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥२९॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वामुधाजन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रिया।।
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरित्थं विधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे ॥३०॥

स्वार्थ में पागल जीव जब तक विवेक-दृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों की चेष्टाओं को मिथ्या नहीं देखता, तब तक आत्मस्वरूप की स्मृति खो बैठने के कारण वह अज्ञानवश विषय-प्रधान गृह आदि में आसक्त रहता है और तरह-तरह के क्लेश उठाता रहता है।

पुनः वही रात बीती रात की तरह है और दिन भी बीते हुए दिन के समान है—यह जानकर भी प्रयत्नशील प्राणी उसी प्रकार चुपचाप उन-उन व्यापारों को आरंभ करते हुए बार-बार अनुभव किए हुए अर्थात् चबाये को चबाने (चर्वितचर्वण करने) वाली चेष्टाओं से व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं। इस प्रकार बदलनेवाले संसार से निन्दित या हीन किए गए हम अज्ञान से लज्जित नहीं होते—यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥२९–३०॥

अजानन् दाहात्म्य पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला-
न्न मुञ्चामः कामानहह! गहनो मोहमहिमा ॥३१॥

शलभ यानी फतिङ्गा जलाने के स्वभाव को न जानने के कारण कड़ी आग में गिरे अर्थात् जलकर भले ही मर जाए। इसी प्रकार वह मत्स्य-विदित न होने के कारण बन्सी (मछली पकड़ने का काँटा) में लगे हुए मांस को भले ही खा जाने की चेष्टा करे अर्थात् उसी में अपने प्राणों को नष्ट कर दे; किन्तु इस लोक में विनिपात का कारण विशेषरूप से जानते हुए भी हम लोग विपत्तियों के जाल से कठिन काम-वासनाओं को नहीं छोड़ते। अहो! अज्ञान की महिमा गहन है ॥३१॥

जलबुद्बुदवत्सव संसारं सचराचरम् ।
प्रभाते स्वप्नवन्मिथ्या मोहकारणमेव च ॥३२॥

यदङ्गमद्य संवीतं कौशेय स्रग्विलेपनैः ।
दिगम्बरं तदेव श्वो दूरे विशारिताऽवटे ॥३३॥

यत्राऽद्य नगरं दृष्टं विचित्राचारचंचलम् ।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्यधर्मता ॥३४॥

यः पुमानद्य तेजस्वी मण्डलान्यधितिष्ठति ।
स भस्मकूटतां राजन् दिवसैरधिगच्छति ॥३५॥

यह समस्त चराचर जगत् जल के बुल-बुले की भाँति नश्वर है तथा प्रातःकालिक स्वप्न की भाँति मिथ्या और केवल मोह का ही कारण है। आज जिस शरीर को रेशमी वस्त्र, फूलों के हार तथा भाँति-भाँति के अनुलेपनों से विभूषित किया है, वही कल वस्त्रशून्य यानी नंगा होकर ग्राम या नगर से दूरवर्ती किसी गड्ढे में पड़ा-पड़ा सड़ जाएगा। जहाँ पर आज अद्भुत आचार-व्यवहार वाले मनुष्यों की चहल-पहल से परिपूर्ण चंचल नगर दिखाई देता है, कुछ ही दिनों के बाद वहीं पर सूना अरण्य बन जाता है। जो पुरुष आज तेजस्वी है, अनेक मण्डलों पर शासन करता है, वही कुछ ही दिनों के अनन्तर भस्मराशि यानी राख की ढेरी बन जाता है ॥३२-३५॥

अरण्यानी महाभीमा या नभोमण्डलोपमा ।
पताकाच्छादिताकाशा सैव सम्पद्यते पुरी ॥३६॥

या लतावलिता भीमा भात्यद्य विपिनावली ।
दिवसैरेव सा याति पुनर्मरुमहीपदम् ॥३७॥

सलिलं स्थलतां याति स्थलीभवति वारि भूः ।
विपर्यस्यति सर्वं हि सकाष्ठाम्बुतृणं जगत् ॥३८॥

अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसंचयाः ॥
भावाद्भावान्तरं याति तरङ्गवदनारतम् ॥३९॥

आज जो महारण्य विस्तार और नीलता में आकाश मण्डल को मात करता है अर्थात् आकाश के समान विशाल और गहन होने के कारण आकाश के समान काला है, वही थोड़े दिनों में पताकाओं से आकाश को पाट देने वाला महा नगर बन जाता है।

आज जो लताओं से वेष्टित अतएव भयंकर वनश्रेणी दिखाई देती है वही थोड़े ही दिनों में जल और वृक्षों से शून्य मरुभूमि बन जाती है। जहाँ पर अगाध जल भरा रहता है, वे बड़े-बड़े तालाब और समुद्र स्थल बन जाते हैं और स्थल जलाशय बन जाता है। बहुत कहाँ तक कहें, काष्ठ, जल और तृणों से युक्त यह सारा का सारा जगत् विपरीत अवस्था को प्राप्त होता है।

युवावस्था, बाल्यावस्था, शरीर और धनसंपत्ति—ये सब के सब अनित्य हैं। जैसे तरंग लगातार जल से तरंगरूपता को और तरंग से जलरूपता को प्राप्त होती है, वैसे ही सब पदार्थ निरन्तर अपने पूर्व स्वभाव से अन्य स्वभाव को प्राप्त होते हैं ॥३६–३९॥

वातान्तर्दीपक शिखालोलं जगति जीवितम्।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥४०॥

प्रत्यहं क्षयमायाति प्रत्यहं जायते पुनः।
अद्याऽपि हतरूपाया नाऽन्तोऽस्यादग्धसंसृतेः ॥४१।

जगत्सर्वं तु निःसारमनित्यं दुःखभाजनम्।
उत्पद्यते क्षणादेतत्क्षणादेताद्विपद्यते ॥४२॥

तिर्यक्त्वं पुरुषा यान्ति तिर्यञ्चो नरतामपि।
देवाश्चाऽदेवतां यान्ति किमिवेह विभो स्थिरम् ॥४३॥

इस संसार में जीवन प्रखर वायु से पूर्ण स्थान में रक्खे हुए दीपक की लू के समान अत्यन्त चंचल है और तीनों लोकों के सम्पूर्ण पदार्थों की चमक-दमक बिजली के चमक के समान क्षणिक है।

यह गर्हित संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न होता है। अतः आज तक इस नष्ट प्राय जले हुए संसार का अन्त नहीं हुआ, यह निरन्तर चलता ही जाता है।

यहाँ सारशून्य, अनित्य एवं दुःख का भाजनरूप समस्त जगत् क्षण में ही उत्पन्न एवं क्षण में ही नष्ट होता है।

मनुष्य पशु, पक्षी आदि की योनि को प्राप्त होते हैं, पशु आदि मनुष्य-जन्म को प्राप्त होते हैं और देवता देवभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं।

भला, बतलाइए तो सही कि, इस संसार में कौन-सी वस्तु स्थिर है ? सभी का तो विपर्यास दिखाई दे रहा है ॥४०-४३॥

रचयन् रश्मिजालेन रात्र्यहानि पुनः पुनः ।
अतिबाह्य रविः कालो विनाशावधिमीक्षते ॥४४॥
धनानि बान्धवा भृत्या मित्राणि विभवाश्च ये ।
विनाशभयभीतस्य सर्वं नीरसतां गतम् ॥४५॥
स्वदन्ते तावदेवैते भावा जगति धीमते ।
यावत्स्मृतिपथं याति न विनाशकुराक्षसः ॥४६॥

क्षणमैश्यंमायाति क्षणमेति दरिद्रताम् ।
क्षणं विगतरोगत्वं क्षणमागतरोगताम् ॥४७॥
प्रतिक्षणविपर्यासदायिना निहतात्मना ।
जगद्भ्रमेण के नाम धीमन्तो हि न मोहिताः ॥४८॥

कालरूप सूर्य अपनी किरणों द्वारा रात-दिन पुनः-पुनः प्राणियों की सृष्टि कर अनेक रात्रि और दिनों को बिताकर स्वयंरचित भूतों के विनाश की प्रतीक्षा करता है। विनाश के भय से भीत पुरुषों के लिए धन-सम्पत्ति भाई-बन्धु, भृत्य, मित्र तथा वैभव—ये सब नीरस हो गए हैं।

इस जगत् में विवेकशील पुरुषों को तभी तक ये पदार्थ भले लगते हैं, जब तक कि विनाशरूपी दुष्ट राक्षस का स्मरण नहीं होता।

इस संसार में मनुष्य क्षण भर में वैभवपूर्ण हो जाता है और क्षण भर में ही दरिद्र बन जाता है, क्षणभर में नीरोग हो जाता है और क्षणभर में ही रोग से आक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण विपरीत अवस्था प्रदान करने वाले इस नश्वर जगत्‌रूपी भ्रम से कौन बुद्धिमान् जन मोहित नहीं हुए ? अर्थात् इस गर्हित जगत्भ्रम ने सभी को मोह में डाल रक्खा है ॥४४–४८॥

आगमापायपरया क्षणसंस्थितिनाशया ।
न बिभेति हि संसारे धीरोऽपि क इवाऽन्यया ॥४९॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पदः ।
क्षणं जन्म क्षणं मृत्युर्मुने किमिव न क्षणम् ॥५०॥

प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः ।
सदेकरूपं भगवन् किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥५१॥
अशूरेण हतः शूरः एकेनाऽपि हतं शतम् ।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यते जगत् ॥५२॥

संसार में ऐसा कौन पुरुष है जो धीर होता हुआ भी क्षण में स्थित और क्षण में नष्ट होने वाली आवागमन की परम्परा से युक्त इस सांसारिक-स्थिति से भयभीत नहीं होता ?

क्षण में आपत्तियाँ आती हैं और क्षण में ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। केवल सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ ही नहीं, किन्तु क्षण में ही जन्म होता है और क्षण भर में ही मृत्यु हो जाती है। इस संसार में कौन ऐसी वस्तु है जो क्षणिक न हो अर्थात् सुस्थिर हो ?

यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों के बाद अन्य प्रकार का हो जाता है। सदा एकरूप से रहने वाली सुस्थिर वस्तु यहाँ कोई भी नहीं है।

यहाँ कायर के द्वारा शूरवीर मारा जाता है, एक ही व्यक्ति के हाथ से सैकड़ों व्यक्ति मारे जाते हैं और सामान्य व्यक्ति भी प्रभुता को प्राप्त हो जाते हैं। बहुत क्या कहें, यह सारा जगत् ही परिवर्तनशील है ॥४९-५२॥

बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥५३॥
आविर्भावतिरोभावभागिनो भवभागिनः ।
जनस्य स्थिरतां यान्ति नाऽपदो न च संपदः ॥५३॥
कालः क्रिडत्ययं प्रायः सर्वमापदि पातयन् ॥
हेला विचलिताशेष चतुराचारचञ्चुरः ॥५०॥
राजेभ्यो भोगपूगेभ्यश्चिन्तावद्भ्यो मुनीश्वर ।
निरस्तचिन्ताकलिता वरमेकान्तशीलता ॥५६॥

बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है तदन्तर यौवन की शोभा छा जाती है, वह भी बाल्यावस्था के समान थोड़े ही दिनों में चल बसती है तदुपरान्त वृद्धावस्था का पदार्पण होता है। देखिए, जब देह में भी

एकरूपता (स्थिरता) नहीं है तो बाह्य पदार्थों में एकरूपता की क्या आशा हो सकती है ?

उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषों की न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ स्थिर रहती हैं।

यह काल समर्थों को भी अनादर के साथ परिवर्तित करने में अति दक्ष है। यह प्रायः सब लोगों को आपत्ति में ढकेलकर क्रीडा करता है। विविध मानसिक चिन्ताओं से परिपूर्ण प्रचुर भोगों से युक्त राज्यों की अपेक्षा चिन्ता-शून्य महात्माओं द्वारा स्वीकृत एकान्तसेवन कहीं अच्छा है ॥५३–५६॥

जन्मावलिवरत्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः।
ये बद्धास्तद्विमोक्षार्थं यतन्ते ये त उत्तमाः ॥५७॥

भोगामेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।
आयुरप्यग्निसंतप्त लोहस्थजलविन्दुवत् ॥५८॥

यथा व्यालगलस्थोऽपिभेकोदंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिनाग्रस्तो लोकोभोगानशाश्वतान् ॥५९॥

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
देहस्तुभिन्नः पुरुषात्समोक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥६०॥

इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा कठिन है, अतएव इन्द्रियाँ ठहरीं कभी न सुलझनेवाली दृढ़ग्रन्थियाँ। उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म-परम्परारूपी चमड़े की रस्सी से बाँधे गए जीवों में से जो लोग उससे छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। सांसारिक ये भोग तो मेघरूपी वितान में चमकती हुई बिजली के समान चंचल हैं और आयु अग्नि में तपाए गए लोहे पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान क्षणिक है। जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ मेढक मच्छरों को ताकता रहता है उसी प्रकार लोग कालरूप सर्प से ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगों को चाहते रहते हैं।

कैसा आश्चर्य है कि शरीर के भोगों के लिए ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकार की क्रियायें करता रहता है। यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मा से भिन्न है तो फिर भला, पुरुष कैसे किसी भोग को भोग सकता है ? ॥५७–६०॥

संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रागादिसंकुला।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते ॥६१॥

आयुष्यं क्षीयते यस्मादादित्यस्य गतागतैः।
दृष्ट्वान्येषां जरामृत्यू कथञ्चिन्नैव बुध्यते ॥६२॥

स एव दिवसः सैव रात्रिरित्येव मूढधीः।
भोगाननुपतत्येव कालवेगं न पश्यति ॥६३॥

प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुरामघटाम्बुवत्।
सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥६४॥

जरा व्याघ्रीव पुरस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते।
मृत्युः सहैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥६५॥

यह संसार सदा रोगादि से संकुलित तथा स्वप्न और गन्धर्वनगर के सदृश मिथ्या है। मूढ़जन ही इसको सत्य मानकर इसका अनुकरण करते हैं। नित्य सूर्य के उदय और अस्त होने से आयु क्षीण हो रही है तथा नित्य ही दूसरों की वृद्धावस्था और मृत्यु होती देखी जाती है, तो भी मूढ़ पुरुष को किसी प्रकार चेत नहीं होता।

नित्य प्रति उसी प्रकार दिन और रात होते हैं, किन्तु मूढ़मति पुरुष भोगों के पीछे ही दौड़ता है, काल की गति को वह नहीं देखता। कच्चे घड़े में भरे हुए जल के समान आयु प्रति क्षण क्षीण हो रही है और रोग-समूह शत्रुओं के समान शरीर को नष्ट करते हैं। वृद्धावस्था सिंहनी के समान डराती हुई सामने खड़ी है और यह मृत्यु भी उसके साथ ही चलती हुई अन्त समय की प्रतीक्षा कर रही है ॥ ६१–६५ ॥

सुप्तं मा स्थीयतां वृद्धकच्छपेनैव पल्वले।
उत्थानमङ्गीक्रियतां जरामरणशान्तये ॥६६॥

अनर्थायाऽर्थसम्पत्तिर्भोगौघो भवरोगदः।
आपदः सम्पदः सर्वाः सर्वत्राऽनादरो जयः ॥६७॥

प्रत्यब्दं प्रतिमासं च प्रत्यहं च प्रतिक्षणम्।
सुखानि दुःखपिण्डानि दुःखानि तु पुनः पुनः ॥६८॥

नीलोत्पलालिनयना परमप्रेमभूषणाः।
ह्रासायैव विलासिन्यः क्षणभङ्गितया स्थिताः ॥६९॥

जैसे बूढ़ा कछुआ तालाब में सोया रहता है वैसे सोए रहना ठीक नहीं है अपितु जरा-मरण आदि दुःखों की निवृत्ति के लिए उद्योग करना चाहिए।

धन-सम्पत्ति अनर्थों की जननी है और विविध भोग संसाररूपी रोग के हेतु हैं। आपत्तियाँ ही सब सम्पत्तियाँ हैं और सब वस्तुओं की अवहेलना ही विजय है।

प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन, प्रतिक्षण जो दुःख से निविड़ सुख हैं वे दुःख ही हैं। नील कमल के तुल्य मनोहर और भ्रमर के तुल्य चंचल नेत्रवाली अतिशय प्रीतिरूप भूषण से युक्त यानी अत्यन्त अनुरागवाली भी स्त्रियाँ क्षणमात्र में विनाशी होने के कारण हास के ही योग्य हैं ॥६६–६९॥

सम्पदश्च विचित्रा यास्ताश्चेच्चित्तेन संमताः।
तत्ता अपि महारम्भा हन्त मन्ये महापदः ॥७०॥

आपदोऽपि विचित्रा यास्ताश्चेन्मनसि संमताः।
तत्ता अपि महारम्भा मन्ये मनसि सम्पदः ॥७१॥

तिर्यञ्च पशवो मूढा ये नु तुष्यन्त्यसाधवः।
भोगैः कृपणसर्वस्वैरादिमध्यान्तपेलवैः ॥७२॥

सर्वत्र दारुभिर्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्मृदा।
दुःखान्यनित्यता चेति कथमाश्वास्यते वद ॥७३॥

ये स्त्री, धन और गृह आदि विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्त से आदरणीय हों, तो वे भी बहुत प्रयत्नों से प्राप्त करने योग्य दुःख से रक्षणीय तथा अवश्य विनाशशील होने के कारण महाविपत्तिरूप ही हैं—ऐसा मानता हूँ। किन्तु यदि धन, सम्पत्ति और बन्धुजनों से वियोगरूप आपत्तियाँ भी साधुसंगम तपस्या और ज्ञान की प्राप्ति करा देने के कारण विचित्र एवं कल्याणकारिणी हैं—ऐसा मन में विश्वास हो जाय, तो भी विवेक-वैराग्यादि महान् आरम्भ से युक्त सम्पत्तियाँ ही हैं—ऐसा मानता हूँ।

जो मूढ़ असाधु पुरुष कृपणों के सर्वस्व तथा आदि, मध्य और अन्त में असत् भोगों से सन्तुष्ट होते हैं, वे निरे पशु-पक्षी ही हैं।

सभी जगह के वृक्ष काष्ठों से ही व्याप्त हैं, प्राणि-समूह मांस से व्याप्त हैं, पृथ्वी मिट्टी से भरी पड़ी है और दुःख एवं नश्वरता सारे संसार को घेर कर खड़ी है, फिर कहिए कि उसमें विश्वास कैसे हो? ॥ ७०–७३ ॥

न धनानि न मित्राणि न सुखानि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं कालेनाऽऽकलितं जनम् ॥७४॥

शरीरं पर्णवद्भ्रंशि जीवितं जीर्णं संस्थिति।
धीरधीरतयाग्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥७५॥

विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः।
यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥७६॥

विवेकामोदसर्वस्वं चेतः कुसुमकोशवत्।
हृत्वा मूर्च्छां प्रयच्छन्ति विषया विषवायसः ॥७७॥

न तो धन, न मित्र, न सुख और न बान्धव ही उस पुरुष की रक्षा कर सकते हैं, जो कि काल के गाल में फँस चुका है।

शरीर तो पत्ते के सदृश गिर जानेवाला है, जीवन की स्थिति भी जीर्ण-शीर्ण ही है, बुद्धि अधीरता से निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिए हुए हैं।

निरन्तर के लिए विधि-प्रतिषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी के लिए विधि-निषेध के शास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोक में उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता-फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानों से जल।

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूल के कोश से विवेक-सुगन्धरूपी सर्वस्व का अपहरणकर कर्म-शात्र में प्रवृत्त पुरुष को मूर्च्छा प्रदान करता है ॥ ७४–७७ ॥

दोलायन्त्योऽवनौ देह सागरान् सागराङ्गनाः।
यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥७८॥

धावन्ति विषयांल्लक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः।
स्पृशन्ति न गुणान् भूयः कृतघ्नाः सौहृदं यथा ॥७९॥

उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवाऽतिशत्रवः।
बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाऽतिनैधनम् ॥८०॥

सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः।
भोगाभवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥८१॥

जैसे दोनों तटभूमियों पर प्रवाह को झूले के सदृश आन्दोलित करती

हुई सागराङ्गनाएँ यानी नदियाँ सागरों की ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोहग्रस्त जनता विषयों की ओर दौड़ती जाती है।

छूटे हुए चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्य की ओर ही स्वभावतः जाते हैं फिर वे विवेक आदि गुणों का ऐसे ही स्पर्श नहीं करते जैसे कि कृतघ्न पुरुष सुहृदयता का।

आयु तो एक उत्पात वायु ही है, जो मित्र हैं वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धुवर्ग हैं, वे तो बन्धनरूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्यु का ही एक तरह से साधन समझना चाहिए।

आसक्ति पैदा करने के कारण सुख अति दुःखरूप ही है, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसार में महारोग हैं और भोगों से प्रेम महान् अरति यानी व्यग्रतारूप ही है ॥७८-८१॥

भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ॥
दशन्त्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥८२॥

सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥८३॥

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥८४॥

आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये।
अत्यन्त विरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥८५॥

विषय-सेवनरूप जो भोग हैं उन्हें सर्पों का फण ही समझना चाहिये, क्योंकि वे थोड़ा-सा भी स्पर्श होने पर डँस ही लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं।

सम्पत्तियाँ तथा युवतियाँ—ये तरंगों की गोद के समान क्षणभंगुर हैं। इतना ही नहीं, वे सर्प के फण की छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा?

मान लिया जाए कि विषय-भोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के सदृश अतिचंचल ही है। विषय तो आपातरमणीय है यानी इन्द्रिय-संग काल में ही रम्य

भासते हैं। ये परिणाम में अत्यन्त नीरस हैं इसलिए ऐसे विषय में जो पुरुष रमण करते हैं वे नरकों में ही गिरते हैं, क्योंकि विषयों के व्यसनियों को पद-पद पर अधर्म ही होता है ॥८२-८५॥

आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥८६॥

अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि।
चलन्त्यायूंषि शाखाग्र लम्बाम्बूनीवदेहिनाम् ॥८७।

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवेका न जीर्यते ॥८८॥

बाल्यं यौवनवद्याति यौवनं याति बाल्यवत्।
उपमानोपमेयत्वं भङ्गुरत्वं मिथोऽनयोः ॥८९॥

लक्ष्मी ऊपर-उपर से ही मधुर है, अन्त में दुःख देनेवाली है, केवल लोक को मोह में डालनेवाली है तथा उसका विलास क्षणभर के लिए होता है। कोई महान् से महान् पुरुष क्यों न हो, उनके जीवन में भी एक दिन मृत्यु अवश्य उपस्थित होगी। देहधारियों की आयु शाखा के अग्र भाग में लटकी हुई ओस की बूँद के समान शीघ्र ही नष्ट होनेवाली है। जरावस्था प्राप्त करते हुए पुरुष के केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं उसकी और सब वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं; परन्तु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती, वह नित्य नयी ही बनी रहती है। बाल्यावस्था युवावस्था के सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्यावस्था के सदृश चली जाती है, यों इन दोनों में परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान है।८६-७९॥

जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा।
प्रवाह इव वाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥९०॥

पुनर्दिनैककलना शर्वरी संस्थितिः पुनः।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥९१॥

पुनरालिङ्ग्यते कान्ता पुनरेव च भुज्यते।
सेयं शिशुजनक्रीडा लज्जायै महतामिह ॥९२॥

तमेवभुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः।
दिवसे दिवसे कुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥९३॥

अञ्जलि से जैसे जल क्षण भर में चला जाता है वैसे ही यह जीवन क्षणभर में गल जाता है। नदी के प्रवाह के सदृश वह गई आयु फिर लौट कर नहीं आती।

पुनः दिन की एकमात्र कल्पना, पुनः रात्रि की स्थिति, फिर वे ही स्नान, भोजन, शयन आदि कार्य, अभिनव कुछ भी कर्म या सुख नहीं है। इसलिए उनमें लम्पटता महापुरुषों की लज्जा के लिए ही है न कि संतोष के लिए। पुनः कान्ता का आलिंगन किया जाता है, पुनः उपभोग किया जाता है, यहाँ पर यह बालकों की क्रीड़ा महान् पुरुषों की लज्जा के लिए ही है। एक बार भोग करके विरसता को प्राप्त व्यापारों को प्रतिदिन पुनः पुनः कर रहा प्राज्ञ पुरुष क्यों नहीं लज्जित होता ! ॥९०–९३॥

पुनर्दिनं पुनः रात्रिः पुनः कार्यपरम्परा।
पुनः पुनरहं मन्ये प्राज्ञस्येयं विडम्बना ॥९४॥

ऊर्मितां पुनरासाद्य पुनरेति निरूर्मिताम्।
यथा जलं तथैवाऽयं तां तामेति क्रियां जनः ॥९५॥

उन्मत्तचेष्टिताकारा पुनः पुनरियं क्रिया।
जनं हासयते प्राज्ञं बाललीलोपमा मुहुः ॥९६॥

अनन्तेयं शिशुक्रीडा वस्तुशून्येव वस्तुतः।
आवृत्त्या क्रियते व्यर्थमनर्थप्रसरार्थिभिः ॥९७॥

फिर दिन, फिर रात्रि, फिर कार्य परम्पराएँ, प्राज्ञ पुरुष की दृश्य यह विडम्बना पुनः-पुनः किए गए कर्म के अनुकरण के समान उपहास की हेतु है, ऐसा मैं मानता हूँ।

जैसे जल फिर तरंगरूपता को प्राप्त कर फिर निस्तरङ्ग हो जाता है वैसे ही यह जन उस-उस क्रिया को प्राप्त करता है यानी व्यर्थ ही उन पूर्वकृत क्रियाओं का अनुकरण करता है।

उन्मत्त की चेष्टा की तरह यह पुनः-पुनः की जाने वाली क्रिया, जो बाललीला की तरह है, प्राज्ञपुरुष को बार-बार हँसाती है यानी उसे देखकर प्राज्ञपुरुष बार-बार हँसता है। वस्तुतः वस्तुशून्य ही यह अनन्त शिशु-क्रीड़ा दुःखपरम्परा चाहनेवाले पुरुषों द्वारा ही बार-बार की जाती है ॥९४–९७॥

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥९८॥

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥९९॥

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥१००॥

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥१०१॥

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्त विघातकम् ॥१०२॥

जो लोग विषयचिन्तन में लगे रहते हैं उनकी इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं तथा मन को भी उन्हीं की ओर खींच ले जाती हैं। फिर तो, जैसे जलाशय के तीर पर उगे हुए कुशादिक अपनी जड़ों से उसका जल खींचते रहते हैं उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन बुद्धि की विचार-शक्ति को क्रमशः हर लेता है। विचार-शक्ति के नष्ट हो जाने पर पूर्वापर की स्मृति जाती रहती है, स्मृति का नाश हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता। इस ज्ञान के नाश को ही पण्डितजन 'अपने आप अपना नाश करना' कहते हैं। जिसके उद्देश्य से अन्य सब पदार्थों में प्रियता का बोध होता है— उस आत्मा का अपने द्वारा ही नाश होने से जो स्वार्थ-हानि होती है, उससे बढ़कर लोक में जीव की कोई हानि नहीं है। धन और इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करना मनुष्य के समस्त पुरुषार्थों का नाश करने वाला है, क्योंकि इनकी चिन्ता से वह ज्ञान और विज्ञान से भ्रष्ट होकर वृक्ष आदि स्थावर योनियों में जन्म पाता है। इसलिए जिसे अज्ञानान्धकार से पार होने की इच्छा हो, उस पुरुष को विषयों में आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में बड़ी बाधक है ॥९८-१०२॥

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥१०३॥

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभाद् वितृप्तकामः।

औपस्थ्यजैह्व्यं बहुमन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ।।१०४।।

यतो न क्वचित् क्व च कुत्रचित् वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ।।१०६।।

स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महताभुवि ।
लब्धापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ।।१०६।।

जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, ऐसा कौन-सा पुरुष होगा, जो घर-गृहस्थी में आसक्त तथा कुटुम्ब के दृढ़ स्नेह-पाश में बँधे हुए अपने आपको छुड़ाने का साहस कर सके।

जो जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के सुखों को ही सर्वस्व मान बैठा है, जिसकी भोग-वासनाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं, जो लोभवश कर्म पर कर्म करता हुआ रेशम के कीड़े की तरह अपने को और भी कड़े बंधन में जकड़ता जा रहा है और जिसके मोह की सचमुच कोई सीमा नहीं है—वह उनसे किस प्रकार विरक्त हो सकता है ? और कैसे उनका त्याग कर सकता है ? जो कामिनियों के मनोरंजन का सामान यानी उनका क्रीडा-मृग बन रहा है और जिसने अपने पैरों में सन्तान की बेड़ी जकड़ ली है, वह दीनहीन पुरुष कोई भी कहीं भी हो, किसी प्रकार से अपना उद्धार नहीं कर सकता। जो पुरुष बड़ी कठिनाई से भूलोक में मोक्ष का साधनभूत मनुष्यशरीर पाकर भी विषयों में आसक्त रहता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है; हाय ! हाय !! वह ठग गया ।।१०३–१०६।।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ।।१०७।।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ।।१०८।।

यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम् ।।१०९।।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ।।११०।।

विषयों के सत्य न होने पर भी जो जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता; जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती।

स्वप्नावस्था में और मनोरथ करते समय जाग्रत् अवस्था में भी मनुष्य मन ही मन अनेकों प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, परन्तु उसकी वह सारी कल्पना वस्तुशून्य होने के कारण व्यर्थ है। वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा होने वाली भेद-बुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नानावस्तुविषयक होने के कारण पूर्ववत् असत्य ही है।

जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थ के न रहने पर भी स्वप्न में भोक्ता भोग्य और भोगरूप फलों का अनुभव करता है उसी प्रकार अज्ञानीलोग झूठ-मूठ संसार-चक्र का अनुभव करते हैं।

इस जगत् में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है, सपने की तरह मन का विलास है, इसलिए मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो ।।१०७–११०।।

> किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।
> यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ।।१११।।
> जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
> उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ।।११२।।
> देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
> आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ।।११३।।

जगत् के सभी जीव जिस माया से मोहित होकर शास्त्र और आचार्यों के बार-बार समझाने पर भी अपने आत्मा को निरन्तर भूले हुए हैं। वास्तव में उस माया की ऐसी ही शक्ति है। भला, उससे मोहितचित्त होकर जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते हैं।

इस संसार में जीव अज्ञानवश शरीर में आत्मबुद्धि करके भाँति-भाँति की कामना और उसकी पूर्ति के लिए नाना प्रकार के कर्म करता हुआ, उसके फलस्वरूप देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियों में भटकता

फिरता है, अपनी असली गति को यानी अपने आत्मस्वरूप को नहीं पहचान पाता।

यह शरीर आदि और अंतवाला है। पंचभूत, पंचप्राण, तन्मात्रा और त्रिगुण ही इसका स्वरूप है। आत्मा में उसके अज्ञान से ही इसकी कल्पना हुई है और वह कल्पित शरीर ही, जो उसे 'मैं' समझता है, उसको जन्म-मृत्यु के चक्कर में ले जाता है ॥१११-११३॥

एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥११४॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥११५॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥११६॥

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ॥११७॥

यद्यपि यह मनुष्य शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परमार्थ की—सत्यवस्तु की प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि यह बात जानकर मृत्यु होने के पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर से सर्वदा के लिए छूट जाय—मुक्त हो जाय।

यह शरीर एक वृक्ष है इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है। इसे यमराज के दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्ष को छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव इस शरीर को छोड़कर मोक्ष का भागी बन जाता है। परन्तु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है। ये दिन और रात क्षण-क्षण में शरीर की आयु को क्षीण कर रहे हैं यह जानकर जो भय से काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर उसके जीवन-मरण से सर्वथा निरपेक्ष होकर अपने आत्मा में ही शान्त हो जाता है।

यह मनुष्य-योनि ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत है, जो इसे पाकर भी अपने आत्मस्वरूप परमात्मा को नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनि में कभी शान्ति नहीं मिल सकती ॥११४-११७॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्माऽऽत्मना न चेद् त्रातस्तदुपायोऽस्तिनेतरः॥११८॥
तरतारुण्यमस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः ।
ननु संसारनाम्नोऽस्माद् बुद्धया नावा विशुद्धया॥११९॥
अत्रैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपिभाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥१२०॥

निःसंदेह जीव आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना रिपु है। यदि अपने से अपनी रक्षा न की गई, तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा उपाय नहीं है। जब तक आपकी यह तरुणाई है तभी तक विशुद्ध बुद्धिरूपी नाव से इस संसार नामक सागर के उस पार चले जायँ। जो कल्याण है उसे आज ही कर डालें। वृद्ध होकर क्या करेंगे? बुढ़ापे में आने पर अपने अङ्ग भी भारभूत हो जाते हैं यानी अपने अङ्ग भी नहीं सँभाले जाते। ॥११८–१२०॥

शैशवं वार्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च ।
तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥१२१॥
संसारमिममासाद्य विद्युत्संपातचञ्चलम् ।
सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात् सारमुद्धरेत् ॥१२२॥
अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैषां भविष्यति ।
कुर्वन्ति कर्दमोन्मग्ने नाऽऽत्मन्यपि निजोदयम् ॥१२३॥

शैशव यानी बाल्यावस्था और वृद्धता को पशुता की भाँति ज्ञान की असाधक और मृत्युरूप ही समझें। यदि विवेक-सम्पन्न हो तो यौवन ही जीवन है और यदि यौवन अविवेकपूर्ण रहा तो वह पशुता से भी गया बीता है। बिजली के कौंधने के समान चंचल इस संसार को पाकर सत्-शास्त्रों के अभ्यास और सज्जन-संगति द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिए। ओह! खेद है, मनुष्यों की निष्ठुरता का कोई ठिकाना नहीं है। जो स्वयं कीचड़ में गले तक मग्न होने पर भी शास्त्र-प्रतिपादित उपायों से अपने उद्धार का उपाय नहीं करते; उन बेचारों की कौन-सी गति होगी? ॥१२१–१२३॥

संसार कूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधोश्वरः ॥१२४॥

कस्तां स्वनादत्यपरानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ।
पश्यञ्जनं पतित वैतरण्यां
स्वकर्मजान् परितापाञ्जुषाणाम् ॥१२५॥

यह जीव संसाररूपी कुएं में गिरा हुआ है, विषयों ने इसे अन्धा बना दिया है, कालरूपी अजगर ने इसे अपने मुँह में दबा रक्खा है। अब भगवान् को छोड़कर इसकी रक्षा करने में कौन समर्थ है? पशुओं की बात तो अलग है, परन्तु मनुष्यों में भला ऐसा कौन है, जो लोगों को संसाररूप वैतरणी नदी में गिरकर अपने कर्मजन्य दुःखों को भोगते हुए देखकर परमात्मा का मंगलमय चिन्तन नहीं करेगा, इन असत् विषयभोगों में ही अपने चित्त को भटकने देगा? ॥१२४-१२५॥

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥१२६॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१२७॥

संसार में जिस पुरुष के कर्म से न तो धर्म का सम्पादन होता है, न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान् की सेवा ही सम्पन्न होती है, वह पुरुष जीते ही मुर्दे के समान है। गृहस्थ पुरुष कुटुम्ब में आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होने पर भी भजन में प्रमाद न करे। बुद्धिमान् पुरुष को यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि जैसे इस लोक की सभी वस्तुएं नाशवान् हैं वैसे ही स्वर्गादि परलोक के भोग भी नाशवान् ही हैं ॥ १२६-१२७॥

अवश्यमेव मर्तव्यं सर्वैरेव हि बन्धुभिः ।
इति बन्धुवियोगेषु किं वृथा परितप्यसे ॥१२८॥

अवश्यमेव च मया मर्तव्यमिति निश्चयः ।
इत्यात्ममरणप्राप्तौ किं मुधा परितप्यसे ॥१२९॥

अवश्यमेव जातेन किञ्चित्सुविभवादिकम् ।
प्राप्तव्यं पुरुषेणेति हर्षस्यावसरो हि कः ॥३०॥

चूँकि सभी बन्धुजनों को तो अवश्य ही मरना है, इसलिए उन बन्धुजनों का वियोग होने पर निरर्थक क्यों संतप्त होते हो?

हमें भी अवश्य ही मरना है, यह अटल निश्चय है। इसलिए मरण का समय उपस्थित होने पर क्यों व्यर्थ खिन्न होते हो?

उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ न कुछ उत्तम वैभव आदि अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसलिए हर्ष का अवसर ही क्या? ॥१२८–१३०॥

सर्वस्यैव हि संसारे नरस्य व्यवहारिणः।
अर्थायाता भवत्यापच्छोकस्याऽवसरो हि कः ॥१३१॥

बृंहत्युदेति स्फुरति बुद्बुदौघ इवाऽर्णवे।
इदं हि जगती जालं किमत्र परिदेवना ॥१३२॥

सत्सदेव सदैवैतदसदेवाऽसदेव हि।
क्रियावैचित्र्यमात्रे तु किमन्यत् परिदेव्यते ॥१३३॥

इस संसार में व्यवहार कर रहे सभी मनुष्यों को दरिद्रता आदि आपदाएँ आनुषङ्गिक रूप से प्राप्त हुआ ही करती हैं, फिर शोक का अवसर क्या? यह जगत् समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक क्या? जो त्रिकालाबाधित सत्य वस्तु है, वह सदा ही सत्यस्वरूप है और जो असत्य वस्तु है, वह सदा ही असत्स्वरूप है, वह कभी भी सद्रूपता को प्राप्त नहीं होती। इसलिए मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपंच में ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय? ॥१३१-१३३॥

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥१३४॥

अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नेवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥१३५॥

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥१३६॥

जिज्ञासु पुरुष अपने स्त्री, पुत्र, घर, खेत, स्वजन और धन आदि पदार्थों में एक सम आत्मा को देखे और किसी में कुछ विशेषता का आरोप करके उससे ममता न करे, उदासीन रहे।

विद्वान् पुरुष इस शरीर को अविद्या, वासना और कर्मों का ही पुतला समझ कर इसमें आसक्त नहीं होता। इस प्रकार जो इस शरीर में आसक्त

नहीं है वह विवेकी पुरुष इससे उत्पन्न हुए घर, पुत्र और धन आदि में किस प्रकार ममता रख सकता है ? ॥१३४–१३६॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥१३७॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥१३८॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥१३९॥

इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थी में फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्त होकर निवास करे, मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदि में अहंकार और गृह आदि में ममता नहीं करता उसे घर-गृहस्थी के फंदे बाँध नहीं सकते। जो लोग इस प्रकार गृहस्थ जीवन न बिताकर गृहस्थी में ही आसक्त हो जाते हैं, स्त्री, पुत्र, और धन की कामनाओं में फँसकर हाय-हाय करते रहते हैं और मूढ़तावश स्त्री-लम्पट और कृपण होकर मैं-मेरे के फेर में पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं। वे सोचते हैं कि हाय ! हाय !! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गए, पत्नी के बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहने पर ये दीन, अनाथ और दुःखी हो जाएँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा ? ॥१३७–१३९॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तः हृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतो अन्धं विशते तमः ॥१४०॥

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माऽजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥१४१॥

इस प्रकार घर-गृहस्थी की वासना से जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़बुद्धि पुरुष विषय-भोगों से कभी तृप्त नहीं होता, उन्हीं में उलझकर अपना जीवन खो बैठता है और मर कर घोर तमोमय नरक में जाता है। इस तरह जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियों को न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब-पोषण में ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनों के बीच अत्यन्त वेदना से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥१४०–१४१॥

ततो यतेत कुशलः क्षेमायभयमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥१४२॥

अतः जरा, मृत्यु, व्याधि आदि अनेक प्रकार के भय सवार होने के कारण बुद्धिमान् पुरुष को तभी तक कल्याण प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए, जब तक कि भगवत्प्राप्ति के लिए पर्याप्त यह शरीर रोग-शोकादि से ग्रस्त होकर मृत्यु के मुख में नहीं चला जाता ॥१४२॥

रक्तमूत्रपुरीषाभ्यां दोषाणां संचयांस्तथा ।
शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥१४३॥

वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च ।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥१४४॥

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा ।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥१४५॥

यह शरीर क्या है, बहुत-से रोगों का भंडार। इसमें रक्त, मल, मूत्र तथा और भी अनेक दोषों का संचय हुआ है, जो इस बात को देखता है और समझता भी है, वह मुक्त हो जाता है।

बुढ़ापा आने पर इस शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिर के बाल सफेद हो जाते हैं। देह दुबली-पतली एवं कान्तिहीन हो जाती है तथा कमर झुक जाने के कारण मनुष्य कुबड़ा-सा हो जाता है—इन सब बातों की ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है।

समय आने पर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखों से दिखाई नहीं देता, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है—इन सब बातों को जो सदा देखता एवं विचार करता रहता है, वह इस संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है ॥१४३–१४५॥

मृत्युनाभ्याहतं लोकं व्याधिभिश्चोपपीडितम् ।
अवृत्तिकर्शितं चैव यः पश्यति स मुच्यते ॥१४६॥

प्रस्थं वाह सहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु ।
प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते ॥१४७॥

आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः ।
यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः ॥१४८॥

जो इस जगत् को रोगों से पीड़ित, जीविका के अभाव से दुर्बल और मृत्यु के आघात से नष्ट हुआ देखता है, वह मुक्त हो जाता है।

जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्न में से केवल एक प्रस्थ (पेट भरने योग्य) को ही अपने जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त समझता है उससे अधिक का संग्रह करना नहीं चाहता तथा बड़े से बड़े महल में माँच विछाने भर की जगह को ही अपने लिए पर्याप्त समझता है, वह मुक्त हो जाता है।

जो सदा योगयुक्त रहकर स्त्रियों के प्रति अपने भाव (अनुराग या आसक्ति) को निवृत्ति हुआ ही देखता है अर्थात् जिसकी स्त्रियों के प्रति भोग्य बुद्धि नहीं होती, वही वास्तव में मुक्त है ॥१४६-१४८॥

गतानृषींस्तथा देवानसुरांश्च तथा गतान् ।
लोकादस्मात् परं लोकं यः पश्यति स मुच्यते ॥१४९॥

प्रभावै रन्वितास्तैस्तैः पार्थिवेन्द्रा सहस्रशः ।
ये गताः पृथिवीं त्यक्त्वा इति ज्ञात्वा विमुच्यते॥१५०॥

अर्थांश्च दुर्लभाँल्लोके क्लेशांश्च सुलभांस्तथा ।
दुःखं चैव कुटुम्बार्थं यः पश्यति स मुच्यते ॥१५१॥

अपत्यानां च वैगुण्यं जनं विगुणमेव च ।
पश्यन् भूयिष्ठशो लोके को मोक्षं नाभिपूजयेत्॥१५२॥

कितने ही ऋषि, देवता तथा असुर इस लोक से परलोक को चले गए। जो सदा यह देखता और स्मरण रखता है, वह मुक्त हो जाता है।

सहस्रों प्रभावशाली नरेश इस पृथ्वी को छोड़कर काल के गाल में चले गए। इस बात को जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। संसार में धन दुर्लभ है और क्लेश सुलभ। कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए भी जहाँ बहुत दुःख उठाना पड़ता है, यह सब जिसकी दृष्टि में है, वह मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, इस जगत् में अपनी संतानों की गुणहीनता का दुःख भी देखना पड़ता है। विपरीत गुण वाले मनुष्यों से भी सम्बन्ध हो जाता है,

इस प्रकार जो यहाँ अधिकांश कष्ट ही देखता है, ऐसा कौन मनुष्य मोक्ष का आदर नहीं करेगा ? ॥१४६–१५२॥

असारेऽस्मिश्च संसारे मूढा मज्जन्ति पामराः।
पण्डिताः सन्तरन्तीह तस्मान्नेच्छन्ति संसृतिम्॥१५३॥

इस असार संसार में मूढ़ पामर मनुष्य निमग्न होते हैं और पण्डित जन इसी शरीर से इसे पार कर जाते हैं, इस कारण वे जन्म-मृत्यु रूप संसार को नहीं चाहते ॥१५३॥

वैराग्यार्थ सांसारिक पदार्थों की अनित्यता
तथा
दुःखरूपता का वर्णन एवं वैराग्य की विशिष्टता का प्रतिपादन

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१॥

नष्टं धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्य पदमाव्रजेत् ॥२॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये शुभास्तान न चिन्तयेत्।
ताननाद्रियमाणस्य शोकबन्धः प्रणश्यति ॥३॥

सम्प्रयोगादनिष्टस्य विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मानुषा मानसैर्दुःखैः संयुज्यन्तेऽल्पबुद्धयः ॥४॥

शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान हैं, वे मूर्ख मनुष्य पर ही प्रतिदिन प्रभाव डालते है, विद्वान् पर नहीं।

धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाए, तो 'अहो ! मुझ पर बड़ा भारी दुःख आ गया है।'—ऐसा सोचता हुआ मनुष्य शोक के आश्रय में आ जाता है। किसी भी द्रव्य के नष्ट हो जाने पर जो उसके शुभ गुण हैं, उनका चिन्तन न करे। उन गुणों का आदर न करने वाले पुरुष के शोक का बन्धन नष्ट हो जाता है। अप्रिय वस्तु का संयोग और प्रिय वस्तु का वियोग प्राप्त होने पर अल्पबुद्धि मनुष्य मानसिक दुःखों से संयुक्त हो जाते हैं ॥१-४॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥५॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥६॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
संतापेन च युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥७॥

उत्पन्नमिह मानुष्ये गर्भप्रभृति मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥८॥

तयोरेकतरोमार्गो यद्येनमभिसंनमेत् ।
सुखं प्राप्य न संहृष्येन्न दुखं प्राप्य संज्वरेत् ॥९॥

जो बीती बात के लिए शोक करता है, उसे न तो अर्थ की प्राप्ति होती है, न धर्म की और न यश की ही प्राप्ति होती है । वह उसके अभाव का अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है, उससे अभाव दूर नहीं होता ।

सभी प्राणियों को उत्तम पदार्थों से संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं । किसी एक पर ही यह शोक का अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ।

जो मरे हुए पुरुष या खोई हुई वस्तु के लिए शोक करता है, वह केवल संताप का भागी होता है, उसका वह दुःख मिटता नहीं ।

मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए मानव के पास गर्भावस्था से ही नाना प्रकार के दुःख और सुख आते रहते हैं, उनमें से कोई एक मार्ग यदि इसे प्राप्त हो, तो यह मनुष्य सुख पाकर हर्ष न करे और दुःख पाकर चिन्तित न हो ॥५–९॥

दोषदर्शी भवेत्तत्र यत्र स्नेहः प्रवर्तते ।
अनिष्टेनान्वितं पश्येद् यथाक्षिप्रं विरज्यते ॥१०॥

पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसंगमः ।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः ॥११॥

कुटुम्बं पुत्रदाराश्च शरीरं धनसंचयः ।
ऐश्वर्यं स्वस्थता चेति न मुह्येत् तत्र पण्डितः ॥१२॥

सुखमेकान्ततो नास्ति शक्रस्यापि त्रिविष्टपे।
तत्रापि सुमद्‌दुःखं सुखमप्यल्पतरं भवेत् ॥१३॥
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥१४॥

जहाँ आसक्ति हो रही हो, वहाँ दोष देखना चाहिए। उस वस्तु को अनिष्ट की दृष्टि से देखे, जिससे उसकी ओर से शीघ्र ही वैराग्य हो जाए।

पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु-बान्धवों का संयोग प्याऊ पर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदी-प्रवाह से इकट्ठी हुई लकड़ियों के समान चंचल है। कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, शरीर, धनसंचय, ऐश्वर्य और स्वस्थता—इनके प्रति विद्वान् पुरुष को आसक्त नहीं होना चाहिए।

स्वर्ग में रहने वाले देवराज इन्द्र को भी केवल सुख ही सुख नहीं मिलता। वहाँ भी दुःख अधिक और सुख बहुत कम है।

किसी को भी न तो सदा दुःख मिलता है और न सदा सुख ही मिलता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता रहता है।
॥१०-१४॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम् ॥१५॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥१६॥
यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥१७॥
अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥१८॥

जहाँ सुख का नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव शरीर को पाकर जो विषयों में आसक्त होता है, वह मोह को प्राप्त होता है।

संसार में कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है, सब नाशवान् है। इसमें आप का क्या है, केवल पाप और पुण्य।

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँ से विवश होकर चल देना है, तब

इस अनर्थमय जगत् में क्यों आसक्त हो रहे हो ? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्ष का साधन क्यों नहीं करते ?

मृत्यु के बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद श्मशानभूमि तक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुष के शरीर को चिता की आग में डालकर लौट आते हैं ॥१५–१८॥

न मातृपितृबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः ।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥१९॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठ समं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२१॥

न बान्धवा न च वित्तं न कौल्यं
न च श्रुतं न च मन्त्रा न वीर्यम् ।
दुःखात् त्रातुं सर्व एवोत्सहन्ते
परत्र शीलेन तु यान्ति शान्तिम् ॥२२॥

जब जीव अकेला ही परलोक के पथ पर प्रस्थान करता है, उस संकट के समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रिय जन भी उसके साथ नहीं जाते ।

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है एवं वह अपने पाप-पुण्य भी अकेला ही भोगता है । उसके मृत शरीर को मिट्टी काष्ठ के समान छोड़कर उसके सभी बान्धव वापस लौटे आते हैं, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है । बन्धु-बान्धव, धन, उत्तम कुल, शास्त्राध्ययन, मंत्र तथा पराक्रम—ये सब के सब मिलकर भी किसी को दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकते । परलोक में मनुष्य अपने उत्तम स्वभाव के कारण ही शान्ति पाते हैं ॥१९–२२॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥२३॥

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी ।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ॥२४॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।।२५।।
सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम्।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन् सदा स्थावरजङ्गमम् ।।२६।।

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनों का सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुष को इनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। दिन का अन्त है सूर्यास्त और रात्रि का अन्त है सूर्योदय। सुख का अन्त सदा दुःख है और दुःख का अन्त सदा सुख है। समस्त संग्रह का अंत है विनाश, उत्थान का अन्त है पतन, संयोग का अन्त है वियोग और जीवन का अन्त है मृत्यु। जिन-जिन वस्तुओं का निर्माण हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है। इस जगत् में स्थावर या जंगम कोई भी सर्वदा रहने वाला नहीं है ।।२३-२६।।

उच्छ्रयान् विनिपातांश्च दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः स्वयम्।
अनित्यमसुखं चेति व्यवस्येत् सर्वमेव च ।।२७।।
इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये।
सर्वमेतद् विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ।।२८।।
श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ।।२९।।
नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ।।३०।।
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ।।३१।।

उत्थान और पतन को स्वयं ही प्रत्यक्ष देखकर यह निश्चय करे कि यहाँ का सब कुछ अनित्य एवं दुःखरूप है।

इष्ट (श्रौत-स्मार्तयज्ञ), दान, तप, शास्त्राध्ययन, व्रत एवं नियमादि—इन सबका अन्त है विनाश, परन्तु ज्ञान का अन्त नहीं है।

इस लोक में सब प्रकार के कल्याण-साधनों में ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ है। ज्ञाननौका पर चढ़ा हुआ पुरुष अनायास ही इस दुस्तर संसार-सागर को पार कर लेता है।

जिस प्रकार स्वप्न में होने वाला स्वप्नान्तर उस स्वप्न से सर्वथा छूटने का उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्मफल भोग से सर्वथा छूटने का उपाय कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और कर्मफलभोग—दोनों ही अविद्यायुक्त होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में अपने मनोमय लिंग शरीर से विचरने वाले प्राणी को स्वप्न के पदार्थ न होने पर भी भासते हैं, उसी प्रकार ये दृश्यपदार्थ वस्तुतः न होने पर भी, जब तक अज्ञाननिद्रा नहीं टूटती, बने ही रहते हैं और जीव को जन्म-मरण रूप संसार से मुक्ति नहीं मिलती। अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है अन्य नहीं।

॥२७ ३१॥

नाऽस्ति ज्ञानात्परं किञ्चित्पवित्रं पापनाशनम्।
तदभ्यासादृते नाऽस्ति संसारोच्छेदकारणम् ॥३२॥

साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत्।
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम् ॥३३॥

न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः।
तथोन्मोचयते दुःखाद् यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः ॥३४॥

नानामोहसमायुक्ता बुद्धिजालेनसंवृताः।
असूक्ष्मदृष्टयो मन्दा भ्राम्यते तत्र तत्र ह ॥३५॥

शास्त्रों में ज्ञान से श्रेष्ठ, पवित्र एवं पापनाशक साधन अन्य नहीं है। ज्ञानाभ्यास के बिना जन्म-मृत्युरूप संसार का समूलोच्छेद करने के लिए अन्य कोई कारण–हेतु नहीं है। इसलिए साधु पुरुष को चाहिए कि वह अपने मन को वश में करके ज्ञानरूपी महान् औषधि प्राप्त करे, जो परम दुर्लभ है तथा उससे अपने बड़े से बड़े दुःखों की चिकित्सा करे। उस ज्ञान-रूपी महौषधि से दुःखरूपी महान् व्याधि का नाश कर डाले। पराक्रम, धन, मित्र और सुहृद भी उस तरह दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकते, जैसा कि दृढ़तापूर्वक संयम में रहने वाला अपना मन दिला सकता है। जो मूढ़ नाना प्रकार के मोहात्मक विषयों में डूबे हुए हैं, जिन्हें बुद्धि के जाल ने बाँध रक्खा है और जिनकी दृष्टि स्थूल है, वे अपने शुभाशुभ कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में भटकते रहते हैं ॥३२–३५॥

पंचभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः।
अहमेतदितीत्युच्चै कुरुते कुमतिर्मतिम् ॥३६॥

आकाशवाय्वग्निजलपृथिवीः पृथक् स्थितैर्भिः ।
आत्मन्यात्ममयं भावं कः करोति कलेवरे ।।३७।।

कलेवरोपभोग्यं हि गृहक्षेत्रादिकं च यत् ।
अदेहे ह्यात्मनि प्राज्ञो ममेदमितिमन्यते ।।३८।।

इत्थं च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पादितेषु च ।
करोति पण्डितः स्वाम्यमनात्मनि कलेवरे ।।३९।।

जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है तथा जो मोहरूपी अंधकार से आवृत हो रहा है, वह देहाभिमानी जीव इस पांचभौतिक शरीर में "मैं" और 'मेरेपन' की दृढ़भावना कर लेता है; परन्तु जब आत्मा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि से सर्वथा पृथक् है, तो कौन बुद्धिमान् पुरुष शरीर में आत्मबुद्धि करेगा ? जब आत्मा देह से परे है तो देह के उपभोग में आने वाले गृह और क्षेत्र आदि को कौन बुद्धिमान् पुरुष 'यह मेरा है' ऐसा कह कर अपना मान सकता है ? इस प्रकार इस शरीर के अनात्मा होने से इसके द्वारा उत्पन्न किए हुए पुत्र, पौत्र आदि में भी कौन विद्वान् अपनापन करेगा ? ।।३६–३९।।

सर्वदेहोपभोगाय कुरुते कर्म मानवः ।
देहं चान्यद्यदा पुंसस्सदा बंधाय तत्परम् ।।४०।।

मृण्मयं हि यथा गेहं लिप्यते वै मृदंभसा ।
पार्थिवो यं तथा देहो मृदंभलोपनस्थितिः ।।४१।।

पंचभागोत्मकैर्भोगैः पंचभोगात्मकं वपुः ।
आप्यायते यदि ततः पुंसो गर्वोत्र किं कृतः ।।४२।।

अनेकजन्मसाहस्रं संसारपदवीं व्रजन् ।
मोहाश्रमं प्रयातोसौ वासनारेणु गुंठितः ।।४३।।

मनुष्य सारे कर्म शरीर के उपभोग के लिए ही करता है; किन्तु जब यह देह पुरुष से भिन्न है तो वे कर्म केवल बंधन के ही कारण होते हैं ।

जैसे मिट्टी के घर को मनुष्य मिट्टी और जल से लीपते-पोतते हैं, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर भी अन्न और जल की सहायता से ही स्थिर रहता है । यदि पंचभूतों का बना हुआ यह शरीर पाचभौतिक पदार्थों से ही पुष्ट होता है तो इसमें पुरुष के लिए कौन-सी गर्व करने की बात है ?

यह जीव अनेक सहस्र जन्मों से संसाररूपी मार्ग पर चल रहा है और वासनारूपी धूल से आच्छादित होकर केवल मोहरूपी श्रम को प्राप्त होता है। ॥४०-४३॥

प्रक्षाल्यते यदा सौम्य रेणुर्ज्ञानोष्णवारिणा।
तदा संसारपांथस्य याति मोहाश्रमः शमम् ॥४४॥

मोहाश्रमे शमं याते स्वच्छान्तःकरणं पुमान्।
अनन्यातिशयाधारः परं निर्वाणमृच्छति ॥४५॥

जिस समय ज्ञानरूपी गर्म जल से इसकी यह वासनारूपी धूल धो दी जाती है उसी समय इस संसारमार्ग के पथिक का मोहरूपी श्रम शान्त हो जाता है। उस मोहरूपी श्रम के शान्त होने पर पुरुष का अन्तःकरण निर्मल होता है और वह निरतिशय परम निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। ॥४४-४५॥

विचारवता पुरुषेण सकलमिदमाधिपञ्जरं सर्पेण
त्वचमिव परिपक्वां संत्यज्य विगतज्वरेण-
शीतलान्तःकरणेन विनोदादिन्द्रजालमिव
जगदाखिलमालोक्यते सम्यग्दर्शनवता
असम्यग्दर्शनवतो हि परं दुःखमिदम् ॥४६॥

जैसे साँप अपनी जीर्ण त्वचा का त्याग कर सन्तापरहित और शान्त हो जाता है वैसे ही विचारवान् पुरुष मानसिक व्यथाओं की पेटी के समान इस सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर सन्तापरहित और शान्तहृदय हो जाता है। सम्यग्दर्शनवान् पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् को विनोद से इन्द्रजाल की नाईं देखता है। जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है उसी के लिए यह जगत् दुःख दायी है ॥४६॥

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति
असिरिव छिनत्ति कुन्त इव वेधयति रज्जुरिवा-
ऽऽवेष्टयति पावक इव दहति रात्रिरिवाऽन्धयति
अशङ्कित परिपतित पुरुषान् पाषाण इव विवशी-
करोति हरति प्रज्ञां नाशयति स्थितिं पातयति
मोहान्धकूपे तृष्णा जर्जरीकरोति न तदस्ति
किञ्चिद् दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति ॥४७॥

यह संसारानुराग अत्यन्त विषम—क्लेशदायक है। यह अनर्थ की आशंका किए बिना ही मोहवश विषयों में फँसे हुए पुरुषों को साँप के समान डँस लेता है, तलवार की भाँति काट डालता है, भाले के समान बेध देता है, रस्सी की तरह आवेष्टित कर लेता है, अग्नि के सदृश जला देता है, रात्रि की तरह अन्धा बना देता है, सिर पर गिरे हुए पत्थर के समान मूर्च्छित कर देता है, विचार-शक्ति को हर लेता है, मर्यादा का विनाश कर देता है और मोहरूपी अंधकूप में गिरा देता है। इस संसार में तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर डालती है। अधिक क्या कहें, ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी पुरुष को प्राप्त न हो ॥४७॥

दुरन्तेयं किल विषयविषूचिका यदि न चिकित्स्यते।
तन्नितरां नरकनगरनिकरफलानुबन्धिनी तत्तत्करोति ॥४८॥

यत्र शिलाशिताऽसिशातः पात उपलताडनमग्निदाहो
हिमावसेकोऽङ्गावकर्त्तनं चन्दनचर्चा तरुवनानि
घुणवृत्तान्तः परिवेषोऽङ्गपरिमार्जनमनवरतानल—
विचलितसमरनाराचनिपातो निदाघविनोदनं
धारागृहसीकरवर्षणं शिरच्छेदः सुखनिद्रा
मूकीकरणमाननमुद्राबान्धुर्यं महानुपचयः ॥४९॥

तदेवंविधकष्टचेष्टा सहस्र दारुणे संसारचलयन्त्रे—
ऽस्मिन् नाऽवहेलना कर्त्तव्या अवश्यमेवं
विचारणीयमेवं चाऽवबोद्धव्यं यथा किल
शास्त्रविचाराच्छ्रेयो भवतीति ॥५०॥

यह विषय-भोगरूपिणी विषूचिका दुष्परिणामवाली है। यह नरक नगररूप शरीर समुदाय के साथ अनुराग उत्पन्न करने वाली है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाए, तो यह अवश्य ही उन-उन हजारों नारकीय गतियों को प्रदान करती है, जहाँ नरकों में पाषाण-भक्षण, खड्ग द्वारा अंगों का छेदन, पर्वतशिखर से निपातन, पत्थर द्वारा उत्पीडन और अग्निदाह को हिमाभिषेक की भाँति, अँगों के कुतरने को चन्दन-लेपन की तरह, असिपत्रवाले वृक्षों के वन में दौड़ने, कीड़ों द्वारा शरीर में छिद्र किये जाने और लोहे की गर्म जंजीरों द्वारा देह के लपेटने को शरीर-संस्कार के समान, युद्ध में काम आने वाले अग्निबुझे बाणों की धारावाहिक

वृष्टि को ग्रीष्मऋतु में विनोद के लिए किए गए जलयन्त्रों के फुव्वारों की बूँद-वर्षा के सदृश, सिर के काटे जाने को सुखनिद्रा के तुल्य, मुख बन्द करके बलपूर्वक किए गए मूकीभाव को स्वाभाविक मुख-मुद्रा के समान और अंगों की छोटाई-बड़ाई से उत्पन्न अकिंचित्करता को महती सम्पत्ति-वृद्धि के समान सहना पड़ता है।

इस प्रकार सहस्रों कष्ट-प्रद चेष्टाओं से परिपूर्ण इस दारुण संसार-चक्र में अवहेलना नहीं करनी चाहिए कि शास्त्र के विचार से कल्याण होता है। ॥४८–५०॥

विवेकं परमाश्रित्य वैराग्याभ्यासयोगतः।
संसारसरितं घोरामिमामापदमुत्तरेत् ॥५१॥

न स्वप्तव्यं च संसारमायास्विह विजानता।
विषमूर्च्छनसंमोहदायिनीषु विवेकिना ॥५२॥

संसारमिममासाद्य यस्तिष्ठत्यवहेलया।
ज्वलितस्य गृहस्योच्चैः शेते तार्णस्य संस्तरे ॥५३॥

अतः उत्तम विवेक का आश्रय लेकर अभ्यास और वैराग्य के सहयोग से दुःखस्वरूपिणी इस भयंकर संसार-नदी को पार करना चाहिए।

विष के सदृश तीव्र मूर्च्छा देने वाले इस मिथ्याभूत वञ्चनोपायों में नहीं सोना चाहिए। इस संसार को प्राप्त कर जो पुरुष अवहेलना से रहता है, वह जल रहे तृणमय घर के विस्तार में गहरी नींद सोता है ॥५१–५३॥

न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः।
शरणं भवभीतानां स्वप्रयत्नादृते नृणाम् ॥५४॥

ये दैवनिष्ठाः कृत्यादौ कुविकल्पपरायणाः।
तेषां मन्दा मतिस्तात नाऽनुगम्या विनाशनी ॥५५॥

विवेकं परमाश्रित्य विलोक्याऽऽत्मानमात्मना।
धिया विरागोद्धुरया संसारजलधिं तरेत् ॥५६॥

संसार से भयभीत हुए पुरुषों का अपने प्रयत्न को छोड़कर न तो भाग्य शरण है, न कर्म शरण है, न धन शरण है और न तो बन्धु-बान्धव ही शरण हैं। जो लोग प्रयत्न, विवेक, वैराग्य, विचार आदि उत्तम कार्यों में

भाग्य के अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विपरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दमति विनाश की ओर ले जाने वाली है अतः उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए। उत्तम विवेक का अवलम्बन कर अपने आत्मा का अपने ही द्वारा अनुभव कर, परम वैराग्य से पुष्ट हुई पवित्र एवं सूक्ष्म बुद्धिरूप नौका द्वारा संसार-सागर को पार करे ॥५४-५६॥

अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः।
संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥५७॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥५८॥

सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम्।
भावनां भावनाया तावत्तानवं नोपगच्छति ॥५९॥

आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवादृते।
नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चाऽपि कदाचन ॥६०॥

जो पुरुष आज ही मृत्युरूपी आपत्ति की चिकित्सा (प्रतीकार का उपाय) नहीं करता, वह मूढ़ मृत्यु के सिर पर सवार होने पर व्याकुलावस्था में क्या करेगा ?

जो पुरुष इसी लोक में नरकरूपी व्याधि के प्रतीकार का उपाय नहीं करता, वह औषधि रहित (जहाँ औषधि दुर्लभ है) स्थान में जाकर नरक-रूपी रोगों से छटपटाता हुआ क्या करेगा ?

जब तक सकल पदार्थों में वैराग्य नहीं प्राप्त होता, तब तक पदार्थों की वासना कम (निवृत्त) नहीं होती।

आत्मा का पूर्णरूप से उद्धार करने के लिए वासना की निवृत्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥५७-६०॥

भोगे रोगभयं कुलेच्युतिभयं वित्तेनृपालाद्भयं
मानेदैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणेखलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।६१।

भोग में रोग का भय, कुलीनता में च्युतिभय, अधिक धन में राजभय, मान में दीनता का भय, बल होने में शत्रु का भय, रूप में वृद्धा-

वस्था का भय, शास्त्र से मान बढ़ने पर शुष्कवाद करने वालों से भय, सद्गुणों में दुर्जनों का भय तथा शरीर में मृत्यु का भय है। इस प्रकार पृथ्वी पर मनुष्यों के लिए सभी वस्तुएँ भीति से युक्त हैं, केवल वैराग्य ही ऐसा है जिसमें भय का नाम ही नहीं। यानी वैराग्य ही केवल निर्भय तत्त्व है। अतः सांसारिक भोगों का त्याग कर एकमात्र वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिए ॥६१॥

पुण्यदेशेषु दृष्टेषु भयेषु मरणेषु च।
तथा रोगावमानेषु वैराग्यमुपजायते ॥६२॥

मरणादि दृष्टेषु स्वयमेव समाहितः।
बुद्ध्या विवेकमातिष्ठेन्नित्यं वैराग्यकारणम् ॥६३॥

वीभत्सं विषयं दृष्ट्वा को नाम न विरज्यते।
सतामुत्तमवैराग्यं विवेकादेव जायते ॥६४॥

ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम् ॥६५॥

तीर्थ आदि पुण्य स्थानों के दर्शन से अन्तःकरण के शुद्ध होने पर, भय के स्थानों में, मरण उपस्थित होने पर तथा रोग एवं अपमान के होने पर भी वैराग्य उत्पन्न होता है। मरणादि के दर्शन पर स्वयं ही समाहित बुद्धि के द्वारा जो विवेक प्राप्त होता है, वह सर्वदा ही वैराग्य की उत्पत्ति का कारण होता है।

वीभत्स (घृणाजनक) विषयों को देखकर किसको वैराग्य नहीं होता; किन्तु सत्पुरुषों का उत्तम वैराग्य विवेक से ही होता है। जिन्हें निमित्त के बिना ही संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है वे ही महापुरुष तथा महाविद्वान् हैं और उन्हीं का अन्तःकरण शुद्ध है ॥६१–६५॥

स्वविवेकचमत्कारपरामर्शविरक्तया।
राजते हि धिया जन्तुर्युवेव वरमालया ॥६६॥
परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम्।

वैराग्यं येऽधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥६७॥
स्वविवेकवशादेव विचार्येदं पुनः पुनः।
इन्द्रजालं परित्याज्यं सबाह्याभ्यन्तरं बलात् ॥६८॥

श्मशानमापदं दैन्यं दृष्ट्वा को न विरज्यते।
तद्वैराग्यं परं श्रेयः स्वतो यदभिजायते ॥६९॥

केवल अपने विवेक से उत्पन्न तत्त्वपदार्थ के प्रति अभिमुखता से अन्य विषयों से विरक्त बुद्धि से युक्त पुरुष वैसा शोभित होता है जैसा कि वरमाला से युवा पुरुष शोभित होता है।

विवेक से इस संसार-रचना की दुःखरूपता का विचार कर जो लोग वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम पुरुष हैं।

अपने विलक्षण विवेक से ही इन्द्रजालतुल्य प्रपञ्च का पुनः-पुनः विचार कर हठपूर्वक इस मायिक बाह्य जगत् के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या का परित्याग करना चाहिए।

श्मशानभूमि, आपत्तियों और दीनता को देखकर किसे वैराग्य नहीं होगा? परन्तु वही वैराग्य उत्तम श्रेय का साधन है, जो स्वतः विवेक से उत्पन्न होता है ॥६६–६९॥

अगाधमरणावर्तं कल्लोलाकुलकोटरे।
तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥७०॥

महाजडलवाधारे संसारविषमार्णवे।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥७१॥

अगाध एवं मरणरूप भँवरों के कल्लोलों से व्याकुल कोटरों से युक्त, तृष्णारूपी तरंगों से तरल, अपने मनरूपी झंझावातों से युक्त, स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जलकणों से व्याप्त, संसाररूपी बड़े विषम—भयंकर सागर को पार करने में, जो कि इन्द्रियरूप मगरों से अति गहन है, विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥७०–७१॥

विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम्।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ॥७२॥

या विवेकविकासिन्यो गतयो महतामिह।
न ता विपदि मज्जन्ति तुम्बकानीव वारिणि ॥७३॥

मानसे सरसि स्वच्छे विचारकमलोत्करः।
नूनं विकासितो यस्य हिमवानिव भाति सः ॥७४॥

बुद्धि विचार से सूक्ष्मतत्त्व के ग्रहण में निपुण होकर परम पद को देखती है। इसलिए विचार संसाररूपी महारोग की महौषधि है।

इस संसार में महापुरुषों की विवेक से विकसित जो मतियाँ हैं, वे जल में फेंकी गई तुम्बियों के समान विपत्ति में विषाद को प्राप्त नहीं होतीं। जिसके अति निर्मल मन रूपी तालाब में विचाररूपी कमल-राशि खिल जाती है, वह हिमालय की भाँति शोभा को प्राप्त होता है ॥७२-७४॥

विवेक उदिते शीते मिथ्याभ्रममरूदिता।
क्षीयते वासना साग्रे मृगतृष्णामराविव ॥७५॥

कोऽहं कथमिदञ्चेति यावन्न प्रविचारितम्।
संसाराडम्बरं तावदन्धकारोपमं स्थितम् ॥७६॥

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ॥७७॥

भ्रमरूपी मरुभूमि में उत्पन्न हुई मिथ्या संसारवासना शीतल विवेक का उदय होने पर चन्द्रमा के सहित प्रदोषकाल के आने पर मरुस्थल में उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की भाँति नष्ट हो जाती है।

'मैं कौन हूँ? ये शरीर आदि कैसे प्राप्त हैं?' यह जब तक विचार नहीं किया गया, तभी तक यह अन्धकार के तुल्य संसाराडम्बर स्थित है।

विवेकवान् महाशय विजितेन्द्रिय कहा जाता है। वह वासनारूपी तरंगों के वेग से संसार-सागर में क्लेश को प्राप्त नहीं होता ॥७५-७७॥

किञ्चित्प्रौढविचारं तु नरं वैराग्यपूर्वकम्।
संश्रयन्ति गुणाः शुद्धाः सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ॥७८॥

सम्यग् विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम्।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाऽविद्याविभवाभृशम् ॥७९॥

न विवेकलवंप्रौढं भङ्क्तुं शक्ता दुराशयाः।
कल्पक्षोभमहाघोरं शैलं मन्दानिल इव ॥८०॥

जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़ विचार कर लिया है, उस नररत्न को तो शम, दम आदि शुद्ध गुण उस प्रकार आश्रयण करते हैं, जिस प्रकार जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य आश्रयण करते हैं।

भलीभाँति आत्मविचार से युक्त तथा स्वरूपभूत परब्रह्म का अवलोकन करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे मेधावी विद्वान् को प्रचय और प्रकर्ष

से विख्यात भी हिरण्यगर्भपद आदि अविद्या का कार्यरूप वैभव लुब्ध नहीं करते।

जिस प्रकार अवान्तर कल्पों के क्षोभों में महान् धीर होकर रहने वाले मेरु आदि पर्वतों का उच्चाटन करने में मन्द पवन समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार प्रौढ़ताप्राप्त विवेक के लवमात्र का भी विनाश करने में दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ समर्थ नहीं होतीं ॥७८–८०॥

> इहामुत्र च भोगेषु विरक्तश्च तथा भवेत्।
> अविरक्तो भवेद्यस्तु स संसारे प्रवर्तते ॥८१॥
>
> अनित्येषु पदार्थेषु यस्तु रागी भवेन्नरः।
> तस्य संसारविच्छित्तिः कदाचिन्नेव जायते ॥८२॥
>
> विषयेषु रतिर्यावित्स्थिता संमोहकारिणी।
> तावद् भवदशादोला विलोलान्दोलनस्थितिः ॥८३॥

अतः इह लोक एवं परलोक के दुःखस्वरूप भोगों की क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता को देखकर विरक्त हो जाना चाहिए। जो विषयों से दोषदर्शन के द्वारा विरक्त नहीं होता, वह निरन्तर संसार में आवागमन रूप जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

जो मनुष्य मूढ़तावश सांसारिक अनित्य पदार्थों में आसक्ति से युक्त होता है, उसके जन्म-मरण रूप संसार का कभी भी उच्छेद नहीं होता।

जब तक मोह में डालने वाली विषयों में रति बनी रहती है तब तक संसार दशारूपी दोला चंचल आन्दोलन वाली रहती है ॥८१–८३॥

> जन्ममृत्युजरादुःखमनुयान्ति पुनः पुनः।
> विमृशन्ति न संसारं पशवः परिमोहिताः ॥८४॥
>
> यतन्ते सारसम्प्राप्तो ये यशोनिधयो धियः।
> धन्या धुरि सतां गण्यास्त एव पुरुषोत्तमाः ॥८५॥

जो लोग सर्वथा मोहाच्छन्न होने के कारण संसार का विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं एवं वे पुनः-पुनः जन्म, मरण, जरा आदि दुःखों को प्राप्त होते रहते हैं।

जो यशस्वी लोग सर्वदा तत्त्व के विचार में तत्पर होकर सार पदार्थ की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जनशिरोमणि हैं और वे ही उत्तम पुरुष हैं ॥८४-८५॥

तुङ्गं वेश्म सुतास्सतामभिमताः संख्यातिगाः सम्पदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ।
मत्वा विश्वमनश्वरं निविशते संसारकारागृहे
संदृश्य क्षणभङ्गुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ॥८६॥

ऊँची हवेली, विद्या-विनय आदि द्वारा सज्जनों को मान्य पुत्र, असंख्य धनराशि, अनुकूल सुन्दरी प्रियतमा, नवीनवय तथा संसार [गृहपुत्रादि] चिरस्थायी हैं—ऐसा मानकर अज्ञान के कारण मूर्ख लोग संसार-प्रपंचरूप बन्धनालय में प्रवेश करते हैं। भाग्यवान् विरला ही पुरुष उन सब को क्षण में नष्ट होने वाले सोचकर उस संसार से विरक्त हो उनका त्याग कर देता है ॥८६॥

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं
सन्तोषो धनलिप्सया: शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥८७॥

जन्म मृत्यु के द्वारा ग्रसा हुआ है अर्थात् जन्म के बाद मृत्यु अवश्यम्भाविनी है, अत्यन्त सुन्दर यौवन जरा (वार्धक्य) से, सन्तोष धन की इच्छा से, शान्ति का सुख प्रगल्भ विलासिनियों के कटाक्षपात आदि हाव-भावों से ग्रसा हुआ है। परोत्कर्ष को न सहने वाले लोगों से राजा (श्रीमान्) लोग, अस्थिर स्वभाव के कारण सम्पत्तियाँ आक्रान्त हैं। किसने किसको नहीं ग्रस लिया ? सभी पदार्थ दूसरों के द्वारा दबाए गए हैं अर्थात् अस्थिर हैं। ऐसी स्थिति में स्थिर पदार्थ वैराग्य का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए ॥८७॥

रम्यं हर्म्यं तलं न किं वसतये श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमा समागमसुखं नैवाधिक प्रीतये ।
किंतु भ्रान्तपतङ्गपक्षपवन व्यालोलदीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ८८।

महो रम्याशय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति वनितासङ्गमुदितो
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥८९॥

सन्तजनों के निवास के लिए क्या महल नहीं था ? सुनने के योग्य क्या उत्तम-उत्तम गाना नहीं था ? और क्या अधिक प्रीति करनेवाला प्राणप्यारी स्त्री का समागम-सुख नहीं था ? अर्थात् यह सब कुछ था तो भी सन्तलोग सकल विषयों को घूमनेवाले फतिंगे के पंखों से निकलनेवाली हवा से अति चंचल दीपक के अग्रभाग की छाया के समान चञ्चल अर्थात् नश्वर सोच-विचारकर वन में श्रेय साधन के लिए चले गए ।

भूमि ही जिसकी सुन्दर शय्या है, भुजा ही सिरहानी (तकिया), आकाश ही चंदोवा, अनुकूल वायु ही पंखा और चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक है । इन सामग्रियों से विरक्ततारूपी स्त्री के संग आनन्द से शान्त पुरुष सुखपूर्वक बड़े ऐश्वर्यमान् राजा के समान निःशंक सोता है ॥८८–८९॥

जाता चेदरतिर्जन्तोर्भोगान् प्रतिमनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥९०॥

तावद्भ्रमन्तिदुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नाऽऽयान्ति देहिनः ॥९१॥

भोगेन तृप्तिर्नैवास्ति विषयाणां विचारतः ।
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनसा कर्मणा गिरा ॥९२॥

यदि पुरुष की भोगों के प्रति तनिक भी अरुचि हो गई, तो वह उतने से ही ऊँचे पद को प्राप्त हो गया—ऐसा श्रुति कहती है ।

संसाररूपी गर्त में निवास करनेवाले जीव तब तक विविध दुःखों में भटकते हैं, जबतक विषयों में वैराग्य को प्राप्त नहीं होते ।

विचार करने से यह निश्चय होता है कि विषयों में भोग से कभी तृप्ति नहीं होती । इसलिए विवेक का आश्रय लेकर मन, वाणी और शरीर से विषयों का त्याग करके विरक्त हो जाना चाहिए ॥९०–९२॥

ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात् ।
नैःस्पृह्यं तुच्छबुद्ध्या यत्तद्वैराग्यमितीर्यते ॥६३॥

नित्यानित्यपदार्थविवेकात्पुरुषस्य जायते सद्यः ।
स्रक्चन्दनवनितादौ सर्वत्रानित्यवस्तुनि विरक्तिः ॥६४॥

आत्मनोऽन्यस्य सर्वस्य यदनित्यत्ववेदनम् ।
तद्धि संसारवैराग्यजनकं नापरं द्विजाः ॥६५॥

विरक्तस्य हि संसारात्किमन्यत्काङ्क्षितं भवेत् ।
वैराग्ये सति संसारात्सर्वदुःखं न विद्यते ॥६६॥

इस लोक और परलोक के पदार्थों में अनित्यत्व के निश्चय होने से उन्हें तुच्छ जानकर, जो निराकांक्षता है, उसे ही वैराग्य कहते हैं ।

नित्य और अनित्य पदार्थों के विवेक से पुरुष को माला, चन्दन, स्त्री आदि समस्त अनित्य पदार्थों में शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ।

आत्मा से अतिरिक्त जो कुछ भी दृश्य-प्रपंच है, उन सबमें जो अनित्यत्व का ज्ञान है, वही संसार से वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है, अन्य नहीं । संसार से विरक्त हुए पुरुष के लिए भला, कौन-सी अभिलषित वस्तु रह जाती है ? संसार से वैराग्य हो जाने पर मनुष्य के समस्त दुःखों का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है ॥६३–६६॥

रागेणैव हि संसारमहादुःखं तु देहिनाम् ।
विरक्तस्य न रागोऽस्ति ततो वैराग्यतः सुखम् ॥६७॥

तस्माद्वैराग्यलाभाय चराचरमिदं जगत् ।
अनित्यमिति जानीयादनात्मानमशेषतः ॥६८॥

श्रुत्या निरुक्तं सुखतारतम्यं
ब्रह्मान्तमारभ्य महीमहेशम् ।
औपाधिकं तत्तु न वास्तवं चे-
दालोच्य को वा विरक्ति न याति ॥६९॥

राग के कारण ही समस्त प्राणियों को सांसारिक आध्यात्मिकादि महान् दुःखों की प्राप्ति होती है । विरक्त पुरुष के लिए राग का अभाव है । अतः वैराग्य से ही शाश्वत सुखोपलब्धि होती है । इसलिए आत्यन्तिक सुखा-

भिलाषियों को चाहिए कि वैराग्योपलब्धि के लिए सम्पूर्ण अनात्मस्वरूप चराचर दृश्यप्रपंचात्मक जगत् को अनित्य-क्षणभंगुर समझें।

सार्वभौम राजसुख से लेकर ब्रह्मलोक-सुखपर्यन्त श्रुति ने सुखतारतम्य (सुख की क्रमशः अधिकता) का निरूपण किया है। यदि विचार करने से वे सब सुख औपाधिक हैं वास्तविक नहीं--ऐसा निश्चय हो जाए, तो इन सब सुखों से किसको वैराग्य नहीं होगा ? ॥९७-९९॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥१००॥

न भोगेष्वरतिर्यावज्जायते भवनाशिनी।
न परा निर्वृतिस्तावत् प्राप्यते जयदायिनी ॥१०१॥

आत्मावलोकनेनैषा विषयारतिरुत्तमा।
हृदये स्थितिमायाति श्रीरिवाऽम्भोजकोटरे ॥१०२॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त विषयों में जो काकविष्ठा के समान वैराग्य होता है, वही निर्मल वैराग्य है।

जबतक संसार का विनाश करनेवाली भोगों में विरक्ति नहीं उत्पन्न होती, तब तक विजय प्रदान करनेवाली परम विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे लक्ष्मी कमल के अन्दर निवास करती हैं, वैसे ही यह विषयों में उत्तम अरति (वैराग्य) आत्मसाक्षात्कार से हृदय में निवास करती है ॥१००-१०२॥

यज्ञदानतपस्तीर्थसेवाभिर्जायते सुखम्।
न तपोभिर्नदानेन न तीर्थैरपि जायते।
भोगेषुविरतिर्जन्तोः स्वभावालोकनादृते ॥१०३॥

पूर्वं दैवमनादृत्य पौरुषेण प्रयत्नतः।
दन्तैर्दन्तान् प्रसंपीड्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥१०४॥

यज्ञ, दान, तप और तीर्थसेवन से अदृष्ट द्वारा विषय-सुख ही प्राप्त होता है, किन्तु स्वात्मा के अवलोकन के बिना तप से, दान से और तीर्थों से भी प्राणी की विषयों में विरति नहीं होती। इसलिए प्रथम दैव का अनादर कर अपने पौरुष-प्रयत्न से दाँतों से दाँतों को पीसकर भी भोगों में विरति (वैराग्य) प्राप्त करे ॥१०३-१०४॥

आशापाशशतेनपाशितपदो नोत्थातुमेव क्षमः
कामक्रोधमदादिभिः प्रतिभटैः संरक्ष्यमाणोऽनिशम् ।
संमोहावरणेन गोपनवतः संसारकारागृहा-
न्निर्गन्तु त्रिविधैषणा परवशः कः शक्नुयात्प्राणिषु ॥१०५॥

येषामाशा निराशा स्याद्दारापत्यधनादिषु ।
तेषां सिध्यति नान्येषां मोक्षाशाभिमुखी गतिः ॥१०६॥

जिसके पैर सैकड़ों आशाओं के पाशों से बँधे हुए हैं, उठने में भी स्वयं समर्थ नहीं हैं तथा काम, क्रोध, मदादि सैनिकों से हर समय संरक्षित रहता है और तीन प्रकार की एषणाओं के पाश में पड़ा हुआ कौन ऐसा पुरुष है, जो इस संसार रूप कारागृह से, जो अज्ञानरूप दीवार आदि से सुरक्षित दृढ़तर बनाया गया है, निकल सके ?

जिन पुरुषों की दारा, सन्तान आदि विषयक आशा नष्ट हो गई है, उन्हीं को मोक्ष की ओर ले जाने वाली उत्तम गति मिली है, औरों को नहीं ॥१०५–१०६॥

संसारमृत्योर्बलिनः प्रवेष्टुं
द्वाराणि तु त्रीणि महान्ति लोके ।
कान्ता च जिह्वा कनकं च तानि
रुणद्धि यस्तस्य भयं न मृत्योः ॥१०७॥

मुक्तिश्रीनगरस्य दुर्जयतरं द्वारं यदस्त्यादिमं
तस्य द्वे अररे धनं च युवती ताभ्यां पिनद्धं दृढम् ।
कामाख्यार्गल दारुणा बलवता द्वारं तदेतत्त्रयं
धीरो यस्तु भिनत्ति सोऽर्हति सुखं भोक्तुं विमुक्तिश्रियः ।१०८।

इस लोक में बलवान् मृत्यु के घुसने के नारी, जिह्वा और स्वर्ण—ये तीन बड़े-बड़े द्वार हैं । इन तीनों द्वारों को जो बन्द रखता है, उसे मृत्यु से कोई भय नहीं ।

मुक्तिरूप श्रीनगर का, जो अत्यन्त दुर्ज्ञेय प्रथम द्वार है, उसकी धन और युवती—ये दो अर्गल हैं । इन दोनों अर्गलों से वह दृढ़तापूर्वक बन्द है और तीसरा अर्गल अत्यन्त बलवान् कामरूप काष्ठ से बना हुआ है । जो धीर पुरुष इन तीनों अर्गलों को तोड़ सकता है, वही मुक्तिरूप श्रीनगर के सुख को भोग सकता है ॥१०७–१०८॥

आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्यखड्गिनः।
तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ॥१०९॥

कामक्रोधश्चलोभश्च मदोमोहश्चमत्सरः।
न जिताः षड्मि येन तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥११०॥

नृजन्मजन्तोरतिदुर्लभं विदु-
स्ततोऽपि पुंस्त्वं च ततो विवेकः।
लब्ध्वा तदेतत्त्रितयं महात्मा
यतेत मुक्त्यै सहसा विरक्तः ॥१११॥

खादते मोदते नित्यं शुनकः सूकरः खरः।
तेषामेषां विशेषः को वृत्तिर्येषां तु तैः समा ॥११२॥

जो विवेक के घोड़े पर सवार है, तीव्र वैराग्य का खड्ग जिसके हाथ में है तथा तितिक्षा का वर्म—कवच पहने हुए है, उस पुरुष का सामना करनेवाला संसार में कोई दिखाई नहीं देता।

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर—जिसने इन छहों को प्रबल वैराग्य के द्वारा नहीं जीता, उस पुरुष को कहीं कभी शान्ति नहीं मिलती।

प्राणी को मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है, उसे पाकर भी पुरुष होना कठिन है। पुरुष होकर भी विवेकवान् होना और भी दुर्लभ है। महात्मा पुरुष इन तीनों को पाकर विरक्त होकर शीघ्र ही इस संसार-बन्धन से मुक्त हो जाने के लिए पूर्णतया प्रयत्न करे।

कुत्ते, सूअर और गधे भी खाते हैं तथा नित्य आनन्द करते हैं। इनका और उन पुरुषों का भेद ही क्या है जिनकी प्रवृत्ति कुत्ते आदि के सदृश है ॥१०९–११२॥

न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परोरिपुः ॥११३॥
निर्वेद आशपाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः।

आत्मेव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ॥११४॥
वैराग्यवीरमनसो मायेयमतिमोहिनी।

पलाय्य याति संसारी मृगी केसरिणो यथा ॥११५॥

यथा विविक्तमेकान्ते मनो भवति निर्वृतम्।
न तथा शशिबिम्बेषु न च ब्रह्मेन्द्रसद्मसु ॥११६॥

वैराग्य से बढ़कर इस संसार में उद्धार करने वाला बन्धु कोई नहीं है और संसार से बढ़कर दूसरा मारने वालाकोई भयंकर शत्रु नहीं है। मनुष्य आशा की फाँसी पर लटक रहा है, इसको तलवार की भाँति काटने वाली यदि कोई वस्तु है, तो वह केवल वैराग्य है। जिस समय जीव समस्त जागतिक विषयों से विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है।

जैसे वीर केसरी के पास से मृगी पलायन कर भाग जाती है, वैसे ही समस्त विकल्पों के परित्यागरूपी महावैराग्य से वीरता को प्राप्त हुए अन्तः-करण से युक्त पुरुष के पास से यह अत्यन्त मोहकरी संसरणशील माया पलायन कर भाग जाती है।

विरक्त हुआ मन जैसा एकान्त में सुखानुभव करता है वैसा न तो शशिबिम्बों में और न ब्रह्मा एवं इन्द्र के आश्रय स्थानों में सुखानुभव करता है ॥११३–११६॥

यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्युक्तुमिच्छति।
तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥११७॥

यदा विवेकी पुरुषो भोगान् संत्यज्य तिष्ठति।
तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥११८॥

लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारैषणेन च।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन् विश्रम्यते पदे ॥११९॥

जब विरक्त पुरुष भोगों की आशा छोड़ देना चाहता है तब अज्ञान, काटे जा रहे वृक्ष के ऊपर रहनेवाले पिशाच की भाँति खूब काँपने लगता है। जब विवेकी पुरुष भोगों का बिल्कुल त्याग कर बैठ जाता है, तब अज्ञान, वृक्ष कट जाने पर पिशाच की नाईं भाग जाता है।

लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा से शून्य जो पुरुष है, वही उस ब्रह्म पद में विश्रान्ति को प्राप्त होता है ॥११७–११९।

आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते।
स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥१२०॥

परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम्।
आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृ ब्रह्मणे नमः ॥१२१॥

नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
न शक्नुवन्ति निहंतुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ।।१२२।।

दृश्य पदार्थों में जिस पुरुष की आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है, वही तत्त्वज्ञानी है; क्योंकि दृश्यप्रपंचों के त्याग में अज्ञानी पुरुष कदापि समर्थ नहीं हो सकता ।

विषयों से जो आत्यन्तिक विरक्ति है अर्थात् बाह्य पदार्थों की तृष्णा का जो आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है । जिसको सांसारिक पदार्थों में अत्यन्त वैराग्य हो गया है उस ब्रह्मरूपी मनुष्य को नमस्कार है ।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि विषयों से वैराग्य के अत्यन्त दृढ़ हो जाने पर मनुष्य के आत्मध्यान को इन्द्र के सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ।।१२०–१२२।।

परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ।।१२३।

सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदागतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ।।१२४।।

दृढविषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ।।१२५।।

विषयों में उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्य को ही वज्र के समान दृढ़ ध्यानरूप बना लेना चाहिए; क्योंकि आत्मज्ञान से भेद के नष्ट हो जाने पर तृण के तुल्य दूसरे पदार्थों के ध्यान से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? सम्पूर्ण अर्थों की शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यान-दशा में ज्ञानबल से बलात्—जबरदस्ती जो विषयों के भीतर वैराग्य आ जाता है, वही समाधि है, दूसरी नहीं ।

विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है, वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जाने पर वही वज्र के तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ।
।।१२३–१२५।।

अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ।
नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ।।१२६।।

वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥१२७॥

यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्ये नोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसंदर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥१२८॥

यदि पुरुष में भोगों के प्रति विराग विद्यमान है तो ध्यानरूप दुःख-साध्यबुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्यबुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

पूर्ण वैराग्य से सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोध को प्राप्त पुरुष की वज्रतुल्य दृढ़ समाधि के अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती।

बाह्य पदार्थों से वैराग्य होने पर जैसा मन पूर्णरूप से शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रों के विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियों के निग्रह से भी नहीं होता ॥१२६–१२८॥

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यन्तर्बहिः सङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षुया ॥१२९॥

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥१३०॥

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः
समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति-
र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥१३१॥

विरक्त पुरुष का ही आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के संग का त्याग करना उपयुक्त है। वही मोक्ष की अभिलाषा से आन्तरिक और बाह्य संग का त्याग करता है।

इन्द्रियों का विषयों के साथ बाह्य संग और अहंकार आदि के साथ आन्तरिक संग—इन दोनों का ब्रह्मनिष्ठा सम्पन्न विरक्त पुरुष ही त्याग कर सकता है।

अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि-लाभ होता है। समाधिस्थ पुरुष

को ही दृढ़ बोध होता है। सुदृढ़ बोधवान् की संसार-बन्धन से मुक्ति होता है तथा बन्धन-मुक्त महापुरुष को ही नित्यानन्द की अनुभूति होती १२६–१३१॥

वैराग्यान्न परं सुखस्यजनकं पश्यामि वश्यात्मन–
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितंस्वाराज्य साम्राज्यधुक्।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ॥१३२॥

जितेन्द्रिय पुरुष के लिए वैराग्य से बढ़कर सुखदायक मुझे और कुछ भी दिखाई नहीं देता और वह यदि कहीं शुद्ध आत्मज्ञान के सहित हो, तब तो स्वर्गीय साम्राज्य के सुख का देनेवाला होता है। यह मुक्तिरूप कामिनी का निरन्तर खुला हुआ द्वार है इसलिए अपने आत्यन्तिक कल्याण के लिए सब ओर स्पृहाशून्य होकर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही बुद्धि को स्थिर करो। १३२॥

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी
श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बनं
स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥१३३॥

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥१३४॥

सत्-असत् वस्तु का विवेकी, श्रुतिप्रमाण का जाननेवाला, परमार्थतत्त्व का ज्ञाता ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो मुक्ति की इच्छा रखकर भी जान-बूझकर बालक के समान अपने पतन के हेतुभूत असत् पदार्थों को ग्रहण करेगा !

श्रुति भी यही कहती है कि मनुष्य जब तक इस मृतक तुल्य देह में आसक्त रहता है तब तक वह अत्यन्त अपवित्र रहता है और जन्म-मरण तथा व्याधियों का आश्रय बना रहकर उसको दूसरों से अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है, किन्तु जब वह अपने कल्याणस्वरूप अचल और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तो उन समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

॥१३३–१३४॥

वैराग्यं पुष्कलं न स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ।
तस्माद्रक्षेद्विरतिं बुधो यत्नेन सर्वदा ॥१३५॥

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्या नानुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ।१३६॥

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युञ्जतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥१३७॥

यदि नामरूपात्मक दृश्यप्रपंच में पुष्कल वैराग्य नहीं है तो ब्रह्मानुभव संभव नहीं। इसलिए कल्याणकामी बुद्धिमान् पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक वैराग्य की रक्षा करनी चाहिए।

देखे हुए तथा सुने गए—सभी भोग असत्-मिथ्या हैं, ऐसा समझकर न तो उनका कभी चिन्तन करे और न भोग ही। समझना चाहिए कि उनके चिन्तन से ही जन्म-मृत्युरूप संसार की प्राप्ति होती है और उनके भोग से तो आत्मनाश ही हो जाता है। वास्तव में इस रहस्य को जानकर इनसे सर्वथा असंग रहनेवाला ही आत्मज्ञानी है। सम्पूर्ण संसार में आसक्ति का अभाव हो जाना—बस, यही योगियों के सब प्रकार के योग-साधन का अभीष्ट फल है ॥१३५–१३७॥

दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥१३८॥

यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तथोदितम् ॥१३९॥

यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥१४०॥

जो पुरुष विषयों के स्वाद से मुक्त है एवं विवेक-ज्ञान से सम्पन्न है, उस महामुनि की निर्विकल्प समाधि निरन्तर लगी रहती है। जिसको विषय नहीं रुचता, उसी को तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं। जब पुरुष को भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यग्ज्ञान उदित होता है। जिस महामुनि की अपने आत्मस्वभाव से स्थिति हो चुकी, उसे भोग कैसा? क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह उस विरुद्धस्वभाव के क्षीण हो जाने पर कैसे रह सकता है? ॥१३८–१४०॥

नवनीतस्थलो वाञ्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा।
जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥१४१॥

शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः।
इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥१४२॥

न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु।
विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥१४३॥

ऐसे महापुरुष की पहली संगति ही पुरुष को सुख पहुँचाती है। उसकी सङ्गति मक्खन के आश्रय दही के सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेह से भरपूर, कोमल, मनोहर एवं स्वादु रहती है।

विवेकी पुरुषों के चन्द्रमा की किरणों के सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं। इसलिए प्रत्येक पुरुष के भीतर अत्यन्त ठण्डक पहुँचाते हैं। जैसे साधु पुरुष के समागम से निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पों के ढेरों से भरे उद्यानखण्डों में भी नहीं मिलती।

॥१४१–१४३॥

मन्दाकिनीपयांसीव सङ्गतानि विवेकिनाम्।
प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥१४४॥

विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थिषु।
जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥१४५॥

सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी।
विवेकिनिविलासेन कदलीव महावने ॥१४६॥

जैसे भगवती भागीरथी के निर्मल जल पाप धो डालते और विशुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियों के समागम भी पुरुषों के पाप धो डालते और विशुद्धता प्रदान करते हैं।

संसार पार पाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषों का समागम होने पर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारों से निर्मित घरों में वास करने पर होता है। विवेक से पूर्ण हृदय में शास्त्रार्थरस से पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लगती है, जैसे महावन में मूलप्ररोहादि के विस्तार से कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४४–१४६॥

कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥१४७॥

भोगाभिगमदौर्भाग्यं तेनानुदिनमुज्झता ।
तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥१४८॥

अभोगकृपणा कापि नवैवास्थ प्रवर्तते ।
मुखेकान्तिरपूर्वव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥१४९॥

विवेकी पुरुष चमकीले स्वर्ण के सदृश चमक रहे तथा निर्मल आलोक करनेवाले अपने आत्मप्रकाश से सूर्य की नाईं समस्त भुवन को प्रकाशित कर देता है ।

व्यसनी बनकर विषयों के प्रति दौड़ना बड़ा मारी दौर्भाग्य है, इस दौर्भाग्य का दिन पर दिन त्याग कर रहे उस विवेकशील पुरुष के द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमा के द्वारा तारों का समूह चमकने लग जाता है ।

इस विवेकी के मुख में भोगलम्पटलता से निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहु से छुटकारा पा जाने पर चन्द्रमा में कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥१४७–१४९॥

तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
स याति कल्पविटपी नभसीवदिवौकसाम् ॥१५०॥

भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥१५१॥

स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
खेदस्मेरमुखोजातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥१५२॥

जिन लोगों ने तीनों जगत् को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसा पद को प्राप्त होता है जैसे स्वर्ग में देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ।

विवेकी को जो कुछ भोग-साधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सतुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है; क्योंकि उसके मन में इस बात की लज्जा रहती है कि मैंने सभी से जब द्वेष छोड़ दिया, तब

भोगों के प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ और यदि भोगसाधन-विषय [उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त संतुष्ट रहता है क्योंकि इस अवस्था में उसे द्वेष करने का अवसर ही नहीं मिलता।

यदि अधम चाण्डाल आदि को दैववशात् अपनी पूर्वजन्म की उच्च-जाति का स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्म की जाति को जैसे मन में धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहले की राग आदि से प्रौढ़ तथा भोग की उत्कण्ठा से तरल हुई अपनी क्रियाओं का स्मरण कर खेद से कुछ हँसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥१५०–१५२॥

अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः।
भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥१५३।

नित्यानादृतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया।
प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहु मन्यते ॥१५४॥

पूर्व संसृति वैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः।
जायते जीर्णं जाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥१५५॥

इस तरह के पुरुष को एक तरह से पृथ्वी में उदय को प्राप्त चन्द्रमा ही समझना चाहिए। इसे देखने के लिए केवल परम प्रेम से ही विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं।

सदा ही भोगों के प्रति यह आदर नहीं रखता। इसीलिए उन सिद्ध महात्माओं द्वारा अत्यन्त प्रसन्नता से दिए गए अनिषिद्धि सिद्धि आद्धि विषयों को भी श्रेष्ठ नहीं समझता—उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता। उन भोगों के प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्र के समागम से भोगों के प्रति पहले से ही उसके मन में नीरसता पैदा हो जाती है, जैसे शरद् ऋतु का पौधा पाक से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥१५३–१५५॥

ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम्।
करोति स्वस्थता गुप्नुर्भिषगाश्रयणं यथा ॥१५६॥

तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति।
महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥१५७॥

सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
नियोजयति सम्पत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥१५८॥

तदनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्य की शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याण के लिए स्वयं ही वह सज्जनों की शरण लेता है। सज्जनों के समागम से उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है। उदार बुद्धि होकर वह उपनिषद् के महावाक्यार्थों के विचार में ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवर में महान् हाथी डूब जाता है। क्योंकि सज्जन का यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणी को बड़ी-बड़ी आपत्तियों से उबार कर सम्पत्तियों में ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकार से उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियों में सम्बन्ध करा देता है ॥
॥१५६–१५८॥

नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥१५९॥

एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
निम्नेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥१६०॥

रजोरहितसर्वांशं सत्त्वाप्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥१६१॥

भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥१६२॥

विवेक के पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्त की विलयदशा को प्राप्त हुए पुरुषों का अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ों के लिए बड़ा भारी गड्ढा भी गोष्पद की नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लंघन योग्य हो जाता है। इस तरह अभ्यास के बल से शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जल में निम्न (नीचे के) भाग के सदृश परम पद में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है। ऐसे पुरुषरूपी भास्कर को (सूर्य को) प्रणाम करना चाहिए, जिसका कि समस्त अंश रजोगुण से शून्य है। सत्त्वगुण के प्रभाव से जो अज्ञानसागर से पार पा चुका है और जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव है। द्वैतभेद के पूर्णतया विलय हो जाने एवं चित्त के अदृश्यता को प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी महा-

पुरुष की जो स्थिति होती है उसका वाणी से कथन हो ही नहीं सकता ॥
॥१५६–१६२॥

वेत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम् ।
तं त्यजन्त्यापदस्सर्वा सर्पा इव जरत्त्वचम् ॥१६३॥

परिस्फुरति यस्याऽन्तर्नित्यं सत्यचमत्कृतिः ।
ब्राह्ममण्डमिवाऽखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम् ॥१६४॥

जो उदार पुरुष त्रैलोक्य को भी नित्य तृण समझता है, उसे सब आपत्तियाँ इस प्रकार छोड़ देती हैं जिस प्रकार कि साँप पुरानी केंचुल को छोड़ देते हैं। जिस विरक्त पुरुष के अन्दर सदा ही सत्यस्वरूप ब्रह्म का चमत्कार स्फुरित होता है, उसका लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्ड के समान पालन करते हैं ॥१६३–१६४॥

यस्तु वैराग्यवानेव ज्ञानहीनो म्रियते चेत् ।
ब्रह्मलोके वसेन्नित्यं यावत्कल्पं ततः परम् ॥१६५॥

शुचीनां श्रीमतां गेहे भवेत्तस्य जनिः पुनः ।
करोति साधनं पश्चात्ततो ज्ञानं हि जायते ॥१६६॥

ज्ञानं लब्ध्वा कृतार्थः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ।
ज्ञानादज्ञाननाशेन लब्धमेव हि लभ्यते ॥१६७॥

यदि ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व ही वैराग्यवान् पुरुष की मृत्यु हो जाए, तो वह कल्पपर्यन्त नित्य ब्रह्मलोक में निवास करता है तदनन्तर पुनः पवित्र श्रीमानों के गृह में उसका जन्म होता है। वहाँ पर वह पुनः अपना योग-साधन करता है तत्पश्चात् उसे ब्रह्मापरोक्षज्ञान हो जाता है। वेदान्त का ऐसा ढिंढोरा है कि ब्रह्मापरोक्षानुभवसम्पन्न ज्ञानी महापुरुष जीवितावस्था में ही कृतार्थ यानी जीवन्मुक्त हो जाता है। अज्ञान के शमन के अनन्तर जब उसे स्वरूपभूत परमार्थतत्त्व का स्वात्मरूपेण अपरोक्षानुभव हो जाता है, तब वह समझता है कि उसे प्राप्त वस्तु की ही प्राप्ति हुई है। क्योंकि अज्ञानावस्था में आत्मस्वरूप के अज्ञान से आवृत होने के कारण वह नित्य प्राप्त आत्मा ही अप्राप्त-सा था, पुनः ज्ञान के द्वारा अज्ञानावरण के सर्वथा दूर हो जाने पर उस नित्यप्राप्त आत्मा को ही प्राप्ति-सी होती है ॥१६५–१६७॥

अखिल ब्रह्माण्ड के आधार भगवान् शेष ने भी अपने 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ में योगभ्रष्ट पुरुषों के सम्बन्ध में बतलाया है कि :—

परमार्थमार्गसाधनमारभ्याप्राप्य योगमपि नाम ।
सुरलोकभोगभोगी मुदितमना मोदते सुचिरम् ॥१६८॥

विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा ।
भुवनेषु सर्वदेवैर्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः ॥१६९॥

महताकालेन महान् मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य ।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यत्तत्परमं पदं विष्णोः ॥१७०॥

परमार्थस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए विवेक-वैराग्यादि साधन-सम्पन्न साधक भी यदि ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार किए बिना ही देहपात को प्राप्त हो जाय तो वह अपने पुण्यमय साधनों के फलस्वरूप देवलोकों के भोगों को प्राप्त कर उसका उपभोग करता हुआ मुदितमना होकर सुचिरकालतक मोदमान रहता है। जैसे सार्वभौम राजा अपने राज्य में सभी मनुष्यों द्वारा पूज्य होता है उसी प्रकार सभी भुवनों में समस्त देवताओं द्वारा योगभ्रष्ट महापुरुष भी सर्वथा पूज्य होता है। चिरकाल तक स्वर्गीय दैवी सुखों का उपभोग करने के अनन्तर वह दिव्य संस्कारों से सम्पन्न महापुरुष पुनः दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्तकर, क्रमशः योग का अभ्यास करके स्वप्रकाश दिव्य अमृतस्वरूप विष्णु के परमपद को प्राप्त हो जाता है ॥१६८–१७०॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अर्जुन द्वारा योगभ्रष्ट के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् श्री कृष्ण ने बताया है किः—

पार्थ नैवेह नाऽमुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥१७१॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥१७२॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥१७३॥

हे पार्थ ! इस लोक या परलोक में उस योगभ्रष्ट महापुरुष का कभी विनाश हो ही नहीं सकता, क्योंकि, हे तात ! शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाला साधक दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। योगभ्रष्ट पुरुष अपने पुण्यकर्मों

से सम्पादित स्वर्गादि पुण्यमय लोकों को प्राप्त कर, वहाँ सैकड़ों वर्ष रहकर पुनः शुद्ध श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है। अथवा ज्ञानी योगियों के कुल में ही उसका जन्म होता है। लोक में इस प्रकार उसका शुद्ध वंश में जन्म होना अत्यन्त ही दुर्लभ है ॥१७०–१७३॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥१७४॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माऽतिवर्तते ॥१७५॥
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥१७६॥

ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेकर वह योगी पूर्वजन्म में अनुष्ठित श्रवणादिजन्य उस बुद्धि को (पिता आदि के उपदेश से) प्राप्त करता है तदनन्तर पुनः इस जन्म में संसिद्धि के लिए प्रयत्न भी करता है। संस्काररूप से अवस्थित उसी पूर्व जन्म के अभ्यास से वह योगी हठात् योगनिष्ठा में ही प्रवृत्त होता है। वह परब्रह्म का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म का यानी वेदोपदेश और उससे प्रतिपादित कर्मों का अतिक्रमण कर श्रवण आदि में ही प्रवृत्त होता है। निरन्तर नियम से संसिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहा और अज्ञान तथा उसके कार्यरूप पाप से रहित यत्नशील साधक अनेक जन्म में ज्ञानवान् होकर स्वरूपभूता परमावस्था को प्राप्त होता है ॥१७४–१७६॥

तूष्णीमवस्था परमोपशान्ति–
बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः।
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो
यत्राद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ॥१७७॥
विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥१७७॥

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥१७९॥
निरस्तरागा निरपास्तभोगा
शान्ता सुदान्ता यतयो महान्तः।

विज्ञायतत्त्वं परमेतदन्ते
प्राप्ताः परां निर्वृत्तिमात्मयोगात् ।१८०।

उस ब्रह्मवेत्ता महापुरुष के मिथ्या विकल्पों की हेतुभूता बुद्धि की जो ब्रह्मभाव से मौनावस्था है, वही परम उपशम है जिसमें कि निरन्तर अद्वयानन्दरस का अनुभव होता है। ब्रह्मतत्त्व को स्वात्मरूपेण अनुभव कर लेने पर विद्वान् को पूर्ववत् संसार की आस्था नहीं रहती। यदि पुनः सांसारिक आस्था बनी रही, तो इससे समझना चाहिए कि, वह बहिर्मुख संसारी ही है, अभी उसे ब्रह्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव नहीं हुआ है। जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष की भी कामवृत्ति माता को देखकर कुण्ठित हो जाती है उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म को स्वात्मरूपेण अनुभव कर लेने पर विद्वान् पुरुष की संसार में कभी प्रवृत्ति नहीं होती ॥१७७–१८०॥

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम्।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥१८१॥

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते
न सज्जते नापि विरज्यते च।
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं
निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥१८२॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्त एष
नैवोपयुङ्क्त उपदर्शनलक्षणस्थः।
नैव क्रियाफलमपीषदवेक्षते स
स्वानन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्तः ॥१८३॥

लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥१८४॥

जिसने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है उस स्वानन्दरस का पान करनेवाले पुरुष के लिए वासनारहित मौन से बढ़कर उत्तम सुखदायक अन्य कुछ भी नहीं है। विषयों के प्राप्त होने पर वह न दुःखी होता है, न आनन्दित होता है, न उनमें आसक्त होता है और न उनसे विरक्त होता है। वह तो निरन्तर आत्मानन्दरस से तृप्त होकर स्वयं अपने आप में ही क्रीडा करता और आनन्दित होता है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष अत्यन्त सघन आत्मानन्दरस के

पान से मतवाला होकर साक्षीरूप से स्थित हुआ, इन्द्रियों को न तो विषयों में लगाता है और न उन्हें विषयों से हटाता है। वह अपने कर्मों के फल की ओर तो देखता भी नहीं। जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों दृष्टियों का त्याग कर केवल अपने आत्मस्वरूप से स्थित रहता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महापुरुष साक्षात् शिवस्वरूप ही है ॥१८१–१८४॥

विद्यया तारिता स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम् ।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसंकुलम् ॥

यस्यापि पादाम्भसि मज्जमानाः
पूता दिवं यान्ति विकल्मषास्ते ।
मोक्षं लभन्ते मुनयः सुतुष्टा-
स्तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥

॥ समाप्तोऽयंग्रन्थः ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१३	सर्वदा ो	सर्वदा
,,	१४	क	को
,,	२१	विह्वल	विह्वल
,,	३१	नित्य निरन्तर	नित्य-निरन्तर
१४	३	ंचगव्य	पंचगव्य
,,	४	निरतर	निरंतर
,,	१६	ह्यपायतः	ह्यु पायतः
१५	२१	छकर	छूकर
,,	२३	छकर	छूकर
१७	२१	शद्ध	शुद्ध
१८	१	आत्मतीथ	आत्मतीर्थ
३२	६	हए	हुए
,,	३०	हआ	हुआ
३७	६	दःख	दुःख
३८	१४	सर्पण	सर्पेण
४४	३	वीय	वीर्य
४५	२४	सवं	सर्वे
,,	२८	स्वगं	स्वर्गे
४६	२३	दःख	दुःख
५०	२०	स्याथं	स्यार्थे
,,	२६	दःख	दुःख
५८	२१	दःख	दुःख
५६	६	सवे	सर्वे
,,	१६	दःखपूर्ण	दुःखपूर्ण
६०	११	दःखातिशय	दुःखातिशय
,,	२६	दःखाया	दुःखाया

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१	३	दःख	दुःख
६५	२१	युवाबस्था	युवावस्था
६५	१२	ह्यप	ह्यु प
७५	३०	जलावते	जलावर्तें
७६	१८	सवेन्द्रिय	सर्वोन्द्रिय
,,	२४	हआ-सा	हुआ-सा
,,	२५	हए	हुए
७७	१	पूर्वापर	पूर्वापरं
८१	१४	द्दःखान्तर	द्दु ःखान्तरं
८३	१४	गभे	गर्भे
८४	१७	अय	अथ
,,	१८	अय	अथ
८६	२१	दशनात्	दर्शनात्
१००	१४	नोत्तमा	तोत्तमा
१०१	८	मत्र	मूत्र
,,	१०	अहंबद्धि	अहंबुद्धि
,,	२२	सवं	सर्वे
१०३	२	गभं	गर्भें
,,	२४	भख	भूख
१०४	१२	दःखपूर्ण	दुःखपूर्ण
,,	२३	वेदमागं	वेदमार्गे
,,	२६	दःख	दुःख
१०५	५	दःख	दुःख
,,	१७	दःख	दुःख
,,	१६	दःख	दुःख
,,	२०	दःख	दुःख
१०७	[शीर्षक]	भङ्गरता	भङ्ग ुरता
१०७	५	विन्द	विन्दु
१०८	६	पुनर्नह	पुनर्नेह
१२०	१६	क्रुरुते	कुरुते

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२०	कायवशेन	कार्यवशेन
१२२	५	क्रर	क्रूर
१२६	१०	द:ख	दु:ख
१३६	४	पास	पाश
१४३	४	सव ं	सर्वं
१४४	१०	जड़ीभत	जड़ीभूत
,,	२३	द:ख	दु:ख
१४८	६	नारदजी ने	नारदजी
१५०	१६	च्चेव	च्चैव
१६२	११	साहस	साहस:
१६४	२	धैयं	धैर्यं
१६६	२८	तद्वतिषु	तद्व्रतिषु
१७८	१६	घर्षयन्ति	धर्षयन्ति
१८१	२१	भुङ्क्ते	भुङ्क्ते
१८२	५	सव ं	सर्वं
१८७	६	वध	वधू
१९०	५	तत्रेव	तत्रैव
२०७	२४	द:ख	दु:ख
२२५	२३	हई	हुई
२२६	१४	णार्थ	प्राणार्थ
,,	२६	कामैर्वा	कामैर्वा
२३२	१२	वष्टाशा	कष्टाशा
२३४	३	सुरत्वभे	सुरत्वलाभे
२४२	१	भिथ्या	मिथ्या
२४२	१३	हो हैं	हो जाते हैं
२४५	१९	उद्धतु	उद्धतुं
,,	,,	प्रभास्करौ	भास्करौ
२४६	१७	ककश:	कर्कश:
,,	२०	घर्नाऽयं	धौर्नाऽयं
२४७	२१	गिरता	गिराता

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्धि
पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५३	२	मझे	मुझे
२५४	११	सव	सर्वो
,,	२६	तपत्यकं	तपत्यर्कं
२५५	२४	मैश्वय	मैश्वर्य
२५६	२	रावव	राघव
,,	१६	स्वाथं	स्वार्थं
२५७	५	कामयत	कामयते
२६०	१४	वैधुयं	वैधुर्यं
२६२	२	सवं	सर्वं
२६४	६	वरमें	वरमे
,,	२२	दःख	दुःख
,,	२७	सवं	सर्वं
२७०	८	छुटता	छूटता
२७३	१७	सवं	सर्वं
२७५	२६	कामा	कामार्थं
२८०	११	मागे	मार्गे
२८१	३	सवमेव	सर्वमेव
२८८	७	अनसार	अनुसार
२९१	२	स्वाथे	स्वार्थे
२९२	१	सव	सर्व
१९१	६	बले का	बले की
२९८	२	दःखों	दुःखों
३००	३	छुटे	छूटे
३००	१७	मताङ्गना	मत्ताङ्गना
३०१	१२	दःख	दुःख
३०२	१०	पनः	पुनः
३०४	७	भ्रुक	भ्रुक्
३०४	२३	निवतते	निवर्तते
३०६	१८	छुट	छूट

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२११	६	वाघियं	वाधिर्य
३१५	२८	ऐश्वयं	ऐश्वर्यं
३१६	२०	अनथे	अनर्थ
३१७	२३	द:ख	दु:ख
३३४	२४	निवेद	निर्वेद
,,	२५	निविद्ये त	निर्विद्ये त
३३८	२	होता	होती
३४१	६	पूवेव	पूर्वेव
३४२	१३	पूव	पूर्व
३४६	२४	यथापूवं	यथापूर्वं
,,	२५	वहिमु ख:	वहिर्मु ख:

भूमिका की शुद्धि

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
२	१	असद्रयो	असद्र्पो
,,	६	बै	नै
,,	१७	मलोद्भतं	मलोद्भूतं
५	१	जा	जो
६	१३	अध्यासो	अध्यासों
,,	२५	सुनिचित	सुनिश्चित
८	८	क्षणभङ्गर	क्षणभङ्गुर
११	२	हौने	होने
१२	२१	युबतीनां	युवतीनां
,,	२६	शाची	शची
१५	१४	पुरुषो	पुरुषों
१८	२	यतिस्त्वौष	यतिस्त्वेष